सहजानंद शास्त्रमाला

रत्नकरंड श्रावकाचार प्रवचन

भाग 1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य कृत

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

टीकाकार :
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक.....

प्रकाशक
सुनील कुमार जैन
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण
११००

सन् १९९६

मूल्य
६० रु

प्रस्तावना
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

भारतीय धर्मों में जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसके अहिंसा और अपरिग्रहवाद आदि सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन हैं। इसके प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव हैं। जिन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है। जैन सिद्धान्त ने ही लोक में समता-समानता अथवा विश्व प्रेम की अनुपम धारा को जन्म दिया है। अनेकान्त के व्यवहार द्वारा उनके पारस्परिक विरोधों का निरसन करता हुआ उनके जीवन में समन्वय और सहिष्णुता का आदर्श पाठ सिखाता है।

जैन धर्म में भावों की प्रधानता है, उस में परिणामों की अच्छाई, बुराई का जो स्वरूप एवं फल बतलाया गया है और जो जीवन की उन्नति अवनति का स्पष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से मानव अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकता है और पूर्ण विकास तक पहुँच सकता है।

जैन धर्म में जहाँ भावों की प्रधानता है वहाँ उनके आचार को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। उसके सिद्धान्त चार भागों में विभक्त हैं जिन्हें चार अनुयोग भी कहते हैं, चरणानुयोग में जीवों के आचार मार्ग का विधिवत कथन है। इसमें गृहस्थ और साधुओं के आचार-विचार का विवेचन है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी आचार मार्ग से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण इस का नाम "रत्नकरण्डश्रावकाचार" है। ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ उपलब्ध श्रावकाचारों में सब से प्राचीन है। ग्रन्थ में आप्त-आगम और गुरु के लक्षणों की परिभाषायें तथा रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन किया है साथ ही जैन तीर्थंकर केवली की धर्म देशना को सुन्दर उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है।

इस ग्रन्थ के कर्ता प्रतिभा सम्पन्न विद्वान, आचार्य, तर्कशिरोमणि और महान योगी थे आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी। आप में वाद करने की अद्‌भुत शक्ति थी। आप का व्यक्तित्व महान और प्रज्ञायें असाधारणता थी। आप क्षत्रिय राजपुत्र थे। आप का बाल्यकालीन नाम शान्ति वर्मा था। उन्होंने सांसारिक वैभव निःसार समझकर छोड़ दिया था। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी का समय विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी माना जाता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर जो पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज ने प्रवचन दिये है वह इतने लोकप्रिय हुए कि स्वाध्याय प्रेमियों की मांग को देखते हुए पुनः प्रकाशित कराये जा रहे है एक-एक सूत्र पर यह प्रवचन श्री सहजानन्द जी के जीवन की आत्म साधना अथवा ज्ञानाभ्यास का अनुपम फल है। इन प्रवचनों के अवलोकन से महाराज श्री की आन्तरिक भावना का परिज्ञान और उनकी लगन, कर्तव्यनिष्ठा, उत्साह तथा आत्म जागृति का भान सहज में हो जाता है।

पाठक प्रवचनों की भाषा विशेषता और विवेचन शैली का स्वयं ही अनुभव कर सकते है। इस प्रकार यह प्रवचन गृहस्थों के लिए बहुत ही उपयोगी है। प्रवचनों में कहीं-कहीं पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा कहा गया हैं। अर्थात् आचार मार्ग का विधि विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरुपित किया गया है। क्योंकि श्री सहजानन्द जी महाराज का आशय विशुद्ध और वस्तु स्थिति के दिखलाने का रहा है।

इस संस्करण को नया रूप देने में मान्यवर खेमचन्द जी जैन सर्राफ मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्र माला ने अथक परिश्रम किया है, जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, इसके लिए वह बधाई के पात्र हैं। मेरी तो यही भावना है कि सभी धर्म स्नेही बन्धु इस ग्रन्थ का पठन-पाठन रूप स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनावें।

सुमेर चन्द जैन
सम्पादक
"वर्णी प्रवचन"

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक.....

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री १०५ क्षु० गुरुवर्य्य मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराज

जन्म स्थान—दुमदुमा (जिला टीकमगढ़), बुन्देलखण्ड (म० प्र०)

जन्म तिथि—कार्तिक कृष्णा दशमी ब्रह्ममुहूर्त सं० १९७२, सन् १९१५

साहित्य निर्माण—१९४२ से १९७८ तक, ग्रन्थ-संख्या लगभग ५००

शरीरत्याग काल—३० मार्च, सन् १९७८ त्यागी भवन सदर मेरठ।

रत्नकरण्ड प्रवचन प्रथम भाग

—: प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

नमः श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥ १॥

रत्नकरण्ड ग्रन्थके आदिमें श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार—इस ग्रन्थका नाम है रत्नकरण्ड। इसके रचयिता हैं स्वामी समंतभद्राचार्य। रत्नकरण्डका अर्थ है रत्नका पिटारा। रत्न क्या? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनका जिसमें कथन है उसे कहते हैं रत्नकरण्ड। रत्नकरण्डके आदिमें मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि श्री वर्द्धमानके लिए मेरा नमस्कार हो। श्री वर्द्धमानका मुख्य अर्थ तो यह है कि इस चतुर्थ कालके अन्तमें २४ वें तीर्थंकर राजा सिद्धार्थके नन्दन, त्रिशला माताके नन्दन श्री वर्द्धमान तीर्थंकर हुए हैं, उनका स्मरण किया। दूसरा अर्थ यह है कि श्री वर्द्धमान मायने सबकोई जो अंतरंग श्री ज्ञानलक्ष्मी से वर्द्धमान हो, बढ़ा हुआ हो वह श्री वर्द्धमान है। तो श्री वर्द्धमान के कहनेसे सभी तीर्थंकरोंका, अरहंतदेवका अंतरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीकी अपेक्षा तीर्थंकरोंका और मात्र अंतरंग लक्ष्मीकी अपेक्षा सिद्धोंका इसमें ग्रहण हुआ है। उनमें एक श्री वर्द्धमान स्वामी को ही विशेषण करदें और विशेष्य करदें, तो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे बढ़े हुए वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार किया है। आज इस पंचमकालमें जो कुछ भी तत्त्वज्ञान चल रहा है वह वर्द्धमान स्वामीकी परम्परासे चला आया हुआ चल रहा है। जो यह तत्त्वज्ञान न मिलता तो यह जीव अज्ञान अंधेरेसे हटकर कैसे मोक्षमार्गमें लगता? तो वर्द्धमान प्रभुका हम सबपर बड़ा उपकार है।

श्री वर्द्धमान भगवानके शासनमें सम्यक् आचार व विचार का प्रतिपादन—लोकमें दो बातोंकी महत्ता होती है—(१) आचार और (२) विचार। जिसका आचार और विचार सुन्दर हो वह उत्तम माना जाता है और इन दो बातोंमें सब कुछ आ गया। भावना, सद्भाव, विचार—ये सब विचार बनें और मन, वचन, कायकी चेष्टा आत्माका व्यापार ये सब आचार बने, तो जैन शासनमें आचारके लिए मुख्यता है अहिंसाकी और विचारके लिए प्रधानता है स्याद्वादकी। स्याद्वादसे वस्तुका निर्णय करिये। चूंकि वस्तु बनी रहती है और बनती बिगड़ती है। अगर बनना बिगड़ना न हो पदार्थमें तो बना रहना भी नहीं हो सकता और यदि बना रहना न हो पदार्थमें तो बनना बिगड़ना भी नहीं हो सकता। तो जब हमेशा रहता है और उसकी अवस्थायें बनती बिगड़ती हैं तो बस द्रव्य और पर्याय इन दो

दृष्टियोंसे वस्तुकी पहिचान बनाई गई। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। यदि नित्य ही है, अनित्य ही है, ऐसा सिद्धान्त माना जाय तो पदार्थ किस मुद्रामें रहेगा? और फिर आत्माका रागद्वेष सुधार बिगाड़ मुक्ति कुछ भी न बन सकेंगे? तो क्या आत्मा क्षण-क्षणमें नया-नया है? यदि ऐसा माना जायेगा तो क्षण-क्षणमें जब नया-नया आत्मा बन रहा तो धर्मकार्य करनेकी, मोक्ष मार्गकी आवश्यकता ही क्या रही? कोई भी आत्मा एक क्षणको रहे, दूसरे क्षण न रहे तो उसे मोक्षमार्गमें बढ़नेकी आवश्यकता ही क्या रहेगी, और यह व्यवहार चलेगा ही क्यों? सब अव्यवस्था है। अतः पदार्थ आत्मा नित्यानित्यात्मक है और इसी तरह स्याद्वादमें आत्माके स्वरूपको समझनेके लिए अनेक दृष्टियाँ लीं, अनेक धर्मोंका परिचय कराया गया। तो स्याद्वादसे तो वस्तुका निर्णय करना और अहिंसासे अपने आत्माको पवित्र करना धर्मका स्वरूप भी जैन शासनमें मूलतः यह बताया है कि अपने परिणामों में रागद्वेष इष्ट अनिष्ट मोह भाव नहीं सो अहिंसा हैं।

अहिंसाके स्वरूपनिर्णयमें और मार्गानुसरणमें सर्वविधेय समस्यावोंका समाधान—तो एक समस्याका समाधान मिल गया जिससे किसीको बहुत अधिक समझाना भी न पड़ेगा कि भाई इससे यों बोलो, इससे यों करो, अमुककी रक्षा करो। अनेक बातें कहनी ही नहीं पड़ेंगी। जो कुछ होना है वह स्वयं हो जायेगा उस जीवको जिसने वास्तविक अहिंसाको चित्त में उतारा है। अपने में विकार न लावें, रागद्वेष भाव न करें। ऐसा कोई करके रहे तो उसका मन कैसे चलेगा? उसके वचन कैसे निकलेंगे? शरीरकी कैसी चेष्टा होगी। बस यही चरणानुयोगमें दिखाया है। दोनों बातोंका मेल है। शास्त्रोंमें लिखा है सो करना चाहिए और ज्ञानी आत्माके द्वारा जो प्रवृत्ति बनती है सो शास्त्रोंमें लिखी है। जैसे स्वानुभवका मेल शास्त्रोंमें देख लो जिसप्रकार आत्माका स्वरूप दिखाया है उस प्रकार अपने आत्मस्वरूपका चिन्तन करना और आत्मस्वरूपका चिंतन करते हुए उस अनुभवका अलौकिक आनन्द पाया तो उसका मेल शास्त्रोंमें देख लो, यही लिखा है ना? हां तो इस प्रकारका समन्वय बना। अपने आपको ठीक ज्ञानप्रकाशमें लाये बिना अपना परिणाम, परिणमन शान्तिका नहीं बन सकता। तो अहिंस और स्याद्वाद इन दोनोंका जो विस्तार पूर्वक विवेचन है उससे हम आप लोगोंने ज्ञानप्रकाश पाया यदि पशु पक्षियोंकी भाँति खाना पीना, रागद्वेष करना, झगड़ा करना, मोह करना, मरजाना, फिर जन्म पाना, फिर रागद्वेष करना ··· इन ही में अगर रुचि है तो ठीक है, तब तो जो पशुओंका काम है सो अपन भी कर रहे, उससे आगे कुछ नहीं सोचा। यदि इस संसार में जन्म मरण करते रहना और नानाप्रकारकी यातनायें सहते रहना ही मंजूर है तो बस ठीक है, इन पशु पक्षियोंकी भाँति ही कार्य करते रहो, वे सब बातें मिलती रहेंगी, और यदि नहीं इष्ट है, और अपने आपको संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा दिलानेका परिणाम हुआ है तब तो वीर प्रभु के शासनमें, उसकी छायामें आयें और ज्ञानमार्गमें चलें।

सर्वोत्कृष्ट ज्ञानके प्रभु श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—जगतमें केवल ज्ञान ही एक ऐसा वैभव है कि जिसकी उपमा तीन लोक तीन कालमें किसी अन्य वस्तु से नहीं दी जा सकती। मानो वे बाह्य चीजें उसके आगे कुछ नहीं हैं। फक्कड़ हैं, दिगम्बर हैं और अपने खाने पीने की कुछ परवाह

नहीं है, ज्ञान सही है, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो यह स्थिति बनाने की योग्यता है तो वह तो अन्तः ऐसा उद्यम कर रहा कि शरीर का झगड़ा भी खतम हो जायेगा। जिस शरीर से आज प्रेम किया जा रहा है वह शरीर अभी कुछ ही दिनों बाद अग्निसे जला दिया जायेगा। यह शरीर रखने योग्य नहीं फिर इससे प्रीति क्यों करना? हां संयम की साधना के लिये, जीवन निर्वाह के लिये इस शरीर के नाते से कुछ कुछ करना भी पड़े सो तो ठीक है पर यह शरीर ही मैं हूं, यही मेरा सर्वस्व है, उसके ही सम्मान अपमान की बातों का ध्यान बनाये रहना यह इस जीवन की भारी भूल है। यह तो है घोर अज्ञान अन्धकार की बात, इससे कोई शांति का अनुभव नहीं कर सकता। शांतिका उपाय तो वीर प्रभुने बताया है सो शांति की प्राप्ति के वर्णन में सर्वप्रथम वीर प्रभुका स्मरण किया गया है।

निर्धूतकलिलात्मक श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार हो। कैसे हैं वे प्रभु? निर्धूतकलिलात्मने, याने पूर्ण रूप से धो डाला है इन पापोंको आत्मासे जिसने वे वर्द्धमान प्रभु। जैसे धुनियां रुई धुनता है तो उस रुई को धुन धुनकर उसके सारे बिनोले ढूंढकर समाप्त कर देता है ऐसे ही ज्ञानी जीव इन राग भावों को धुनते हैं ज्ञान के यंत्र से। कोई राग द्वेष न रहे। यदि राग द्वेष रहेगा तो मुक्ति नहीं मिल सकती। तो प्रभुने स्वयं में खुद अपने पाप कर्मों को आत्मासे निकाल डाला है, धो डाला है, दूर कर दिया है और इसी से वर्द्धमान प्रभुको वह दिव्य ज्ञान मिला कि जहाँ यह दिव्य उपदेश चला, कर्मके बारे में यह ध्यान दिलाया कि जब यह जीव अज्ञानभाव में रह रहा, रागद्वेषादिक विकारोंको अपना रहा, रागी द्वेषी बन्धा रहा तो कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमा सकता नहीं है, पर ऐसा ही निमित्त नैमित्तक योग है कि जीवमें अज्ञानभाव, रागद्वेषभाव जगा कि कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम गई। सो प्रभुने रागद्वेष मोह रूप कलिलको आत्मासे बिलकुल अलग कर डाला है।

सर्वज्ञेयोंके लिये दर्पणायमान वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—निर्धूतकलिलात्मक होने के कारण सालोकानांत्रिलोकानां नाम याने जिसका ज्ञान लोकालोक के सब जीवोंको प्रकाशित करने में दर्पणकी तरह आचरण करता है। एक दो दृष्टांत सामने रखिये एक तो दर्पणमें सामने आये हुए पदार्थ का फोटो आ जाना, प्रतिबिम्ब आ जाना और एक अग्निके सम्बन्ध से पानी में गर्मी आ जाना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है। दर्पणमें जो फोटो आयी है वह ऊपरी है, छाया है, निमित्त के हटने पर छाया भी दूर हो जाती है और जब तक वह प्रतिबिम्ब है दर्पणमें तो उसको देखकर लोग तो यह कहेंगे कि दर्पण तो लाल नहीं हुआ किन्तु लाली दीख रही है। कोई लाल चीज सामने हुई तो दर्पणमें लाल प्रतिबिम्ब आया। तो सभी के मन में यह बसा हुआ है कि दर्पण लाल नहीं हुआ किन्तु दर्पणमें यह लाल रंग दिख रहा है। किन्तु अग्निसे होने वाली गर्मीमें यह बात नहीं पायी जाती। अग्नि हट जाये तो भी पानी कुछ देर गरम रहता। भले ही कुछ देर में ही ठंडा हो गया मगर तत्काल तो गर्मी नहीं हट पाती। जबकि दर्पण के सामने की चीज हटने पर तुरन्त प्रतिबिम्ब हट जाता। तो जैसे अग्निके सम्बन्धसे पानी गरम हो जाता है इसी तरह कर्म विपाकके सम्बंध से आत्मा रागीद्वेषी विकारी हो जाता है और कोई बाह्य पदार्थ ज्ञानमें आ गया, ज्ञानमें ज्ञेयका सम्बन्ध बन गया, यह है एक स्वभावसे होने वाली बात। ज्ञानका स्वरूप

क्या है? जानना अगर जानना परिणमन न रहा तो ज्ञानका कुछ अर्थ भी है क्या? ज्ञान कुछ रहा ही नहीं, तो ज्ञानका परिणमन होना, जानना यह स्वभावसे हो रहा है, यह विकारसे नहीं हो रहा, जबकि आत्मामें रागद्वेष का होना स्वभाव से नहीं हो रहा किन्तु विकार भाव से हो रहा। कर्मविपाकका निमित्त पाकर हो रहा—तो जिसके ज्ञानमें सर्वज्ञेय पदार्थ दर्पण की तरह आचरण कर रहे हैं ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको यहाँ भाव पूर्वक, विनय पूर्वक नमस्कार किया है।

श्री से वर्द्धमान श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—वर्द्धमान प्रभु श्री से बढ़े हुए थे, श्री मायने अंतरंग लक्ष्मी, बहिरंग लक्ष्मी। महावीर भगवानके आत्मामें ज्ञान तो अनन्त प्रकट है, दर्शन अनन्त, आनन्द अनन्त, शक्ति अनन्त आदिक स्वच्छ स्वरूप यह तो है उनकी अंतरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी क्या? बड़े शोभायुक्त समवशरण का होना, समवशरण मायने धर्मसभा, भाषण सभा, प्रवचन सभा, किसी नेता के आने पर या सरकारी किसी ऊंचे पदाधिकारी के आने पर लोग उसके व्याख्यान के लिये बड़ा मंडप तैयार करते हैं सो कुछ विशेषता करते कि नहीं, फिर तीनों लोकके गुरु जो वास्तविक बात बताने वाले हैं, जो केवल ज्ञानी हुए तीनों लोकमें उत्तम हुए उनके धर्मोपदेशके लिए दिव्य ध्वनि खिरे उसके लिए कैसा मंडप बनना चाहिये सो तो बताओ? इन नेताओं का सम्बंध तो देश नगरके थोड़े लोगोंसे है सो वे लोग रहते हैं, मंडप बना लेते हैं, पर तीर्थंकर का स्नातक गुरु का सम्बंध है तीन लोक के जीवोंसे। तो जिसमें सबका प्रसंग है उसका मंडप कैसा बनना चाहिये? वह मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया जा सकता। वह देवों की ही रचना है। तो समवशरणमें कैसी अद्भुत रचना है, कैसी शोभा है कि कोई अगर प्रभुका उपदेश सुनने जाय तो निकट पहुंच भी नहीं पाया, पर बाहरी वातावरण को देखकर उसके धर्मभाव बढ़ने लगे। धर्मभाव बढ़ा हुआ हो, धर्मभाव आ रहा हो तो सुननेमें विशेषता होती है, और धर्मभाव मनमें न हो और बाहरी बात संकल्प विकल्प आरम्भ परिग्रह की बात चित्तमें बसी हो तो धर्मोपदेशका सुनना थोड़े ही बनता है। तो समवशरण की रचना ऐसी बने कि जहाँ प्रवेश करते ही चैत्यालयोंके दर्शन, मुनिजनोंके दर्शन और फुटकर चर्चा करती हुई गोष्ठियों का मिलना इस तरह चले जा रहे हैं, धर्मका वातावरण बढ़ रहा है और जब अपनी बारह सभामें पहुंचे, अपने कोठेमें बैठे तो प्रभुका जो उपदेश, दिव्यध्वनि हो, उसके सुननेको पात्रता आ जाती है। तो वर्द्धमान प्रभु अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे शोभायमान हैं। उनको नमस्कार करके अब आचार्यदेव ग्रंथमें क्या कहेंगे वह बात बतला रहे हैं। जैसे कहते हैं प्रतिज्ञापन इस ग्रंथ में किस चीज का वर्णन होगा वह बहुत संक्षिप्त शब्दों में सबसे पहले बताया जा रहा है। वही उद्देश्य इस दूसरे श्लोक में बताया जा रहा है।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

संसारोद्धारक धर्मतत्त्वके उपदेशका प्रतिज्ञापन—मैं कर्मको नष्ट करने वाले इस कर्मको नष्ट करने वाला उत्तम धर्म कहूंगा जो वर्णन किया जायेगा यह अपने आत्माकी बातका ही वर्णन होगा। जैसे कि मानो कोई इतनी ही बात कह रहा हो इसलिये उसके सुननेमें आलस्य न लाना, निरुत्साह न

होना, जो भी कहा जायगा, जो आपके भीतर की बात कही जायगी और वह भी ऐसी बात कही जायेगी कि जिस उपायसे पहले दुःखों को दूर कर सुखमें पहुंच जायेंगे। इसी श्लोक में विशेषण देकर धर्मका स्वरूप बताया गया। जो जीवको संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचा देता है उसे धर्म कहते हैं। धर्मके अनेक प्रकारसे लक्षण कहे गये हैं, वे सब इस लक्षणमें आ जाते हैं। जैसे कहा गया कि क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक दस लक्षण धर्म हैं तो ये १० बातें—क्षमा करना, नम्रता रखना, सरल रहना, लोभ न करना ऐसी कोई प्रवृत्ति करे तो वह संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंच जाता है ना। उनमें भी यह धर्मका लक्षण कहा गया है। वस्तुस्वभावो धर्मः, जो वस्तुका स्वभाव है वह धर्म है। आत्माका स्वभाव है जानना, देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना। रागद्वेष करना स्वभाव नहीं। जानना स्वभाव है। जाने बिना यह रह ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानस्वरूप है सो जानन जरूर बनेगा। सो जानन तो होता है अपने स्वभावसे, पर विकार जगता है परका निमित्त पाकर विकार भावसे, स्वभावसे नहीं। सो आत्माका धर्म बताया है जानना देखना। स्वभाव ज्ञानस्वरूप चैतन्यभाव। सो जो इस ज्ञानस्वभाव को जानेगा और इस ही स्वभावमें मग्न बनेगा वह दुःखसे छूटकर उत्तम सुखमें जायेगा या नहीं? जायेगा। वहाँ भी धर्म का यह लक्षण बना। दयाको भी धर्म कहते। और उसका पूर्ण रूप लीजिए—अपने आपकी दया करना और दूसरे जीवोंकी दया करना। अपने आपकी दया तो इसमें है कि यहां रागद्वेष विकार भाव न जगे, पर उस दया धर्मका उपदेश देते हैं। उनके गुणोंकी रक्षा करना यह पर दया है। सो दोनों प्रकारकी दया करना धर्म है। तो लो दया रूप धर्ममें भी यह लक्षण गया। धर्मका लक्षण बताया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रयरूप परिणाम। तो भला बतलावो जो अपने आत्माके स्वरूपका विश्वास करता है। स्वरूप को जानता है और स्वरूपमें ही मग्न होता है वह पुरुष संसार के दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंचेगा या नहीं? पहुंचेगा। लो रत्नमें भी यह धर्मका लक्षण घटित हुआ।

ज्ञानमार्गमें रुचि करनेका कर्त्तव्य—भैया! धर्मकी बात यों मौजसे न आयगी कि अपने मनको कुछ समझाना न पड़े और एक विनोद तफरी मौज से हमें धर्म मिल जाय, सो ऐसी आशा न रखें। अगर मौज मौजका ही काम करना है तो अनादिसे करते आये और जो फल पाते आये सो चलने दीजिये। और यदि यह भाव बना है कि मुझे तो संसारके संकटोंमें छुटकारा पाना है तो चाहे कोई गृहस्थावस्थामें हो, आजीविका सम्बंधी काम काज भी करता हो, अन्य कार्य भी करता हो तो भी वहाँ उसे आत्मा की सुध रहेगी, अन्यथा अज्ञानी जनों जैसा काम, दुष्टों जैसा काम क्यों नहीं बनता ज्ञानीका? उसे अपने आपके आत्माकी सुध है। तो अपने कल्याणके लिए ज्ञानके लिए प्रयत्न अधिक होना चाहिए। स्वाध्यायसे, अध्ययनसे, चर्चासे, मन नहीं लग रहा धर्म कार्योंमें तो वहाँ भी कुछ मन लगाना होगा, कुछ अपने पर जबरदस्ती करनी होगी, यों ही मानों कि धर्मकार्य अति दुस्तर है, ज्ञानकी बात समझमें आती नहीं है, अब मान लो ज्ञानके मार्गसे हट गये तो फिर जावोगे कहाँ? करोगे क्या? वही विषय और कषाय। तो विषयकषायमें तो प्रेम है पर धर्मवार्तामें प्रेम नहीं है तो उसका परिणाम तो सैकड़ों आचार्योंने पहले से ही घोषित कर दिया है कि वे क्या बनेंगे? किस तरहसे उनका जीवन

जायगा। तो धर्मका विवरण इस ग्रंथमें है और वह भी बड़ी पद्धतिसे है। क्या-क्या पहले समझना चाहिए, किस तरहसे यह जीव समझे वह सब अपने आत्माकी बात लिखी है। उसे ध्यान पूर्वक सुनना है, मनन करना है और उस रूप अपने आपको ढालना है।

सुगमलभ्य अन्तःस्थ धर्म भावके कथनका प्रतिज्ञापन—यहाँ समंतभद्राचार्य ग्रन्थ के प्रारम्भमें अपना उद्देश्य बतला रहे हैं कि मैं वास्तविक धर्मका प्रतिपादन करूँगा। जो धर्म कर्म और संकटोंको दूर करने वाला है। संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचाने वाला है। उस धर्मके विषयमें बताया था कि रत्नत्रयधर्म, दस लक्षण धर्म, आत्मस्वभाव धर्म और दयारूप धर्म इन चार रूपोंमें उस धर्मका दर्शन होता है। सो वह धर्म जो आत्माके विकासरूप है वह धर्म कहीं बाहरसे नहीं मिल सकता, बाजारमें खरीदनेसे नहीं मिल सकता। कोई सोचे कि मैं धनिक हूं। मैं पैसेके बलसे धर्म पा लूंगा तो इस तरहसे धर्म नहीं मिलता, बल्कि मंदिर आदिकमें भी भींट पत्थर या जो भी दृश्यमान चीजें हैं उनसे धर्म नहीं मिलता। धर्म मिलता अपने आत्मामें से। जिसको अपने आत्मामें से धर्म मिलता है उसको धर्ममें सहयोग मंदिर प्रतिमा मूर्ति आदिक सब पड़ जाते हैं और जिसको अपने आत्मासे धर्म नहीं मिलता उसको कहीं से भी न मिलेगा। तो वह धर्म आत्माका स्वरूप है और अपने आत्मासे ही प्रकट होता है। जैसे कहते हैं ना कि धर्म बिना शान्ति नहीं है तो वह धर्म क्या चीज है जिसके होने पर शान्ति हो जाती है? वह धर्म है आत्माके स्वरूपका परिचय। सो मैं उस धर्मको कहूंगा, ऐसी ग्रन्थकार यहाँ प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

शुद्धभावकी धर्मरूपता—संक्षेपमें आत्माके चार भाव जानिये—द्वेषपरिणाम, अशुभराग, शुभराग और आत्माका शुद्धभाव। जैसे राग शुभ और अशुभ होता है ऐसे ही द्वेष भी शुभ और अशुभ हो सो नहीं। यहां आप यह सोच सकते हैं कि किसी शिष्य पर किसी भक्त पर जिसको अनुराग है वह भक्तको, शिष्यको डांटता भी है, कुछ दण्ड भी देता है, कुछ बलपूर्वक भी बोलता है, यह तो द्वेष हुआ ना? अरे यह शुभ द्वेष है, भलेके लिए किया जा रहा है। तो द्वेष शुभ और अशुभ कैसे न हुआ? किन्तु उत्तर है कि यह अनुरागवश द्वेष किया जाता है तो वह शुभ रागमें आया। द्वेषमें उसकी गिनती नहीं की जाती। जैसे यहीं देख लो—कोई माँ छोटे बच्चेको डाटती है तो उसे कोई कहता है क्या कि इस माँ को अपने बच्चेसे द्वेष है कोई नहीं कहता। डाटने की तो बात छोड़ो यदि पीट भी दे तो भी कोई नहीं कहता कि माँ को अपने बच्चों से द्वेष है। वह तो किसी रागवश ही किया गया। बच्चा कहीं कुमार्गमें न जाय सन्मार्गमें रहे, ऐसा भाव होनेसे उस बच्चेके प्रति डाटने डपटने अथवा पीटनेका भाव हुआ तो ऐसे ही यदि कोई गुरु अपने शिष्यपर भक्तपर नाराज हो किसी बातसे तो उसे भी द्वेष नहीं कहा गया। वह शुभ रागमें शामिल है क्योंकि प्रेरणा तो शुभ रागसे चली। तो द्वेष तो अशुभ ही होता है, उससे तो हटना ही है। अशुभराग याने विषय सम्बंधी राग, वह भी अशुभ ही होता है। उससे भी हटना। शुभराग जैसे प्रभुभक्ति, पूजा, गुरुजनोंकी वैयावृत्ति आदि ये सब शुभ राग हैं। सो शुभ राग भी आश्रव हैं फिर भी मोक्ष मार्गके रुचियाको शुभ राग करना पड़ता है। सो जितने अंश में वहाँ राग है, उतने अंश में तो धर्म नहीं है और जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में धर्म है। वीतराग अंशकी

विशेषता है और राग अंशकी गौणता है। जैसे माँ बच्चेको डाटे डपटे तो उसको बच्चेसे राग है ना और डाट डपट चल रही सो कुछ रोष भी है, पर प्रधानता किसकी है? रागकी। तो ऐसे ही जो धर्मात्माजन अन्य धर्मात्माजनोंसे कभी किसी समय कुछ प्रतिकूल बोलें, डाटकर बोलें, धमकाकर बोलें तो भी उसमें द्वेषकी प्रधानता न लेना, शुभ रागकी प्रधानता लेना, पर धर्मकी बात उन तीनोंमें नहीं है। न द्वेषमें है, न अशुभ रागमें है और न शुभ रागमें है। तो वह धर्म किसी बाह्य वस्तुसे न मिलेगा किन्तु अपने आत्माके आश्रयसे ही मिलेगा।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः॥ ३॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके एकत्वकी धर्मरूपता—धर्म क्या चीज है उसका स्वरूप यहाँ कह रहे हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको धर्म कहते हैं। धर्म तीन नहीं हैं, सम्यग्दर्शन भी धर्म, सम्यग्ज्ञान भी धर्म, सम्यक्चारित्र भी धर्म, और फिर जिसकी मर्जी आये सम्यग्दर्शनसे मोक्ष जाय, कोई सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष जाय, कोई सम्यक्चारित्रसे मोक्ष जाय ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनका जो मेल है, परिपूर्णता है वह साक्षात् धर्म है, इसी कारण बोलते समय यों न बोलना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म हैं। क्रियाको बहुवचनमें न बोलना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म हैं, ऐसा न बोलना। एक वचनसे बोलना, अर्थात् इस रत्नत्रयकी पूर्णता धर्म है। जैसे प्रथम अध्यायके सूत्रमें कहा है—जीवाजीवास्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। यहाँ जैसे उन ७ बातोंका नाम लेकर बहुवचन किया गया ऐसे ही तत्त्वमें बहुवचन नहीं है वह एक वचनमें है, जिससे सिद्ध होता कि उन तीनोंका सम्प्रदाय धर्म है। जैसे कोई एक मिलकर काम होता है, अथवा जैसे एक कमेटी होती है या संसद सदस्य जैसी संविद समिति, तो प्रत्येक सदस्य कमेटी नहीं है, किन्तु उन सदस्योंका जो समुदाय है वह कमेटी है। अगर सदस्योंका ही नाम कमेटी होता तो वे कितनी ही कमेटी कहलातीं। सबकी जुदी जुदी राय है अथवा जैसे आगे ९वें अध्यायमें दसलक्षण धर्मका सूत्र दिया—उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौच-सत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः, धर्मः शब्द एक वचन है और १० चूंकि संज्ञा हैं, नाम हैं सो वे बहुवचन में आये मगर वे १० धर्म नहीं हैं। १० धर्मोंका एकत्व धर्म है। अगर १० धर्म होते तो कोई क्षमासे ही मोक्ष चला जाता, फिर उसे मार्दव आर्जव आदि धर्म पालनेकी जरूरत ही न थी पर ऐसा तो नहीं है। जो दस धर्मोंका समूह है वह धर्म है। ऐसे ही यहाँ कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको भगवानने, गणधर देवने धर्मेश्वरने बताया है, ये धर्मके अधिपति हैं। उन्होंने इन तीनों के समुदायको मोक्षमार्ग कहा।

रत्नत्रयभावकी धर्मरूपता व रत्नत्रयसे प्रत्यनीक भावोंकी भवपद्धतिरूपता—जब मोक्षमार्ग चल रहा हो तो वहां प्रसन्नता रहती है। सम्यग्दर्शन क्या चीज है? सम्यक् मायने अच्छा, दर्शन मायने नजर आना, अच्छी बात नजर आ जाय तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। अब अच्छी बात क्या है? तो यह समझिये कि अच्छी बात वह होती है कि जो कभी बुरी न हो सके। अच्छी बात है आत्माका

स्वरूप उसका परिचय। यह है सम्यग्दर्शन। सम्यग्ज्ञान आगमका, शास्त्रका ज्ञान होना और उस कथनसे अपने आपके स्वरूपमें रमकर जैसाका तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्र—आत्मस्वरूपमें मग्न होना, कषाय न रहना यह है सम्यक्चारित्र। तो इन तीनका समुदाय मोक्ष मार्ग है। और इससे उल्टे श्रद्धान, वस्तु अन्य तरह है मानता अन्य तरह है, वस्तु अनित्य है, मानता नित्य है, प्राप्त समागम सब बिछुड़ जायेंगे, पर यह मानता कि ये सदा रहेंगे, तो जहां यह मिथ्याभाव है वहां धर्म नहीं है। तो यह मिथ्यादर्शन धर्मसे विपरीत वस्तु है। कभी किसी पुत्रको अपनी माँ से कोई ठेस पहुंची किसी भी बोली वाणीसे तो पुत्र उसमें बुरा मान जाता, उसकी यह दृष्टि नहीं बन पाती कि यह माँ मेरे भलेके लिए कह रही, किन्तु वह इससे विपरीत सोचता, पुत्रके स्वयंकी कषाय है जिससे वह अपनी ही खुदगर्जीमें रहता है ऐसे ही जो पुरुष या जो आत्मा परमात्मा के प्रतिकूल है उसको परमात्मस्वरूप समझमें नहीं आता और जैसे वह पुत्र माँ के दोष ही दोष देखता, माँ के द्वारा किए गए जीवन भरके उपकारोंको भूल जाता बल्कि उन्हें अपने लिए अपकार बताता तो ऐसे ही जब मिथ्यात्वका उदय है तो उसको देवशास्त्र और गुरुमें भी दोष नजर आते हैं, गुण नहीं, यह है मिथ्यादर्शन। मिथ्याज्ञान—जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ज्ञानमें न आना, उससे उल्टा जानना यह है मिथ्याज्ञान। और उल्टा चलना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना, कषायोंमें लगना यह सब है मिथ्याचारित्र। ये तीन भाव तो संसारके बढ़ाने वाले हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये संसारको हटाने वाले भाव हैं। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वे धर्म कहलाते हैं, ऐसा गणधर देवने बताया है।

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापाढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

परमार्थ आप्त आगम तपस्वियोंके श्रद्धानकी सम्यक्त्वरूपता—सम्यग्दर्शनका लक्षण इस गाथामें किया गया है—परमार्थ भूत सच्चा जो आप्त, आगम और तपस्वी अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु इनका श्रद्धान करना, जिस श्रद्धानमें तीन मूढ़ता न हों, ८ अंग हों ऐसे तत्त्वश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। वास्तविक देव, शास्त्र, गुरु कौन हैं? तो किस बातका देव, शास्त्र, गुरु आप पूछ रहे? मोक्षमार्गका। तो जो मोक्षमार्गसे चलकर मुक्त हुए हैं ऐसे पवित्र आत्मा देव कहलाते हैं। और शास्त्र कौन है? उन देवोंके द्वारा बताया गया जो शासन है वह आगम है, और गुरु कौन है? तपस्वी कौन है? जो उस आगमके अनुसार, प्रभुके आदेशके अनुसार मोक्ष मार्गमें चल रहे हैं और बढ़ रहे हैं वे कहलाते हैं गुरु। धर्मके देव, धर्मके आदर्श, धर्मका कथन करने वाले आगम, धर्मके गुरु—जो उस धर्ममें चल रहे हों ऐसे देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसमें मूढ़ता न होगी और अष्ट अंग होगा। जैसे मानो कोई संगीत सीखना चाहता तो अब केवल संगीत संगीतका निर्णय किया जा रहा। आप सोचिये उस संगीतका देव कौन है? जो संगीतमें बहुत ऊंचा पहुंचा हुआ हो सो वह पुरुष संगीतका देव है। यद्यपि वह रोज-रोज मिलेगा नहीं क्योंकि पता नहीं कहां रहता है, सुना ही है कि वह बड़ा गवैया है, लेकिन सीखने वाला पुरुष उस पुरुषको आदर्श मानकर और उस मार्गसे चलकर यही मुझे बनना है ऐसा

विश्वास करके वह संगीत सीखता है। और संगीतका शास्त्र कौन हुआ? जिसमें संगीतके चिह्न लिखे हों, संगीत सिखानेके शब्द हों वे संगीत शास्त्र कहलाते। और संगीतके गुरु कौन कहलाते? जो अपनेको संगीत सिखाने वाले मास्टर मिल सकें। ऐसे ही धर्मकी बात सुनो। धर्मका देव कौन है? जो धर्ममें पूरा पहुंच चुके हैं ऐसे अरहंत और सिद्ध धर्मके देव हैं। धर्मकी बातें जहां लिखी हों, रागद्वेष मोहसे हटना यह वृत्ति जिन उपदेशोंमें पायी जाय वे धर्मके शास्त्र है, और धर्मके गुरु कौन? जो अपनेको बढ़ें मिल सकें। जो धर्मभावमें बढ़ रहा है वह है धर्मका गुरु। तो ऐसे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वश्रद्धानका प्रारम्भिक आधार आप्त आगम गुरुका श्रद्धान—यहां कोई ऐसा सोच सकता है कि वास्तव में सम्यग्दर्शन तो आत्माके अविकार स्वभावका परिचय है। अनुभव है पर यहां बतला रहे कि देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तो उत्तर यह है कि जो कुछ भी तत्त्वज्ञान किया जाता है उसका मूल है देव शास्त्र, गुरु। जो उस मार्गको तय कर चुके उनका श्रद्धान इसलिए करना कि मुझे खुद उस मार्ग पर चलना है। जैसे नदीके इस पार रहने वाले जो हैं, जिनको कभी उस पार जाना नहीं है उनके लिए तो नदी पार करके किनारे पहुंचे हुए का कोई महत्व नहीं, क्योंकि उनको नदी पार करनेका ख्याल ही नहीं, पर जिन पुरुषोंको नदी पार करना है उनके लिए नदी पार होनेका बड़ा महत्व है। ऐसे ही कैसे संसारके दुःखोंसे छुटकारा मिले, कैसे कष्टसे बचें, यह सब ध्यानमें रहता है सो इन भव्योंको संसार महानदी पार करनेकी उत्सुकता है तो आत्मानुभव हुआ या स्व परका भेदविज्ञान किया तो उसका आधार है आगम, देव, शास्त्र, गुरु। सो देव, शास्त्र, गुरुका यथार्थ श्रद्धान हो तो यथार्थ तत्त्वश्रद्धान हो जाता है। भगवानका आत्मा अमूर्त है, शरीरमें रहकर भी शरीरसे न्यारा ऐसा भगवानके स्वरूपका किसीने स्मरण किया तो अपने आपके स्वरूपमें उसका प्रवेश हुआ इस कारण धर्म है। तो सबका आधार है देव, शास्त्र, गुरु और सबके लिये वह उपयोगी है। जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता है उसके लिये भी यही उपाय है कि वह देव, शास्त्र, गुरुकी उपासना भक्ति में लगे, ऐसे परिणामके अभिमुख होनेको श्रद्धान कहते हैं। श्रद्धानमें तीन मूढ़तायें नहीं रहतीं। जैसे संगीत सीखने वाले को अपने संगीत कार्यके लिये मूढ़ता नहीं रहती। उसको यह सम्यक् श्रद्धान है कि ये पड़ोस के उस्ताद हमारे गुरु हैं, ये हमको संगीत सिखा देंगे, तो ऐसे ही इस ज्ञानीको धर्मके देव, शास्त्र, गुरुके बारेमें मूढ़ता नहीं है कि कैसे ये जीव देव, शास्त्र, गुरु बन गये पक्का श्रद्धान है। और जैसे व्यवहार में कोई संगीत सीखने वालेको अपने संगीत के विषय में शंका नहीं है और संगीतको छोड़कर अन्य कुछ इच्छा नहीं है, संगीत सिखाने वाले के प्रति ग्लानि नहीं करता, संगीत सिखाने वालों के दोषों पर वह दृष्टि नहीं देता। संगीत सिखाने वाला कदाचित् च्युत हो जाय तो प्रेमी लोग उसको बड़ा महत्व देते हैं। कोई संगीतका प्रेमी कभी अपने धर्मसे चिग जाय तो उसको उसमें स्थिर करते हैं। उससे प्रेम भी रखते हैं और उस संगीत विषयकी या उस्तादकी प्रशंसा भी गाते हैं। वह बड़ा अच्छा गाता है, बड़ी लगनसे सिखाता है तो वहां भी ८ अंग पाये जाते हैं। वे संगीतके अंग हुए। तो धर्ममें जो चलने वाला है उसको धर्मविषयक ८ अंग बनते हैं।

देहके अष्ट अंङ्गोंमें अङ्गविधित्वका प्रेक्षण—जैसे शरीरमें ८ अंग है वे भी इन अंगों जैसा काम करते हैं। चलना है तो जैसे मानलो आगे दाहिना पैर बढ़ाया तो कैसा निःशंक बढ़ाते हैं लोग, कोई ऐसी शंका तो नहीं करता कि मैं इस पृथ्वी पर पैर धर रहा हूं, कहीं इस जगह यह पृथ्वी पोली न हो और मैं गड्ढेमें समा जाऊं? अरे वह तो निःशंक रहता और पिछले पैरको भी वह बड़ी उपेक्षासे उठा लेता है। जैसे मानो वह जगह उसके लिये बेकार हो। पीछे पैर वाली भूमिसे उसे कोई लगाव नहीं रहता। यह दाहिना पैर जैसे आगे रखा तो वह निशंकित हुआ और पीछेका पैर उठाया तो वह निःकांक्षित हुआ। यह शरीरके अंगोंकी बात देखो—जिन अंगोंसे हम सर्वकार्य करते हैं। निर्विचिकित्सा—सुबह उठकर हर एक कोई शौच जाता है तो वह मानो बायें हाथसे शुद्धि करता है। पर किसी को उस हाथको गाली देते हुए देखा कि यह हाथ बड़ा बुरा है? नहीं देखा। तो ऐसे ही सभी अंगोंकी बात है। किसी को बायें हाथ से ग्लानि नहीं होती। यह निर्विचिकित्सा हुई। और इस दाहिने हाथमें कैसा निर्णय पड़ा है कि यह दृढ़ता पूर्वक दूसरेको कहता है कि ऐसा काम करो। यह करना ही होगा। यह दाहिना हाथ उठता है। यह अमूढ़ दृष्टि है। उपगूहन—उपगूहन कहते हैं ढाकनेको जैसे धोती या लंगोटसे शरीरके कुछ अंगोंका ढाकना, यह उपगूहन हो गया। कुछ स्थितिकरण—पीठ पर कितना ही बोझ रख लेना यह है स्थितिकरण। वात्सल्यका काम किया। और ये दिमाग मस्तक आदि प्रभावनाका कार्य करते हैं। धर्ममार्गमें धर्म भावके ८ अंग सहित देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ ५॥

निर्दोष आत्माके ही आप्तपनेकी संभवता—इससे पहले श्लोकमें यह कहा था कि वास्तविक आप्त आगम और गुरुका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उन तीनोंमें से प्रथम कहा हुआ जो आप्त है उसका क्या स्वरूप है यह वर्णन इस श्लोकमें चल रहा है। आप्त का शब्दार्थ है पहुंचा हुआ, व्याप्त हुआ, छाया हुआ और उसका भावार्थ है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना बनी है उसे कहते हैं आप्त। वह आप्त कैसा होता है? दोषरहित, सर्वज्ञ और आगमका अधिकारी याने हितोपदेशी। जहां ये तीन बातें पाई जायें उसे आप्त कहते हैं। अब इसके विरुद्ध कुछ कल्पना करके सोचिये आप्तमें ३ बातें कहा है—(१) निर्दोष (२) सर्वज्ञ और (३) हितोपदेशी। यदि निर्दोष न हो तो क्या वह आप्त हो सकता है? जिसमें क्षुधा, तृषा, वेदना रोग ये दोष पाये जायें तो वह खुद ही सुखी नहीं है। फिर वह दूसरोंको आनन्दका क्या उपदेश दे सकता है? काम विकार आदिक भी दोष हैं, ये जिनके दोष नहीं मिटे, कामी है विकारी है कोई तो वह खुद पराधीन है, कामके विषयभूत है, पर पुरुष या स्त्रीके ध्यानमें निरन्तर रहनेसे वह पराधीन है, वह क्या आप्त हो सकेगा? जिसके रागद्वेष हैं वह स्वयं कलंकित है, वह आप्त कैसे हो सकता है? वह सत्य कैसे बोल सकता है? जिसके रागद्वेष भाव लगा है वह यथार्थ उपदेश नहीं कर सकता। फिर जो दोषी है वह उन दोषोंके वशीभूत होकर या भयके वशीभूत होकर या जीवनमें क्रूरताके परिणाम बढ़ाकर वह अनेक साधन रखेगा। कोई स्त्री रखे है फिर

भी यह प्रसिद्धि कर रहा कि मैं भगवान हूं। कोई हथियार रखे है, किसीके पुत्र भी है तो भी यह प्रसिद्धि करता है कि मैं भगवान हूं, जो शस्त्र रखे हैं सो क्यों रखता है? या तो उसे शौक है या कोई डर लगा है। तो शौक होना वह भी दोष, डर लगा है तो वह तो बड़ा डरपोक। वह प्रभु कैसे हो सकता है? तो निर्दोष होना यह आप्तका पहला विशेषण है। उसके बिना आगेकी बात चल ही न सकेगी।

निर्दोष व सर्वज्ञ आत्माके ही आप्तपनाकी संभवता—आप्तका दूसरा विशेषण दिया है सर्वज्ञ, जो सर्वको जानने वाला हो वह आप्त है क्योंकि जो सबको न जानता हो वह सर्व बातोंका कैसे वर्णन कर सकता है? सर्व कितनी चीज्जें हैं? पहले तो द्रव्यकी जाति जानों कि द्रव्य ६ प्रकारके होते हैं (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। जीव द्रव्य हैं अनन्त, पुद्गल हैं अनन्त। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असख्याते हैं। अब इनमेंसे मानो एक जीवको ही ग्रहण करे तो एक जीवमें अनन्त शक्ति है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, आदिक, और एक-एक शक्तिकी भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल की अपेक्षा अनन्त पर्यायें हैं। उन अनन्त पर्यायोंमें एक ही पर्यायमें अनन्त रस भरे पड़े हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल कितने पदार्थ हैं जगतमें उन सबका जानने वाला जो पुरुष होगा वही प्रयोजनकी सच्ची बातें कह सकेगा। इसलिये आप्तके लक्षण में दूसरा विशेषण कहा है कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये।

निर्दोष, सर्वज्ञ हितोपदेशी आत्माके ही आप्तपनाकी संभवता—आप्तका तीसरा विशेषण है हितोपदेशी। सकल परमात्माका जो उपदेश है यह सर्व जीवोंके हितके लिये है। जैसे मनुष्यों को दयाका, संयमका, व्रतका उपदेश किया है तो जो लोग उन उपदेशोंका पालन करेंगे उनका हित होगा और जीव दयाका उपदेश दिया तो वह जीव दया पालेगा तो अनेक जीवोमें दया होगी। उनकी हिंसा बच गई सो यह अन्य जीवोंका हित है। तो आप्त हितोपदेशी होता है। इससे यह अर्थ जानें कि आप्तके उपदेशोंकी परम्परासे जो आप्त आगम है, जो चार अनुयोगों में विभक्त है—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। सो प्रत्येक शास्त्रके कथनमें आत्माके हित की ही बात कही गई है। पुराणोंमें चारित्र देकर यह श्रद्धा करायी गई है कि जो शुभ भाव करेगा सो पुण्य बांधेगा। जो अशुभ भाव करेगा सो पाप बांधेगा और जो शुभाशुभ दोनोंसे रहित आत्माके शुद्ध भावको करेगा वह मोक्ष पायगा। तो उस प्रथमानुयोग पुराणके सुननेसे उदाहरण भी सामने आने से यह श्रद्धा दृढ़ होती है कि मेरे आत्माको तो शुभ और अशुभ भावसे हटकर शुद्ध भावमें लगना चाहिए। प्रथमानुयोगमें बाह्य-क्रियाओंका वर्णन है और अन्तरंग भावनाका उसमें समन्वय है तो योग्य क्रियायें करने से इन जीवोंको पात्रता होती है कि वे मोक्ष मार्गमें चल सकें। तो वह भी उपकारक उपदेश है। करणानुयोगमें तो तीन लोक, तीन काल, गुणस्थान मार्गणा आदिकका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन है जिससे अपनी स्थितिका हम पहले क्या थे उन बातोंका, अब हमें क्या करना चाहिए, इन सबका वहां ज्ञान बताया है। द्रव्यानुयोगमें आत्मा और आत्माका स्वरूप दिखाकर अनात्मासे हटना और सहज आत्मस्वरूपमें लगना, इस तरहका उपदेश करके जो आत्मा को निर्दोष निर्मोह बनाया तो उसमें भी आत्माके उद्धार की ही बात लिखी है, ऐसा आगमका जो प्रसंग है हितोपदेशी द्वारा कहा गया है।

आप्तके लक्षणमें निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी इन तीन विशेषणोंकी सार्थकता—यहां एक शंका की जा सकती है कि आप्त अरहंतदेवके लक्षणमें दिव्यध्वनि द्वारा आगम प्रसार करने वाले तीर्थंकर आदिकमें यहां जो तीन गुण बतला रहे विशेषण बतला रहे, सो तीन की क्या जरूरत थी? एक ही विशेषणसे सब काम बन जाता। जैसे प्रभु निर्दोष होते हैं तो अब अर्थ आगे बढ़ाते जाइये जो निर्दोष प्रभु हैं, परमात्मा हैं सो शास्त्रके रचने वाले हैं, पहुंचे हुए हैं। तो एक निर्दोष शब्दके कहनेसे ही सही परमात्माका परिचय होता है और उसमें कुछ उपयोग देकर अपने आपको सुखी शान्त बनाया जाता है। तो इस निर्दोषकी बात श्लोकमें रखते यानि केवल निर्दोष शब्द ही कहा जाता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो विशेषण हटा देते तो उसका अर्थ यह बनता कि जो क्षुधा तृषा रागद्वेषादिक दोषोंसे रहित है वह है आप्त। इतना ही अगर कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य इनमें कहाँ क्षुधा तृषा, रोग, शोक पाये जाते हैं। तो सिर्फ निर्दोषको ही कहते कि यह आप्त है और सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो विशेषण न कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य आप्त बन जाते, इससे केवल निर्दोष कहकर आप्तको सही लक्षण बतानेकी कोशिश नहीं निभती। निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो वही पुरुष आप्त हो सकता है। तो कोई शंका करे कि ये दो ही विशेषण रहने दो—निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी शब्द न कहते, तो इस शंका का उत्तर यह है कि सिद्ध भगवान निर्दोष हैं और सर्वज्ञ है, पर वे आप्त तो नहीं कहलाते। यद्यपि सिद्ध भगवान आप्तसे बड़े हैं, आप्ततो अरहंत अवस्थाका नाम है। तीर्थंकर या अन्य अरहंत जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है और ज्ञानधारा जहांसे बहती है उसे आप्त कहते हैं। सिद्ध भगवानके ८ कर्म नहीं हैं। शरीर नहीं है और वह बहुत उत्कृष्ट पूर्ण सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हैं फिर भी सिद्ध भगवानकी वजहसे परम्परासे शास्त्र नहीं निकले। आगम नहीं निकला। आगम निकला है आप्त की परम्परासे। आप्तका निर्दोष और सर्वज्ञ ये दो विशेषण देते हितोपदेशी न कहते तो भी आप्त का लक्षण पूरा नहीं बनता। आज हम जैन शासनका अध्ययन कर रहे हैं। वे शास्त्र कहांसे निकले, उनका मूलप्रणेता कौन है, यह निर्णय हुए बिना शास्त्रमें भी श्रद्धान न जगेगा। इसके प्रणेता निर्दोष सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहंत भगवान हैं, उनकी परम्परासे चले आये शास्त्रमें असत्यताका कोई अवकाश नहीं। सर्व सत्य है और प्रामाणिक है। तो इस प्रकार आप्त भगवानके लक्षणमें ये तीन विशेषण दिये हैं—निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो।

निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हुए बिना आप्तपनेकी असंभवता—उक्त तीनों गुणोंसे रहित कोई भी हो वह यदि अपने को भगवान जाहिर करे तो वह केवल एक लौकिक चाल की ही बात रही, पर प्रभुता नहीं आयी उनमें। क्योंकि जो निर्दोष नहीं है वह पराधीन है, दुखी है उसके वचन सत्य कैसे निकल सकते? सो इस प्रकार ये तीनों ही विशेषण आप्तके कथनमें देना आवश्यक हुआ, ऐसा आप्त तत्त्वार्थका कहने वाला है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थोंको एक साथ जानते हैं। ऐसा सर्व विषयक ज्ञान होना आत्मासे है इन्द्रिय द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि इन्द्रिय तो एक सामने रहने वाले पदार्थको जानेगी, और उसमें भी कुछ जानेगी, सबको न जानेगी, जैसे आंख से जाना कि यह चौकी है तो आंखने चौकीके बारेमें कितना समझा कि बस ऊपरसे यह रंग रूप और सामने जितना

आकार दीख रहा, बस इतना ही भर आँखों द्वारा जाना। चूंकि पूरा नहीं जान पाये। पूरा क्या? कि अनादि अनन्त है, अनन्त शक्ति वाला है आदि, सो इन पदार्थोंको भी इन्द्रियज्ञान पूरा नहीं जान सकता। सर्वका जाननहार ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियसे परे है। इन्द्रियजन्य ज्ञान स्थूलको जानेगा, सामने रहने वाले पदार्थको जानेगा। वर्तमान में जो बन रहा है उसे जानेगा, पर इतने स्थूल क्रमवर्तीको जाननेसे कोई सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञ होता है तो एक इस सत्यार्थ स्वरूपके ज्ञानके बलपर।

श्लोकमें कहे गये तीन विशेषणोंके क्रमस्थापनका रहस्य—इस श्लोकमें आप्तके तीन विशेषणोंका जो क्रम रखा है उससे क्या सम्बन्ध निकलता है सो देखिये? सबसे पहला विशेषण है भगवानका आप्तका जिसकी दिव्यध्वनि की परम्परासे हम सबको यह तत्त्व ज्ञान मिला है। सो उसके तीन प्रकार हैं, देखिये तीन बातें कही हैं—निर्दोष, सर्वज्ञ, हितोपदेशी इनमें कारण कार्य बना है। निर्दोष होंगे तब ही सर्वज्ञ बनेंगे दोष रहित हुए कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता। करणानुयोगके अनुसार निर्दोष होना १२ वें गुण स्थान में हो जाता है। १० वें गुण-स्थानके अन्तमें निर्दोष हो जाता है। अर्थात् किसी भी मोहनीय कर्मकी सत्ता न रही क्षपकके १२ वें गुणस्थानमें तो जब यह निर्दोष अवस्था मिली १२वां गुणस्थान मिला तब वह १३ वां गुणस्थान पाया याने सर्वज्ञ हुए। तो निर्दोष जो होगा सो ही सर्वज्ञ होगा, दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध बना है। जो निर्दोष होगा, सर्वज्ञ होगा वही हितोपदेष्टा हो सकता है दूसरा नहीं हो सकता। तो आप्तके ये तीन विशेषण दिए। आगमके मूल प्रणेता अरहंत भगवानमें ये तीन विशेषण इस क्रमसे न रखते और दूसरा क्रम रख देते तब सर्वज्ञ, निर्दोष, हितोपदेशी या हितोपदेशी, सर्वज्ञ, निर्दोष, तो ऐसे कुछ भी अटपट क्रममें यह सर्वज्ञ नहीं विदित हो सकता। उल्टी बात आती है। यहां कालका भी क्रम आ गया। पहले निर्दोष होता है कोई फिर सर्वज्ञ होता है वही कोई फिर हितोपदेशी होता है। कारण भी आ गया, निर्दोष हुआ इस कारण सर्वज्ञ हुआ। सर्वज्ञ हुआ इस कारण हितोपदेशी हुआ। यह चर्चा किसकी चल रही है? इन्हीं शास्त्रोंकी निकली है। उन शास्त्रोंका मूल वक्ता, मूल प्रणेता कौन था, उसका यह वर्णन चल रहा है। वह थे निर्दोष इसलिए कोई झूठ बात उसमें आ नहीं सकती। वह थे सर्वज्ञ इसलिए कोई अज्ञानकृत दोषके कारण भी झूठ बात आ नहीं सकती। उनके अज्ञान है ही नहीं। वह थे हितोपदेशी सो किसी अहित बातका यहां उपदेश हो ही नहीं सकता। सम्यग्दृष्टिसे लेकर, पहली प्रतिमासे लेकर बढ़ते चले जाइये। महाव्रती हुये, क्षपक श्रेणीमें चढ़े, सभी का आचार, सभीका व्यवहार अपनी अपनी भूमिकामें हितकी ओर रहने वाला रहता है। अहित वाला व्यवहार नहीं रहा। तो प्रभु जो निर्दोष हो सर्वज्ञ हो वही हितोपदेशी है और जिसमें ये तीन गुण हों उसके द्वारा जो आज शास्त्र प्रवाह चल रहा है वह पूर्ण प्रामाणिक है। जो लोग इन शास्त्रोंके अध्ययनमें नहीं है और न प्रयत्न करना चाहते कि हम कुछ सीखें, अध्ययन करें, जिससे हमें विदित हो कि शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है वह वस्तुस्वरूपके अनुसार लिखा है। जैन शासन कहो, या विश्वधर्म कहो। विश्व मायने समस्त पदार्थ उनको बताने वाला, उनके धर्मको जताने वाला यह शासन है। ऐसे परम्परासे चले आये हुए इन शास्त्रोंके अध्ययनसे हम अपने कल्याणकी बात पाते हैं।

आप्तकी पुरुषोत्तमता—वे आप्त मनुष्य हैं। अरहंत भगवान मनुष्य हैं जिनकी हम पूजा करते

हैं मूर्ति बनाकर। वे मनुष्यगतिके जीव हैं। अब आप देखिये मनुष्य मनुष्यमें कितने भेद पड़ गए हैं। कोई मनुष्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि खुद व्याकुल ऐसी स्थितिमें है तो कोई मनुष्य यथार्थ वान और श्रद्धान पाकर कुशल बना, सावधान बना है और वह अनन्त संसार वाले कर्मोंको नहीं बांधता। एक वह मनुष्य है। और एक वह मनुष्य है जो आत्मानुभव करनेकी दिशा में बढ़ रहा है और अपनी भूमिकाके अनुसार अणुव्रत धारण कर रहा है और उसमें ११ प्रतिमाके भेद और एक वह मनुष्य जिसका किसी प्रकारका शल्य नहीं है। किसी बाह्य पदार्थमें अटका हुआ नहीं है मुनि है, महाव्रती है, शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है तो एक ऐसा मनुष्य। और वही मुनीश्वर जब अपने आत्मा पर एक कब्जा प्राप्त कर लेते हैं तो वे श्रेणीमें बढ़ते हैं। जहां शुद्ध ध्यान है। रागद्वेषकी प्रवृत्ति नहीं है, एक तो वह मनुष्य और एक वह मनुष्य कि जिसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है, जिसकी दिव्य वाणी सुननेके लिए स्वर्ग खाली हो जाता है। देव लोग आ जाते हैं। खाली होनेका मतलब बिल्कुल खाली नहीं किन्तु वहां कोई चहल पहल नहीं रहती, सब विक्रिया ऋद्धिसे भगवानके समवशरणमें आ जाते हैं। कैसी समवशरण की रचना, कैसी परम वैराग्यकी मुद्रा, एक वह मनुष्य है। तो मनुष्योंके अनेक भेद हैं। जिन आप्तका हम वर्णन कर रहे हैं वे आप्त हैं मनुष्य, किन्तु मनुष्योंमें अलौकिक मनुष्य हैं, जिन्हें मनुष्य न कहकर भगवान कहियेगा। ये अनन्त ज्ञान द्वारा सबको जानते हैं। अनन्त दर्शन द्वारा सबका अवलोकन करते हैं। अनन्त शक्ति द्वारा सर्व इन अनन्त गुणोंको, अनन्त विकासोंको सम्हाले हुए हैं। अनन्त आनन्द द्वारा अद्भुत अलौकिक आनन्दको भोग रहे हैं। तो ऐसे लोकालोकमें व्याप्त हो जानेसे याने जिनका ज्ञान इतना बढ़ा चढ़ा है कि उसमें सारे लोकालोक प्रतिबिम्बित हो गए तो ऐसे व्याप्त हो जानेके कारण जो अन्य दीन मनुष्योंमें आत्मरूप न पाया जाय, ऐसे आत्मस्वरूपसे वे देदीप्यमान रहते हैं। ये प्रभु देवाधिदेव मनुष्य पर्यायमें रहने वाले अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति आदिक गुणोंके कारण ये आप्त कहलाते हैं। उनकी वाणी है यह सब जो कि आज अनेक शास्त्रोंके रूपमें फैली हुई है।

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ ६॥

आप्तकी क्षुधादोषरहितता—इससे पूर्व श्लोकमें आप्तका लक्षण कहा गया है जो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी हो उसे आप्त कहते हैं। आप्तके मायने है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना बनी है। तो वह मूल वक्ता आप्त अरहंत भगवान तीर्थंकर निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। जो निर्दोष होगा सो ही सर्वज्ञ बनेगा। जो निर्दोष और सर्वज्ञ होगा वही सच्चा उपदेश कर सकेगा। जो केवल निर्दोष है, सर्वज्ञ नहीं उन निर्दोषके मायने है कि रागद्वेष क्षुधा तृषा आदिक दोष न हों, तो ऐसे तो पुद्गल द्रव्य भी हैं। पुद्गल द्रव्यमें भूख प्यास रोग शोकादिक कुछ भी नहीं हैं तो वे आप्त हो जायेंगे क्या? तो निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो तब आप्त बनता है। तो निर्दोष और सर्वज्ञ तो सिद्ध भगवान भी हैं तो क्या वे आप्त कहलाते है? भले हो वे आप्तसे बड़े हैं मगर आप्त नहीं है आप्त उन्हें कहते

हैं जिनकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना होती है। तो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो हितोपदेशी हो वही आप्त हो सकता है। तो निर्दोषके मायने क्या है? कौनसे दोष नहीं हैं इसका विवरण करनेके लिए यह श्लोक आया है। जिसमें ये १८ दोष नहीं हैं वह आप्त कहलाता है। (१) पहला दोष बताया है क्षुधा। जिस भगवानको भूख लगती है वह भगवान भगवान भी कहां हैं और वह आप्त भी कैसे हो सकता? क्षुधामें विह्वलता होती है। बुद्धि भी हीन हो जाती है। शक्ति भी घट जाती है। और भूख मेटनेके लिए भोजन करना होता है, तो उसमें रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनती है। तो जो भोजन करता हो वह भगवान ही नहीं, फिर आप्त कैसे हो सकता है?

प्रभुके क्षुधा माननेपर दोषोंका भार—कुछ लोग भगवानको भोजन करने वाला मानते हैं। सो मोटी दलीलोंसे भी साबित होता है कि जो अनन्त शक्ति वाला आत्मा होगा वह भोजन क्यों करेगा? रही एक यह बात कि भोजनके बिना देह कैसे टिका रहेगा? सो यह सब जीवोंकी अलग-अलग बात है। देवताओंका भोजनके बिना शरीर टिका रहता है। ये जब मुनि अवस्थामें थे और जब क्षपक श्रेणीमें चढ़ने लगे तो अप्रमत्त विरतमें, अपूर्वकरण में और ऊंचे गुणस्थानोंमें पाप प्रकृतियाँ बदलकर पुण्य प्रकृतियां हो रहीं तो पुण्य प्रकृतियोंका आधिक्य है। पाप प्रकृति केवल नाम पर चलती है १३ वें गुणस्थानमें। उससे वेदना नहीं हो सकती। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें केवली भगवानको आहार करने वाला माना है। तब सोचा जाय तो आहार वह करते हैं मानो तो सबके देखते-देखते करते या लुक छिपकर? अगर देखते-देखते करें तब तो लोगोंके चित्तमें भगवानके रूपसे श्रद्धा न रहेगी, एक केवल साधु जितनी ही श्रद्धा रहेगी। छुपकर करें तो उसमें कपटका दोष है। रोज-रोज आहार करते या दो चार दिन बाद करते? अगर रोज-रोज आहार करते तो इसके मायने है कि रोज-रोज उनका शारीरिकबल घट जाता है। या कुछ दिन बाद करते हैं तो उतने दिन तक शरीरका बल रहा फिर क्षीण हो गया, शक्तिहीन हो गया तब आहार करते। वे आहार करते तो उस आहारका ज्ञान उन्हें केवल ज्ञानके द्वारा होता है या रसनाइन्द्रिय द्वारा? अगर कहो कि उसका ज्ञान अनुभव तो केवलज्ञान द्वारा होता है तो केवलज्ञान द्वारा तो बाहर कहीं भी पड़ा रहे अन्न भोजन उसे भी जान जायेंगे। खानेकी भी जरूरत क्या रही? अगर कहो कि रसना इन्द्रिय द्वारा वे श्वांस लेते, ज्ञान करते तो वह तो मतिज्ञान कहलाने लगा। सर्वज्ञता न रहेगी। उनके घातिया कर्म नष्ट हो जानेसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति प्रकट होती है। सुखमें फर्क आये तो भोजन आदिक जैसी अनेक बातें करें और वहां तो अनन्त आनन्द है शक्ति भी अनन्तवीर्य है। शक्ति क्षीण कभी होती ही नहीं। किसलिए भोजनका प्रसंग है? तो प्रभु जो हो गया उसके क्षुधाका दोष नहीं होता।

प्रभुकी पिपासादोषरहितता—(२) दूसरा दोष बताया है तृषा। प्रभुके तृषाका भी दोष नहीं है। उनका देह स्फटिक मणिकी तरह शुद्ध होता है, उस देहमें क्षुधा तृषा जैसी वेदना नहीं है। उनका देह देवोंसे भिन्न हैं। क्षुधा और तृषा ये दोनों बड़ी वेदनायें कहलाती हैं। जिनमें क्षुधाकी वेदनाके तो दर्जे कहा—तीव्र और मंद। किसीके तीव्र क्षुधा लगी है, किसीके मंद क्षुधा लगी है और तृषाकी वेदनाके चार दर्जे कहे हैं—(१) तीव्र (२) तीव्रतर (३) मंद (४) मंदतर याने अत्यन्त हल्की प्यास, हल्की प्यास, तेज

प्यास, बहुत तेज प्यास। इससे मालूम होता कि क्षुधाकी असातासे तृषाकी असाता और अधिक होती है। थोड़ी सी भूख लगी हो तो भूखका अनुभव नहीं होता।जबकि जरा सी भी प्यास लगी हो उस प्यासका पता पड़ जाता है कि हमको प्यास लगी है। क्षुधा और तृषा दोनों ही वेदनायें हैं। आप्त भगवानके ये दोष नहीं होते।

आप्तकी जरातङ्कदोषरहितता—(३) तीसरा दोष है बुढ़ापा। बुढ़ापा बड़ा दोष हे। बुढ़ापा स्वयं रोग है। शरीर क्षीण है। इन्द्रियां काम करती नहीं। मन भी प्रबल नहीं रहा। तृषा बढ़ जाती है। ऐसी स्थितियोंमें वृद्धावस्थामें बड़ा कष्ट होता है। ज्ञान हो तो ज्ञानबलसे वह कष्ट न मानेगा, पर ज्ञान जिसके नहीं है तो वह उसमें बड़ा कष्ट मानता है।तो बुढ़ापा अरहंत भगवानके नहीं है। आप्तमें नहीं है ये सभी दोष अरहंतके, भगवानके नहीं हैं। चाहे वह आप्त हो या नहीं। सभी अरहंत आप्त नहीं कहलाते। कोई उपसर्ग सिद्ध हुए हैं। उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी, उनसे आगमकी परम्परा बनी ही नहीं, पर ये १८ दोष सभी अरहंतोमें नहीं पाये जाते। चौथा दोष है रोग। इस शरीर सम्बंधी व्याधि। शरीरमें करोड़ों रोग बताये गए? अब करोड़ों रोगोंका कौन नाम लेता फिरे। इसलिए कुछ मुख्य-मुख्य रोगोंके नाम आयुर्वेदमें बताये गए। पर रोग शरीरमें उतने होते जितने कि शरीरमें रोम, और उससे भी कई गुना अधिक समझो। तो अरहंत भगवानके स्फटिक मणिकी तरह देह होता है। वहां निगोद जीव तो रहते ही नहीं हैं। कोई भी त्रस जीव वहां नहीं पाये जाते। अरहंत भगवानके शरीरमें किसी भी प्रकारका रोग नहीं है। किसी मुनिको अगर रोग भी हो पहले और उसे केवलज्ञान हो जाय। अरहंत हो जाय तो वहां रोग नहीं रह सकते। इसी तरह कोई अंग खराब हो जाय और उस मुनिके केवलज्ञान हो जाय तो फिर उसका वह अंग सही सुदृढ़ हो जाता है।

आप्तकी जन्ममरण दोषरहितता—(५) ५ वां दोष बताया है जन्म। जन्म होनेमें इतना कष्ट है कि जिसका जन्म हो रहा वह अबोध जैसा है। उस समयके कष्टोंको वह बता नहीं सकता। जब बताने लायक हो जाता है तब जन्मके समयकी बातें भूल जाता है। और जन्मके समयमें मरणसे कम दुःख नहीं हैं जन्म वास्तवमें तो जिस क्षण जीव उस भवमें आया गर्भमें आया उसे कहते हैं और रुढ़िमें गर्भसे निकलनेकी स्थितिको जन्म कहते है। गर्भमें आया तब भी दुःख था और गर्भसे निकल रहा उस समयकी तो बहुत बड़ी वेदना। तो जन्मका दोष अरहंत भगवान के नहीं है अर्थात् अरहंत प्रभु अब जन्म धारण न करेंगे। खोटे जन्म न लेंगे यह तो है ही मगर लोकमें जो अच्छे जन्म माने जाते इन्द्र होना, चक्री होना आदि ये भी जन्म नहीं होते। उनके आयु कर्म समाप्त होनेके बाद कोई कर्म रहते ही नहीं हैं तो जन्म कैसे हो? (६) छठा दोष है अंतक अर्थात् मरण। अरहंत भगवानके आयुका क्षय तो होता है पर उसे मरण नहीं कहते। मरणकी रूढ़ि है कि जिसके बाद जन्म होवे ऐसे मरणको मरण कहते हैं। अरहंतकी आयुका विनाश होनेके बाद उनका जन्म नहीं होता इसलिए उसे मरण संज्ञा नहीं दी। वैसे शास्त्रोंमें निर्वाणका नाम पंडित पंडित मरण कहा है अर्थात् वह भी इस भवकी दृष्टिसे तो मरण ही कहलाया, पर जन्म नहीं होता इसलिए मरण नहीं कहते। भगवान महावीर स्वाकीका निर्वाण हुआ तो कोई यह तो नहीं कहता कि दीवालीको महावीर स्वामी मर गए। उनके मरनेका नाम कोई नहीं लेता।

भले ही आयुका क्षय हो पर अगला जन्म न होनेसे मरण नाम नहीं और वह मृतक देह भी पड़ा नहीं रहता इसलिए भी मरण नाम नहीं।

आप्तकी भयस्मय दोषरहितता—(७) अरहंत भगवानके ७ वां दोष भय नामका भी नहीं है। डरे कौन जो निर्बल हो, ऐश्वर्यहीन हो। भगवान तो अनन्त वीर्यके धारी हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है। जिसमें कभी बाधा ही नहीं आ सकती। बाधा किसी पर पदार्थसे किसीकी नहीं हुआ करती, मगर मानते हैं इसलिए बाधा है। बाह्य पदार्थ जहां पड़े हैं पड़े रहने दो, आना हो आयें, जाना हो जायें। उनसे कोई वास्ता ही नहीं इस जीवका। यहां तक कि यहांके संसारी जीवोंको शरीरमें कुछ हो गया तो उससे कहीं आत्मा को बाधा नहीं आती। पर शरीर मेरा है, मैं शरीर हूं ऐसा शरीरके साथ जो एकत्व बुद्धि लगी है उसके कारण यह बाधा मानता है और दुःखी होता है। प्रभुके बाधा न होना बिल्कुल स्पष्ट है। प्रभुके भयका नाम नहीं। यदि प्रभुके भय होता तो वे बढ़ियासे बढ़िया हथियार भी रख सकते थे। जैसे कि अनेक लोगोंने अपने प्रभुको हथियारधारी माना, धनुष लेना, बर्छी रखना, त्रिशूल रखना, फरसा रखना ऐसी बातें की हैं। भले ही जो भगवान होते अरहंत होते उन्होंने गृहस्थावस्थामें शस्त्र धारण किया, वे क्षत्रिय थे, लड़ाईमें जाते थे, शस्त्रोंका प्रयोग किया था, मगर साधु होनेपर शस्त्रोंका भी त्याग हो जाता। यदि कोई साधु शस्त्र रखे तो उसके रागद्वेष स्पष्ट है। साधु तो अपने आत्मा की साधनाके लिए हुआ है। आत्मसाधनामें किसी बाहरी चीजकी जरूरत ही नहीं। कमण्डल और पिछी तो संयमके लिए रखते हैं, शुद्धिके लिए रखते हैं और न ही पिछी कमण्डल तो भी मुनिपना मिटा नहीं। वह मुनि कहलायगा, पर गमनागमन नहीं कर सकता। बैठे हैं ध्यान करें, आहार चर्या आदिक न करेंगे, पर मुनिपना नहीं मिटता। यदि कमण्डल पिछी न हों तो वह कहीं मुनिपना नहीं खतम हो जाता, वे सब तो हैं चर्या, गमन शुद्धिके लिए। इतने काम रुक जायेंगे इसलिए रखते हैं, पर साधुको तो एक अणु मात्र भी कुछ रखनेका प्रयोजन नहीं है वह अपने आपमें आत्मदृष्टि करके प्रसन्न रहा करता है। वह तो भगवानके स्परणके लिए उसने सब कुछ त्यागा है। तो जब वहां ही शस्त्र नहीं है तो फिर प्रभु होने पर शस्त्रोंका लगाव बन ही कैसे सकता है? प्रभु निर्भय हैं इस कारण उनके पास शस्त्र नहीं हैं। और अनन्त शक्तियोंके धारी हैं। वहां भयका क्या काम? (८) एक दोष है स्मय। स्मय मद करने को कहते हैं। किसी भी बात पर मद किसे होता? जिसके ज्ञान न हो। कोई भी घटना, थोड़े ज्ञान आदि की घट गई, अब उस घटनाको निरखकर मद किसे होगा? जिसको पहले कुछ भी ज्ञान आदि नहीं है। और अचानक कुछ दिखा तो उसे मद होगा। भगवानको तीन लोक तीन कालका सब कुछ ज्ञान है। अब उसे मदका अवकाश ही कहां रहेगा? प्रभुके मद नहीं होता।

आप्तकी रागरहितता—प्रभुके राग नहीं। राग होता है तुच्छ प्राणियोंके, अल्पज्ञ प्राणियोंके। किसी भी जीव या जीवके प्रति राग करने, प्रीति करनेके परिणाम रखना यह तो उसकी अनुदारताका सूचक है। प्रभुके राग नहीं होता। लोग कहते हैं कि प्रभु भक्तोंकी सम्हाल करते हैं या भक्तोंको मनोवाञ्छित फल देते हैं। यह सब बात सही नहीं है। तब फिर लोग भक्ति करते ही क्यों हैं। भक्ति करनेका कारण यह है कि जो विवेकी जीव हैं वे तो मुक्ति चाहते हैं और मुक्तिके मार्गके लिए चाहिए

अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना और प्रभु प्रकट अविकार हैं ज्ञानमात्र और ज्ञानसे परिपूर्ण हैं। तो उनके स्वरूपको निरखकर अपने आत्माके स्वभावकी दृष्टि दृढ़ करना इस प्रयोजनके लिए विवेकी जन भगवानकी भक्ति करते हैं और जिनके विवेक नहीं और कदाचित् थोड़ी बहुत सांसारिक भावना भी है तो प्रभुकी भक्ति करनेसे अपने आप अपने अनेक भवोंके पाप बदल जाते हैं। पुण्यरूप हो जाते हैं। नवीन बंध पुण्यका बंधता है, सो अब पुण्यका उदय आने पर उन्हें इष्ट सामग्री मिलती है। तो चूंकि शुभ भावोंके आश्रयभूत भगवान हैं सो लोग यों कहने लगे कि भगवानने सब कुछ सुविधा दी। अरे भगवान तो अपने अनन्त ज्ञान अनन्त शक्तिमें लवलीन रहते हैं। उनको क्या प्रयोजन है कि बाहर कोई रागद्वेष करे। जो लोग भगवान को ऐसा मानते हैं कि भगवान सुख देता है, स्वर्ग नरक भेजता है, फैसला करता है वह कर्ता बना हुआ है तो ऐसा मानने वालोंको भगवानमें भक्ति जगेगी ही नहीं। तो फिर करते हैं सो क्या बात है? वे डर के मारे करते हैं कि भगवान नरक न भेज दे या आस्थाकी वजहसे करते हैं कि भगवान सब कुछ देने वाले हैं सो भगवानकी भक्ति करें तो आशासे या भयसे कोई उपासना करे, सेवा करे तो वह भक्ति नहीं कहलाती। भक्ति तो गुणोंके अनुराग होनेका नाम है। वहां गुणानुराग है नहीं। भय और आशा लगी हुई है। तो भगवानका स्वरूप नहीं है ऐसा कि वह राग किया करे। प्रभु राग नामके दोषसे रहित हैं।

आप्तकी द्वेषमोहरहितता—(१०) प्रभुमें द्वेषका भी दोष नहीं है। वैसे राग और द्वेष दोनों ही एक दर्जे के हैं। मलिनतायें हैं, कलंक हैं, पर लोगोंका ऐसा ख्याल है कि द्वेष तो रागसे भी अधिक बुरी चीज है। प्रभु किसी से द्वेष करें, यह सम्भव नहीं। भगवानके द्वेष नामक दोष भी नहीं है। (११) प्रभुके मोह नहीं है। मोह कहलाता है अज्ञानभाव। परपदार्थके प्रति लगावका परिणाम। प्रभु तो अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं, वे क्यों किसी वस्तु का लगाव रखेंगे? उनका ज्ञान तो पूर्ण निर्मल है, वे क्यों खोटा ज्ञान बसायेंगे? तो प्रभुके मोह नहीं है। इतने दोषोंके नाम इस श्लोकमें कहे गए हैं, किन्तु ये सब हैं केवल ११ नाम। ७ नाम और शेष रहे। तो इस श्लोकमें च शब्द लिखा है। मायने और और भी हैं, तो शेष दोषोंके नाम, इस च शब्दसे ग्रहण किए गए हैं। वे क्या हैं? सो आगे सुनिये।

आप्तकी चिन्तारतिनिद्राविस्मयषिदस्वेदखेदरहितता—(१२) चिन्ता—किसी भी बातकी चिन्ता करना। न भक्तकी चिन्ता न किसीकी खराबी करनेकी चिन्ता, चिन्ता नामकी कोई बात ही नहीं है। शुद्ध आत्मा हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दमय आत्मा है। वहां चिन्ताकी बात ही नहीं। वे तो ऐसा शुद्ध परिणम रहे हैं कि जैसे धर्मादिक द्रव्य अपनेमें शुद्ध परिणमते हैं। वहां अशुद्धताकी गुंजाइस भी नहीं। तो ऐसे जिनके कोई उपाधि न रही उनकी चिन्ता आदिक जैसे विकारोंकी गुंजाइस ही नहीं। (१३) तेरहवां दोष है रति, प्रीति करना, किसी बातका इन्ट्रेस्ट (दिलचस्पी) लेना, यह रतिनामक दोष अरहंत भगवानके नहीं होता। (१४) चौदहवां दोष है निद्रा। नींद आना। नींदमें मनुष्य अचेत हो जाता, नींद तब आती है जब कोई थक जाता, सो प्रभुका जो काम है केवल जानना ही जानना वह जो स्वभावकी क्रिया हो रही है, उससे थकते नहीं हैं और कुछ कार्य वे करते नहीं, फिर निद्राका कारण क्या? निद्रा आनेका निमित्तभूत दर्शनावरण कर्म उनके रहा ही नहीं है तो प्रभुके निद्रा नामका दोष

नहीं होता। (१५) पंद्रहवां दोष है विषाद। शोक रज ये प्रभुके नहीं होते। धर्मास्तिकाय पदार्थोंकी तरह वे शुद्ध परिणम रहे हैं उनको विषादका प्रसंग ही क्या है? (१७) सत्रहवां दोष है पसेव। प्रभुके शरीरमें पसीना नहीं आता। स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ शरीर होता। (१८) अठारवां दोष है खेद, व्याकुलता। यह भी दोष प्रभुमें नहीं होता, प्रभुके चार घातिया कर्मोंका विनाश हो गया है। जिसके ये सभी दोष नहीं होते वह आप्त कहलाता है, सभी अरहंतोंके ये १८ दोष नहीं होते।

परमेष्ठी परंजयोनिविरांगो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते॥ ७॥

अज्ञानी जीवको उद्धारके लिये धर्मोपदेशकी प्रारंभिक अनिवार्य आवश्यकता—हम आप सब जीव हैं। जिसमें मैं मैं का भीतर बोध हो रहा है वह एक चेतन पदार्थ है। किसी भी जड़ पदार्थमें मैं का अनुभव नहीं होता। जिसमें मैं का अनुभव चल रहा वह मैं हूं, मैं अमुक हूं आदिक रूपसे जिसमें मैं का अनुभव चलता है वह मैं जीव हूं। यह मैं जीव आज इस हालतमें हूं। कभी मैं किस किस पर्यायमें था उसका परिचय संसारके अन्य जीवोंको देखकर मिल जायगा ये जो कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदिक दिख रहे, ऐसी ही शकलमें मैं था जैसे कि और जीव हैं। उन सब भवोंमें कितना कष्ट है सो सब देख ही रहे हैं। झोंटा, बैल, गधा, खच्चर आदि लदा करते हैं, बूढ़ें भी हैं तो भी जुट रहे हैं। चल भी रहे हैं तो भी उन पर लाठी चल रही है। कितना बोझ लादते हैं, पराधीन हैं। जब खाना पीना दे दिया मालिकने तब ले लिया नहीं तो बंधे पड़े हैं। प्रत्येक भवमें देख लो बड़े कष्ट हैं। ऐसे ही कष्ट वाले भवोंमें कभी हम भी थे। आज कुछ सुयोग है। उन बुरी गतियोंसे हटकर मनुष्यभवमें आये हैं। तब यह बात विचारना कि मनुष्य भवमें आकर यदि पशुओं जैसे काममें ही जीवन गुजार दिया तो अब मनुष्यभवका लाभ क्या पाया? पशुवोंके काम किया। खाना-पीना, निद्रा लेना, डरना, विषयसेवन करना, इतने काम मनुष्य भी कर रहे तो इन मनुष्योंमें और पशुवृत्तिमें फिर कोई अन्तर न रहा। मनुष्यकी विशेषता है ज्ञानप्रकाश पा लेना, वह धर्म ज्योति पा लेना जिसके पानेसे संसारके संकट दूर होते हैं। तो ज्ञान लाभ कहो धर्मलाभ कहो एक ही बात है। मैं अपने आपके सही स्वरूपको जान लूं फिर संसारमें संकट न रहेगा। हम अपने स्वरूपको जानते नहीं और इस बाहरी भेषको, इस शरीरको मानते हैं कि यह मैं हूं। इसकी वजहसे सारे संकट इस जीवको लद जाते हैं। तो कर्तव्य क्या है कि मैं अपने वास्तविक स्वरूपको जानूं। वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो मुझे इसके लिए सर्वप्रथम देशनाकी आवश्यकता होती है, देशना अर्थात् धर्मोपदेश। इस जीवका जब भी उद्धार होता है तो उपदेश सुननेके बाद फिर उद्धार होता है। भले ही कोई मनुष्य आज इतना संस्कारवान हो कि किसीका उपदेश न सुहाये और उसे ज्ञान मिल जाय। सम्यक्त्व हो जाय तो भी समझिये कि आज नहीं तो पहले भवमें उसने कोई उपदेश पाया था जिसके बलसे ज्ञान बना और आज उस संस्कारसे स्वयं ही ज्ञान लाभ लिया। तो धर्मोपदेशका बड़ा महत्त्व है।

धर्मोपदेशका प्रयोजन दुःखनिदान मोहसे छुटकारा—इस श्लोकमें यह बात बतायी जा रही

है कि वास्तवमें धर्मोपदेशका अधिकारी कौन पुरुष है? धर्मोपदेश देनेके अधिकारी हैं भगवान सर्वज्ञ, जहां कुछ भी भूल नहीं है। उससे पहले जो ज्ञानी पुरुष हैं वे भी धर्मके अधिकारी हैं, उपदेश देने वाले हैं, पर भगवानकी वाणीकी परम्पराके अनुसार ही उपदेश देने वाले होते हैं। उपदेशमें क्या बात मुख्य आती है? पदार्थका सही-सही स्वरूप जान लेना। लोग कहते हैं कि मोह हटावो। मोह ही दुःखकी जड़ है, अब बतलावो वह मोह कैसे हटेगा? कोई उपाय तो बतावो जिससे मोह हटे। जीवन भर कहते आये कि मोह हटावो सब बेकार है, मरने पर सब कुछ छूट जायेगा, सार कुछ नहीं है इस समागममें और जितना मोह करते हैं उतना ही हम कष्ट पाते हैं इसलिये मोहको दूर करनेके विषय में लोग रोज-रोज कई बार कह लेते अब बताओ वह मोह कैसे दूर होगा? घर छोड़ दिया तो मोह दूर हो गया क्या, कुछ पता है क्या? घर छोड़ने पर भी चित्तमें घर बसा रहेगा तो मोह छोड़ना न कहलाया, हां घर छोड़ना कहलाया, प्रभुकी भक्ति करते हैं जैसा कि लोग किया करते हैं, तो उस भक्तिसे मोह छूट पाया क्या? उस भक्तिमें न जाने क्या क्या लोगोंके ख्याल रहा करते हैं। कोई सोचता है कि प्रभु हमको धन दिला देंगे या प्रभुकी भक्तिके प्रसाद से हमको वैभव मिलेगा। तो बतलावो उसने भक्तिमें मोह छोड़ा या बढ़ाया? कोई पुरुष इतना विवेकी हो कि प्रभु भक्तिमें केवल यही भाव रखे कि प्रभु मैं भंव-भवमें आपका भक्त रहूं··· इन भावोंसे भक्ति कर रहा तो भी उसने क्या मोह छोड़ दिया? नहीं छूट सका। व्रत उपवास आदिक भी करे कोई अब अमुक पर्व आया, व्रत करें, उपवास करें, ऐसा करके भी मोह छूट पाता है क्या? यह बात अपने मनसे सोचो, करते तो सब थोड़ा-थोड़ा, पर मोह छूटा क्या? मोह इस उपायसे नहीं छूटता। तो मोह छूटनेका उपाय क्या है? तत्त्वज्ञान, मोह होता है, बाहरी चीजोंसे, इन दिखने वाले बाहरी पदार्थोंसे, तो इनसे मोह छोड़ना है, कैसे मोह छूटेगा कि इनका सही ज्ञान करलें तो स्वयं मोह छूट जावेगा। जब तक हम पुत्रके बारेमें उल्टा ज्ञान रखते हैं तब तक मोह बढ़ता है और उसका सही ज्ञान कर लें तो मोह छूट जाता है।

मायाका मायाके रूपमें परिचय होनेकी सम्यग्ज्ञानरूपता—वह सही ज्ञान क्या है जिससे मोह छूटता है? वह सही ज्ञान है हम पहले यह जानें कि वास्तवमें जो कुछ दिखता है वह सचमुचमें पदार्थ है या यह झूठ है और असलमें क्या है? तो सुनो—जो भी दिख रहा है वह कोई परमार्थ पदार्थ नहीं है। वह सब माया रूप है। यहां सत्य कुछ नहीं दीख रहा। जो दिख रहा है वह कुछ भी सत्य नहीं है। वह माया स्वरूप है। वास्तविक पदार्थ नहीं है, तो वास्तविक पदार्थ क्या है, और माया रूप क्या है इन दोनोंका अन्तर जानें। मायाका क्या अर्थ है कि अनेक पदार्थ जुड़कर जो बने उसे माया कहते हैं। यह मायाको लक्षण है, और इस कुञ्जीसे ऐसा सब जगह समझते जावो। जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हुआ हो वह माया है और जो अकेला ही एक पदार्थ हो, जिसमें दूसरा पदार्थ न जुड़ा हो वह पदार्थ है। वास्तविक है, सही है। ये दो बातें खूब ध्यानमें रखियेगा। अब घटावो—आपको क्या दिखता है? यह भींट दिख रही है। तो बताओ यह भींट एक चीज हैं या अनेक चीजें मिलकर बना हुआ रूप है। यह एक चीज नहीं है, यह अनेक चीजोंका मिलकर बना हुआ रूप है। यह कितने पदार्थोंसे मिलकर बना है? ये भींट, चटाई, दरी आदिक जो कुछ भी दिख रहे ये अनंत परमाणुवोंसे

मिलकर बने हैं। यह भी ध्यान रखें कि ये हजार ईंटें मिलकर भींट बनी, अरे ईंट भी खुद-खुद नहीं हैं। ईंट भी खुद अनन्त परमाणुवोंका पिण्ड है। जो दिख रहा उसके टुकड़े बनाते जाइये, आखिरी टुकड़ा जब आपसे बन जाये उसमें भी अनगिनते टुकड़े होंगे उन्हें आप न कर पायेंगे, वे स्वयं होंगे। ऐसे टुकड़े बनाते जायें जो अन्तमें एक अविभागी अंश बनेगा वह है एक पदार्थ। उसे कहतें हैं परमाणु। तो जितना जो कुछ दिख रहा है यह सब माया रूप है और इसमें परमार्थरूप चीज क्या है? एक परमाणु, ऐसा परमाणु कि जिसका कोई दूसरा हिस्सा न हो सके वह परमार्थ है। बताओ—कोई परमार्थसे प्रीति करता है क्या? सब मायासे प्रेम करते हैं, परमार्थसे प्रेम करने वाले कोई नहीं हैं। जो केवलज्ञानी सिद्ध प्रभु होंगे, वे परमार्थकी दृष्टि रखते। और ये संसारी जीव इस मायामें दृष्टि रखते हैं।

प्राणियोंकी मायारूपता व परमार्थके परिचयका महत्त्व—अच्छा बताओ जो जहां बैठे हुए हैं मनुष्य या जानवर वगैरह जो कुछ दुनियामें हैं, ये वास्तविक हैं या माया रूप हैं? ये सब माया हैं। तो हम आप जितने बैठे हैं ये सब भी माया हैं। इसमें वास्तविक कोई नहीं है क्योंकि मायाका लक्षण बताया है कि जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हो उसको माया कहते हैं। आप बैठे, हम बैठे, ये अनेक पदार्थ मिलकर बने हैं। कितने पदार्थ मिल गये हैं? एक तो जीव है और अनन्त शरीरके परमाणु हैं और अनन्त ही कर्मके परमाणु हैं, इन सबका मिलकर यह रूप बना है जो हम आम बैठे दिख रहे हैं। तो यह सब भी माया है। मायासे प्रीति करनेमें हित नहीं है, क्योंकि यह विनश्वर है, जबरदस्ती अपना माना जाता है। क्योंकि किसीका साथी नहीं है, पर जबरदस्ती मानते हैं तो परमार्थ पर दृष्टि दें—केवल एक-एक परमाणु, एक-एक जीव ये सब स्वतन्त्र हैं। एक का दूसरा कुछ नहीं लगता। सबका अपना-अपना अस्तित्व है, सब अपने-अपने स्वरूपमें परिणमते हैं। कोई किसीका करने वाला नहीं। भोगने वाला नहीं। सब अपने-अपने परिणाम को करते हैं, अपने-अपने भावोंको भोगते हैं। किसीका कोई स्वामी नहीं। परमार्थ दृष्टि करके जब ऐसी स्वतन्त्रताका ज्ञान होगा तो मोह टूटेगा और इस स्वतन्त्रता का ज्ञान किए बिना मोह टूट नहीं सकता अन्य चाहे कितने ही उपाय करलें। यह तत्वज्ञान प्रभुसे प्राप्त हुआ है।

तत्त्वज्ञानके विरुद्ध चलनेमें संकटोंका भार—तत्त्वज्ञानके विरुद्ध जो चल रहे वे सब जन्म लेते, मरण करते, जन्म और मरणके बीच जितनी आयु मिली है उसमें अनेक संकट सहते हैं। जीना। जिन्दगीमें बड़े-बड़े कष्ट सहना। मरना, फिर दूसरा जीवन पाना, जिन्दगीमें अनेक संकट सहना, मरना, बस इसी धारामें चलते आ रहे हैं सब जीव। अपनी भी बात विचारो। क्या यही करते रहना मंजूर है? अगर जन्म मरण जिन्दगीके संकट ये ही मंजूर हैं तो उसका उपाय तो यही है जो करते आ रहे। मोह करते जायें, संकट मिलते जायेंगे। और यदि यह संकट न चाहिए तो मोहको दूर करना है, यह उपाय करना होगा। सब अपनी-अपनी बात विचारो, धर्म मिलजुल कर नहीं होता। धर्म अकेले को मिलेगा, अकेलेसे होता है, कोई दो आदमी मिलकर धर्म नहीं करते। सबका धर्म अपने अपने आत्मामें है, अपने-अपने भावमें है। अपने भाव सुधारिये, ज्ञान प्रकाश लीजिए और आनन्द प्राप्त करिये, जो ऐसा नहीं करता वे जीव चार प्रकारकी विपत्तियोंसे घिरे हुए हैं। यहां भीतरी विपदा बतला रहे हैं कि वे चार पद क्या हैं? कोई माने या न माने, हैं वह विपदा। पहली विपदा है अहंकार। शरीर मैं नहीं,

शरीर तो अशुचि पदार्थका पिण्ड है मगर इसे निरखकर माननाा कि मैं, बस अहंकार बन गया, मूढ़ता है। जहां यह मोह है, जहां यह मूर्खता लगी है कि मैं हूं तो एक ज्ञानानन्द स्वभाव वाला आत्मा और मान रहा हूं इस अशुचि पिण्ड देहको कि यह मैं हूं, वे मूढ़ हैं और संसारमें भटकने वाले हैं। जगह-जगह उसको विपदा है, जो भी यह कार्य करेगा उस ही में आकुलता बढ़ेगी, क्योंकि इसका आधार उल्टा है। शरीर को मानता है कि यह मैं हूं। 'देह जीवको एक गिने बहिरातमतत्त्वमुधा है'। सबसे पहले यह गलती दूर करना है। इस गलती को दूर किये बिना धर्म रंच भी न होगा, हां पुण्य हो जायेगा। पुण्य तो एक किसी जीव पर दया करने से भी हो जाता है। भगवानकी भक्ति, गान तान, नृत्य उद्यम आदिक करनेसे भी पुण्य हो सकता है, पर धर्मका मार्ग न मिलेगा। जब तक मिथ्यात्व दूर न हो तब तक धर्मका रास्ता नहीं है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको सर्वत्र मिलने वाली आपदावोंमें प्रथम आपदा अहंकार—मिथ्यात्व है देहको आपा मानना। यह ही मूढ़ता कहो, मूर्खता कहो। किसी भी शब्दसे कहो, यह जीव इन विपत्तियोंसे घिरा हुआ है। जो इसका सही स्वरूप है वह उसके परिचयमें नहीं आ रहा, तब ऐसे मोह वालेको जगह-जगह आपत्ति है। एक छोटा कथानक है कि कोई दो स्त्री पुरुष थे, तो पुरुषका नाम तो था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। उन दोनोंमे अकसर करके लड़ाई हो जाया करती थी। एक दिन जरा तेज लड़ाई हो गई सो फजीहत घर छोड़कर भाग गई। तो वह बेवकूफ गाँवके लोगोंसे पूछता फिरे पड़ोसमें कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो सब जानते ही थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है, सो सबने कहा भाई हमने तो नहीं देखा। एक बाद किसी अपरिचित व्यक्तिसे, मुसाफिरसे पूछ बैठा—भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह मुसाफिर उसकी कुछ बात ही न समझ सका, उसे क्या पता कि फजीहत उसकी कौन थी? सो पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है? तो वह बोला—मेरा नाम है बेवकूफ। ··· अरे भाई बेवकूफ होकर तुम फजीहत कहाँ ढूढ़ते फिरते? बेवकूफके लिए जगह-जगह फजीहत है। जहाँ ही खोटा बोल दिया बस वहींसे लात, जूते, थप्पड़ हाजिर हैं। तो जैसे बेवकूफके लिए जगह-जगह फजीहत हैं ऐसे ही इस मायाके रुचियाको, इस देहको आपा मानने वालेको प्रतिक्षण संकट ही संकट है। वह शान्तिका पात्र नहीं। इसमें समय बहुत गुजर गया जिन्दगीका। अब जो कुछ थोड़ा समय है उसमें ऐसा विवेक लायें। ऐसा प्रकाश लायें कि मैं अपने वास्तविक स्वरूपको पहिचान जाऊं। देखिये जब तक चारों चीजें मिली हुई होती हैं और मिलकर उसका रूप बिगड़ भी जाय तो भी जितनी चीजें मिली हुई हैं अहंकारमें उनका वही स्वरूप है। किसीका स्वरूप मिटता नहीं है। तो यहाँ अनन्त तो शरीरके परमाणु और अनन्त कर्मके परमाणु और एक ही जीवमें सबका मिलावट है। इस मिलावटके अन्दर भी यदि हम केवल अपने जीवके स्वरूपको पहिचान लें तो इसीके मायने है ज्ञान प्रकाश। उसको फिर संकट नहीं और जो उस सहज आत्मस्वरूपमें दृष्टि नहीं कर पाता उसको संसारके संकट नहीं दूर हो सकते। तो पहली विपत्ति है अहंकार। खुद खुदमें सोचिये—करनेकी बात है और आपके आत्माकी ही बात है। कोई दूसरी बात नहीं कही जा रही।

अज्ञानी जीवपर दूसरी व तीसरी विपत्ति ममकार व कर्तृत्वबुद्धि—दूसरी विपत्ति है ममकार।

मायने जो मेरा नहीं है उसे मानना कि यह मेरा है, यह भी बहुत बड़ी भारी विपत्ति है। बोलो घर सम्पदा आपकी है क्या? यहीं देख लो—यदि घर सम्पदा आपकी होती तो आपके साथ यहां (प्रवचन सभामें) भी आती, पर यहाँ तो कुछ साथ नहीं आया, आप तो अकेले बैठे हैं। और जो आपका है वह आपका एक क्षण भी साथ नहीं छोड़ सकता। आपसे अलग है, छूटा हुआ है वह आपका कुछ नहीं है। एक उदय है पुण्यका कि कुछ वैभव पास मिल गया है तो उनको मान रहे कि यह मेरा, यह मेरा पर वास्तवमें मेरा कुछ नहीं है। मेरा तो केवल मेरे आत्माका स्वरूप है। देह भी मेरा नहीं, बाहरी चीज भी मेरी नहीं। केवल मेरा वह स्वरूप है जो इस भवको छोड़कर जाऊंगा तो पूरा का पूरा मेरे साथ जायेगा। वह तो मेरे परिणामकी चीज है, बाकी कुछ भी मेरा नहीं, बाहरी परिकर कुछ भी मेरा नहीं। कोई माने कि यह मेरा है तो यह कहलाता है ममकार। इसके कारण भी जगतके जीव दुःखी हैं। इसे हटावो।

तीसरी विपत्ति लगी है जीवको कर्तृत्वबुद्धि की। मैं ही करता हूं, इन बच्चोंको मैं ही पालता हूं, इनकी मैं खबर न रखूं तो ये जिन्दा नहीं रह सकते। कितनी ही तरहके भीतरके भाव बनें। अरे जिनका आप इतना ख्याल रखते हैं, इतनी चिन्ता करते हैं उनका पुण्य आपसे अधिक है जिसके कारण आपको उनकी चिन्ता करनी पड़ती है। बात तो असलमें यह है पर मानता है अज्ञानमें जीव ऐसा कि मैं इनको पालता हूं, इनको पढ़ाता हूं, इनको सुखी दुःखी करता हूं··· तो उसकी यह कर्तृत्व बुद्धि है, उसके कारण यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है। इसको वह रास्ता नहीं मिल रहा कि जिस वजहसे यह केवल अपनेको अकेला अनुभव कर सके। वस्तुतः कोई किसीका करनहार है नहीं।

अज्ञानी जीवपर आनेवाली तीसरी विपत्ति कर्तृत्वबुद्धि पर एक उदाहरण—एक कोई मांगने वाला जोगी था, सो वह भीख मांग रहा था। उसे भीख मांगते हुए में एक जगह मिला एक संन्यासी। उस संन्यासी ने पूछा—भाई क्या कर रहे हो? ··· महाराज जी हम भीख माँग रहे हैं। ··· भीख मांगकर क्या करोगे? घर ले जायेंगे, बच्चोंको खिला पिलाकर उनका पालन पोषण करेंगे। ··· तो क्या आप बच्चोंको पालते-पोषते हैं? ··· हां-हां हम नहीं तो और कौन पालता पोषता? ··· अरे यह तुम्हारा ख्याल गलत है। वे बच्चे सब स्वयं अपने भाग्यसे पल पुष रहे, उनका तुम कुछ नहीं करते। ··· कैसे कुछ नहीं करते? हमीं तो बच्चोंको जिन्दा रखते। ··· अरे तुम व्यर्थ किसीके कर्ता बने। चलो हमारे साथ कुछ दिके लिए छोड़ दो सब व्यर्थके ख्याल। सो वह था कुछ धार्मिक प्रकृतिका सो चल दिया उस संन्यासीके साथ। अब प्रतिदिन तो वह दोपहर तक घर पहुंचता था भीख मांगकर तब कहीं खाने पीनेका सेजा बनता था उस दिन न पहुंचा तो उसके बच्चे लोग बड़े चिन्तित हुए। इसी बीच किसी मसखरेने ऐसा भी कह दिया कि उसको तो आज बाघ उठा ले गया, खा डाला, वह तो मर गया। उसके सब बाल-बच्चोंने बड़ा रोना धोना मचाना शुरु कर दिया। पास पड़ोसके लोग जुड़े। सबने उस जोगीके मरनेकी घटना जानकर भारी खेद माना। लोगोंने विचार किया कि अब इसके घर कमानेवाला भी कोई नहीं रहा, घरमें खाने-पीने तकका सेजा नहीं हैं, अपना कोई पड़ोसी संकटमें रहे यह कैसे किसीसे देखा देख जायगा, सो सभी लोग उस जोगी के बाल बच्चोंके मददगार बने। गल्लेकी दुकान वालोंने गल्ला दे दिया, कपड़ा वालोंने कपड़ा दे दिया घी वालोंने घी दे दिया, शक्कर वालोंने

शक्कर दे दिया। अब क्या था, उसके घरका सारा रंग ढंग ही बदल गया। सब बड़े मौजमें रहने लगे। उधर वह जोगी संन्यासीके पास जंगलमें विचार करता है कि मुझे घरसे निकले काफी दिन बीत गए, पता नहीं घरमें कौन मरा होगा, कौन जीवित बचा होगा। सो वह संन्यासीसे बोला—महाराजजी, हमको घर से निकले कई दिन हो गए। आज्ञा दीजिए मुझे घर जानेकी। जाकर देखूंगा कि घरमें कौन मरा, कौन बचा। सो संन्यासी बोला—ठीक है जावो घर पर एक काम करना कि यों ही सीधे घरमें न घुस जाना, छिपकर पीछेसे मकान की छत परसे देखना।··· ठीक है महाराज, ऐसा ही करुंगा। सो जब वह जोगी पहुंचा अपने मकानके पास और पीछेसे छिपकर छत पर पहुंचा तो ऊपरसे क्या देखा कि घरके अन्दर सब बच्चे लोग हंस खेल रहे थे, अच्छे-अच्छे नये कपड़े पहने हुए थे, पूड़ी कचौड़ी पक रही थीं, यह सब दृश्य देखकर वह जोगी दंग रह गया और मारे खुशीके घरकी आँगनमें उछलकर कूद गया और बच्चोंको गलेसे लगाने लगा। उधर बच्चे लोगोंको तो पूरा विश्वास हो चुका था कि वह तो मर गया सो यह सोचकर कि यह तो उसीकी शकलमें भूत आ गया, उसे मारना, भगाना, लूगर आदिसे जलाना शुरु किया। बड़ी मुश्किलसे प्राण बचाकर वह जोगी घरसे बाहर भगा। जंगल पहुंचा संन्यासीके पास और अपना सारा हाल कह सुनाया तो वहां संन्यासी बोला—देखो मैं कहता था कि तुम किसीको पालते पोषते नहीं, सब अपने भाग्यसे पलते पुसते हैं, तुम व्यर्थ ही करनेका अहंकार करते थे। अरे जब वे खुद मजेमें हैं तो तुम्हें पूछेंगे क्यों? तो किसीका यह कहना गलत है कि मैं किसीका कुछ करने वाला हूं।

अज्ञानी जीवपर चौथी विपत्ति भोक्तृत्वबुद्धि व सर्वविपदावोंसे छुटकाराका उपाय बतानेमें सच्ची धर्मप्रभावना—चौथी विपदा जीवमें यह लगी है कि वह मानता है कि मैं परका भोगने वाला हूं, धन भोगता हूं, भोजन भोगता हूं, अमुक चीज भोगता हूं। लगता है ऐसा कि मैं आम खा रहा हूं तो आमको भोग रहा, पर वास्तविकता यह है कि आमके बारेमें जो हमने ज्ञान किया, कल्पनायें किया कि बड़ा अच्छा है, बड़ा मीठा है,··· इन कल्पनाओंको भोग रहे, कहीं जड़ पदार्थोंको यह आत्मा भोग नहीं सकता, क्योंकि आकाशकी तरह अमूर्त आत्मामें किसी चीजका सम्बंध ही नहीं बन सकता। तो ये जो चार कल्पनायें हैं उनसे यह जीव परेशान है। यह ही परेशानी सबको लगी है। तो इस परेशानीके मेटनेका उपाय है तत्त्वज्ञान। सही सही ज्ञान करना। अब तक लोग धर्मके नाम पर अनेक काम तो करते रहते हैं अनेक विधिविधान समारोह, मगर तत्त्वज्ञान मिले और वास्तविक ज्ञान जगे, इसकी ओर दृष्टि नहीं है। और, वास्तवमें पूछो तो धर्मके लिए कोई कितनी भी बाहरमें प्रभावना करे, समारोह बनाये, अनेक बातें करें पर धर्मप्रभावना उसका नाम नहीं किन्तु लोगों में यह ज्ञान बने कि वास्तविकता यह है तो उसे कहते हैं प्रभावना। ज्ञान की प्रभावना को प्रभावना कहते हैं, धनकी प्रभावनाको प्रभावना नहीं कहते। बड़े अच्छे समारोह बन गए, यह कोई सच्ची प्रभावना नहीं। सच्ची प्रभावना है यह कि अपना जो आत्मस्वरूप है वह ज्ञानमें आये, क्योंकि उससे लोग अपने आत्माका उद्धार कर लेंगे। सो ज्ञानप्रभावना ही अपनी प्रभावना है। ज्ञान प्रभावना ही धर्मप्रभावना है यह ज्ञान जगे, ऐसा उपाय बनायें

तो जीवन सफल हो जायेगा अन्यथा जो चलता आया वैसा चलता रहेगा उसमें अपनेको कुछ लाभ नहीं हैं।

देशनालब्धिका महत्त्व—संसारमें जिस भी प्राणीका उद्धार हुआ है उसका उद्धार उपदेश सुननेके बाद ही हुआ है। यह नियम है। इसे कहते हैं देशनालब्धि। सम्यक्त्वकी ५ लब्धियाँ होती हैं उनमें तीसरी लब्धि है देशना अर्थात् उपदेश मिलना जिसे सुनकर इसके भाव बढ़ें और सम्यक्त्व उत्पन्न हो। तो धर्मोपदेश अनिवार्य आवश्यक है। उसके बारेमें बतला रहे हैं कि मूल धर्मोपदेश देने वाला कैसा होता है। जो अब उपदेश चल रहा है—आचार्योंने किया मुनियोंने ब्रह्मचारियों ने किया, यह तो आपकी बात है पर किस उपदेश से लेकर यह उपदेश किया जाता है वह मूल उपदेश उसका देने वाला कौन हैं, यह बात बतलाते हैं। संक्षिप्त उत्तर तो यह है कि जो तीर्थंकर हैं या विशिष्ट अरहंतदेव हैं, जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है उनकी दिव्यध्वनिसे उपदेशकी परम्परा चली है इसीलिए मूलवक्ता तीर्थंकर महाराजको बताया जाता है।

तत्त्वके मूल उपदेष्टाका परमेष्ठित्व—जो भी मूल उपदेश देने वाले हैं वे परमेष्ठी हैं। परमपदमें स्थित हैं। सबसे उत्कृष्ट पद कौनसा है? सबसे उत्कृष्ट पद इस लोकमें जिनेन्द्रदेवका है। जिनेन्द्रदेव मनुष्य ही हैं। जब तक सिद्ध भगवान नहीं बनते तब तक वे मनुष्य कहलाते हैं। अरहंत भगवान मनुष्यगतिमें हैं मगर पुरुषोत्तम हैं। याने उन जैसा मनुष्य कोई होता नहीं है। इस लोकमें सर्वोत्कृष्ट पद है जिनेन्द्रदेवका, अरहंतदेवका वे उस उत्कृष्ट पदमें स्थित हैं। उससे नीचेके पद हैं, आचार्य, उपाध्याय, मुनिके, उनका उपदेश अगर स्वयं कल्पनासे किया हुआ हो तो प्रामाणिक नहीं है। जिनेन्द्रदेवके उपदेशमें से उपदेश किया जाय तो वह प्रामाणिक है कोई अपने मनसे कुछ भी उपदेश करे तो वह प्रमाणभूत नहीं है। तो मूल उपदेष्टा कौन है? अरहंत भगवान। कैसे वे उत्कृष्ट पदमें हैं? उत्कृष्ट पद कौन कहलाता? जहाँ ज्ञान तो पूरा प्रकट हो और दोष एक न रहे वही उत्कृष्ट कहलाता है। किसी जीवमें दोष तो रहा नहीं, पर ज्ञान पूरा नहीं आया तो भी वह उत्कृष्ट नहीं है, और ऐसा हो ही नहीं सकता कि ज्ञान पूरा आ जाय और निर्दोष न हो। जैसे मुनिराज तपस्याके बलसे क्षुधा तृषा आदिक १८ दोषोंसे रहित हो जाते हैं, वे अरहंत बनते हैं। तो जो सर्वज्ञ है वह निर्दोष तो जरूर है, पर जो निर्दोष आत्मा हो गया वह अभी सर्वज्ञ हो पाया हो न हो पाया हो वहां दोनों बातें सम्भव हैं। जैसे गुणस्थान १४ होते हैं, उन १४ गुणस्थानोंमें शुरुके तीन गुणस्थान तो अज्ञानी जीवके कहे जाते हैं चौथा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि ज्ञानीका होता है। ५ वाँ गुणस्थान श्रावक का होता है। छठा गुणस्थान मुनिका होता है जो आहार विहार भी करता है, पर ध्यानमें लीन हो जाय तो ७ वाँ गुणस्थान, इसके बाद इस पंचमकालमें गुणस्थान नहीं बढ़ पाते। हां पहले हुआ करते थे तो ७ गुणस्थानोंसे ऊपर दो श्रेणियाँ होती हैं। अगर कोई मुनि कर्मको दबाकर चढ़े तो उपशम श्रेणीमें चढ़ता है, कोई मुनि कर्मोको हटाकर चढ़े तो वह क्षपक श्रेणीमें चढ़ता है। उपशम श्रेणीमें चढ़नेवाला मुनि ११ वें गुणस्थानसे नीचे के गुणस्थानों में गिर जायगा और क्षपक श्रेणा वाला मुनि ११वें गुणस्थानसे चढ़कर १२वें १३वें गुणस्थानोंमें चढ़ता है। इन गुणस्थानों में रागद्वेष नहीं रहता, निर्दोष हो गया वह जीव मगर सर्वज्ञ नहीं कहलाता। १३ वें गुणस्थानमें

सर्वज्ञ होता है। जिनकी मूर्ति बनाकर पूजते वे १३ वें गुणस्थानवर्ती अरहंत देव हैं। जो तीर्थंकरदेव, अरहंतदेव १३ वें गुणस्थान वाले भगवान, उनका उपदेश प्रथम होता है। उनकी दिव्यध्वनिको गणधरदेव झेलते हैं और फिर आचार्यदेव उसका प्रचार करते हैं।

तत्त्वज्ञानके मूल उपदेष्टा परमेष्ठी आप्त अरहंतदेवकी परंज्योतिस्वरूपता—मोक्षमार्गके इस उपदेश के मूलकर्त्ता करनेवाले हैं अरहंत भगवान्। उनका आत्मा कैसा है? परमज्योति स्वरूप है। आत्माका स्वरूप क्या है? केवल ज्योति। अब भी हम आपका जो आत्मा है सो जो ज्ञानज्योति है वह तो आत्मा है और इस ज्ञानज्योतिमात्र रागद्वेषादिक विकारोंकी छाया पड़ती है। कर्मकी छाया वह मैं नहीं हूं। विकार है, मैं विकाररूप नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। तो यह आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है। कहते हैं ना कि अपने आत्माका अनुभव करो, सम्यक्त्व हो जायेगा। संसारसे तिर जायेंगे, तो आत्माका अनुभव कैसे करेंगे आप? आत्माके बारेमें बहुतसा कथन है। यह आत्मा देहके बराबर है। यह आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है। अनेक प्रकारसे आत्माका वर्णन होता है पर जब अनुभव होगा तो आत्माकी लम्बाई चौड़ाईके ज्ञानसे न होगा, किन्तु अपनेको कोई ऐसा माने, मनन करे कि मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानज्योतिमात्र हूं, जो ज्ञानका स्वरूप है वही ज्ञानमें रहे। ऐसे ज्ञानको बनाये फिर आत्माका अनुभव होता है। तो वह क्या चीज है? परमज्योति। तो अरहंत भगवान जिनेन्द्रदेव वह परमज्योति स्वरूप है। उनके ज्ञान परसे आवरण हट गया है। ८ कर्मों में ज्ञानावरण कर्म आ गया सो घातियाकर्म दूर हुए वहां ज्ञानावरण भी दूर होता है। अब ज्ञानका कोई आवरण न रहा, पर्दा न रहा तो ज्ञान पूरा प्रकट हुआ, वही परमज्योति है। किसकी बात कही जा रही है कि जितने शास्त्र बने हैं, जितने आगम हैं उनका मूलकर्त्ता कौन है, यह प्रवाह कहाँसे चला? जो आज तक शास्त्रोंमें मिलता है। वह प्रवाह चला है तीर्थंकर देवसे, अरहंत देवसे। उनकी तारीफकी जा रही है कि वे परमेष्ठी हैं परम ज्योतिरूप हैं।

आगमके मूल स्त्रोत आप्तदेवकी वीतरागता—परमेष्ठी पंरज्योतिर्मय मूल उपदेष्टा आप्त भगवान वीतराग हैं। वहां राग नहीं रहा। देखो राग करना आत्माका स्वभाव नहीं है। राग ज्ञानीके भी होता, अज्ञानीके भी होता है। अज्ञानी तो उसे आवश्यक समझता, अपना स्वरूप समझता, पर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव जानकर घरमें रहना पड़े तो परिस्थितिके कारण राग करना पड़ता है। उसका राग करनेका भाव नहीं है। जैसे कोई रईस बीमार हो गया बड़ा तेज बुखार आ रहा तो उसका साधन बनाया जाता, अच्छे पलंग पर सोना, डाक्टरोंका आना जाना दवाई देना, कई कई नौकर सेवामें हाजिर रहना, मिलने वाले अनेक लोगों द्वारा बड़ी पूछताछ, दवा समय पर देना, यों बड़ी-बड़ी व्यवस्थायेंकी जाती पर बताओ उन सब साधनोंमें उस रईसको मोह है क्या? नहीं है मोह। मोह तो तब कहलाये जबकि वह रईस यह चाहे कि मुझे ये साधन जिन्दगीभर मिलें। अरे वह चाहता कि मुझे कब दवाई पीना छूटे। कब यह रोग मिटे, कब ये सब बातें खतम हों और मैं प्रतिदिन मील दोमील टहलने जाऊं। देखो चाहता तो यह है मगर परिस्थिति ऐसी है कि उसे औषधि पीनी पड़ती है। अगर औषधि समयपर न मिले तो वह झुंझला भी जाता है इतना प्रेम है उसे दवासे पर उस दवासे उसे मोह नहीं है। मोह न होकर भीदवासे राग कर रहा। तो ऐसे ही ज्ञानी जीव जिसे सम्यग्दर्शन हो गया वह रागको जरा भी नही चाहता मगर

घरमें रहना पड़ रहा तो राग किए बिना घरमें नहीं रह सकता इसलिए प्रीति करता है। मुनिराजको भी प्रमत्त अवस्थामें छठे गुणस्थानमें किसी परिस्थितिमें राग करना पड़ता है। पर बुद्धिपूर्वक वह राग नहीं है। इससे ऊपर जिनेन्द्रदेवके तो रागका अंश भी नहीं है। जिसके रागद्वेष न हो और पूरा ज्ञान हो ऐसे गुणागमके मूल वक्ता तीर्थंकर देवके वचन प्रामाणिक हैं।

तत्त्वज्ञानके मूल उपदेष्टा आप्त जिनेन्द्रदेवकी विमलता—प्रभु जिनेन्द्र आप्त परमेष्ठी हैं परंज्योति हैं, वीतराग हैं, वह विमल हैं, याने कि निर्मल हैं, किसी भी प्रकारका दोष उनके नहीं रहा, क्षुधा तृषा, जन्ममरण, रति अरति शोक आदि किसी प्रकारके दोष उनके नहीं रहे। देखो जिनेन्द्रदेवके दोष उनके नहीं रहे। देखो जिनेन्द्र देवके दर्शन करने आते हैं तो वहां क्या भाव रखना चाहिए कि हे प्रभो तुम्हारी स्थिति सर्वोत्कृष्ट है। मैं पामर आज संसारमें जन्म मरण कर भटक रहा हूं, आप इस भटकनसे अलग हो गए, पर हे प्रभो आत्मा जैसा आपका है वैसा ही हमारा है। जाति एक है, पर फर्क यह हो गया कि मैं राग करता हूं और संसारमें रुलता हूं। आपके राग नहीं हैं और आप उत्कृष्ट पदमें आनन्दमग्न हो। हे प्रभो मेरी स्थिति बने, मैं और कुछ नहीं चाहता। जो लोग प्रभुके दर्शन करते हुए कुछ चाहते हैं—मुझे धन मिले, मेरी मुकदमेमें जीत हो, मेरेको संतानकी प्राप्ति हो··· तो वह उनकी भूल है। कैसे भूल है कि प्रथम तो जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें आये तो ऐसा ध्यान रखना चाहिए कि जगतमें सर्वोत्कृष्ट पद हैं तो यह पद है जिसके हम दर्शन कर रहे हैं, सो मुझे यह पद मिले, मैं और कुछ नहीं चाहता। यह भाव रहना चाहिए। क्योंकि जगतके ये सब समागम मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। यह जीव मोहवश अपना मानता है, कल्पनायें करता है मगर इसका कुछ नहीं है। तो चाहें तो भगवान जिनेन्द्रदेव जैसा पद चाहें कि मेरेको ऐसी स्थिति मिले कि जहाँ दोष रंच न हो और ज्ञान पूरा प्रकट हो। दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्रदेवसे कुछ भी चीज मांगे कोई, तो जिनेन्द्रदेव देते नहीं, वे तो वीतराग हैं, ज्ञानानन्दमें मग्न हैं, वे कुछ नहीं देते इसलिए उनसे कुछ मांगना व्यर्थ है। जब वे कुछ दे नहीं सकते तो मांगना व्यर्थ है—पहली बात, दूसरी बात यह है कि जो कुछ मिलता है सो पुण्योदयसे मिलता है और पुण्यबंध भक्ति करनेसे होता है। अगर पहले ही हम कोई चाह रखकर भगवानकी भक्ति करें तो पुण्य भी नहीं बंधता मगर विषयोंकी चाह रखकर धन सम्पत्तिकी चाह रखकर भगवानकी भक्ति करें तो वह सच बात नहीं है और न वहां पुण्यका बंध है। जिसको ऐसा ज्ञानप्रकाश नहीं मिला कि मेरेको जगतमें कुछ भी न चाहिए जो भी स्थिति मिली है मैं उसीमें गुजारा करुंगा। पर मेरेको आत्माका ज्ञान रहे, परमात्माका ध्यान रहे, बाकी तो जो भी स्थिति हो उसीमें गुजारा करेंगे यह मनुष्य, आज मनुष्यभवमें है मगर कभी कुत्ता, गधा, सूअर आदिक भी तो था। वहां कितने-कितने कष्ट सहे। आज कितनी भली स्थितिमें हैं। ऐसी स्थितिको पाकर अच्छे कर्म करें। अच्छे भाव रखें जिससे संसारका बंधन छूटे और मुक्ति प्राप्त हो। यही अपना भाव रखें क्योंकि थोड़े दिनोंका यह जीवन है। मरना नियमसे होगा। यहां का सब ठाठ यहीं पड़ा रह जायगा यहां का कुछ भी साथ नहीं देता क्योंकि वह मेरा कुछ है ही नहीं। मेरा क्या है? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, यह मेरा स्वरूप है, सो मरने पर यह साथ जाता है। यही तो आत्मतत्त्व है, और जो मेरा नहीं है वह कभी मेरे साथ जा ही नहीं सकता। शरीर मेरा नहीं, धन मेरा नहीं, ये कुछ

भी नहीं जा सकते। तो अपनेको ऐसा प्रकाश लेना चाहिए कि हे प्रभो मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान सिवाय मेरा कोई स्वरूप नहीं है। इस ज्ञानमात्र मुझका दुनियामें कुछ भी पदार्थ नहीं। मुझे कुछ न चाहिए। मुझे ऐसा स्वरूप दर्शन चाहिए कि अपने आत्माके स्वरूपको लखता रहूं। केवल वही चाहिए।

आगमके मूल स्त्रोत आप्त जिनेन्द्रदेवकी कृतकृत्यता, सर्वज्ञता, अनादिमध्यान्तता व सर्वहितकारिता—आगमका मूल उपदेष्टा कैसा होता है? ··· कृतकृत्य, याने जिसको दुनियामें कुछ करने लायक नहीं रहा, उसीका ज्ञान स्थिर होगा, उसीका उपदेश प्रामाणिक होगा। जो कृतकृत्य नहीं है, जिसके चित्तमें अनेक काम करनेको पड़े हैं उसके चित्तमें व्यग्रता रहेगी। वह मूल उपदेष्टा नहीं हो सकता। तो प्रभु अरहंतदेव कृतकृत्य हैं। उनका ही उपदेश प्रामाणिक है। प्रभु सर्वज्ञ हैं। तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थों के जाननहार हैं, तब ही उनकी दिव्यध्वनिपूर्ण प्रामाणिक होती है, जो सबको नहीं जानता, कुछ ही जान पाता उसका उपदेश मूल प्रामाणिक नहीं है। जो आजकल कम जानने वाले लोग भी उपदेश करते हैं वह प्रमाणिक है तो वह उस उपदेशसे मिला हुआ है तो प्रामाणिक है, और यदि स्वतंत्र उपदेश है तो वह प्रामाणिक नहीं। तो प्रभु जो उपदेष्टा हैं आप्त हैं वे सर्वज्ञ हैं और अनादि मध्याः मायने अनादिकालसे चले आये हैं। कभी न थे, अब नये भये ऐसा नहीं। जिनेन्द्र भगवानकी परम्परा अनादिसे चली आयी है। ऐसे ये प्रभु जो आदि, मध्य अन्तसे रहित हैं वे उपदेष्टा होते हैं। और अंतिम विशेषण सार्व है याने सबका हितकारी है। भगवानका उपदेश सब जीवोंका हित करता है। जैसे बताया गया कि छहकायके जीवोंकी रक्षा करें मुनि, तो मुनिजन तो जीव रक्षा करके अपना भी उपकार करते हैं और दूसरोंका भी। पर जीवों की रक्षा करनेका भाव होनेसे उनकी खुदकी भी रक्षा हो गई। और कोई श्रावकजन हैं तो उनको राग है, उनको उपदेश है कि तुम अणुव्रत पालन करो। कोई महाव्रती हैं तो उनके लायक उनको उपदेश है कि महाव्रत धारण करो। तो सबके लिए उनका हितोपदेश है। ऐसे जो परम जिनेन्द्र तीर्थंकर देव हैं वे उपदेष्टा कहलाते हैं। तो जो अभी सम्यग्दर्शनके विषयमें बताया था—आप्त, आगम, मुनि, इनका सच्चा श्रद्धान हो, उनमें यह आप्तकी बात कही। आप्त, उपदेष्टा अरहंतदेव होते हैं जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है।

अनात्यार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितं।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

आप्तदेवका रागके बिना प्राणिहितकारी सहज उपदेश—इससे पहले श्लोकमें तत्त्वके मूल उपदेष्टा आप्त भगवानके गुण बताये गये थे। अब यहां प्रभुकी निरपेक्षता बतला रहे हैं। प्रभु अपनी खुदगर्जीके लिए नहीं, अपनी किसी इच्छासे नहीं, किन्तु रागके बिना प्राणियोंके हितका उपदेश करते हैं। जैसे कि बजाने वालेके हाथसे छुवा हुआ मृदंग आवाज देता हुआ क्या किसीकी अपेक्षा करता है? नहीं, इसी तरह भव्य जीवोंके भाग्यसे वचन योगके प्रयोगसे उपदेश होता है। वे प्रभु किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जितना यह धर्मोपदेश आज शास्त्रोंमें सो है तो अनेक आचार्योंका बनाया हुआ है लेकिन कपोल कल्पित नहीं है। जो ठीक अरहंतदेवकी दिव्यध्वनिसे चला आया हुआ है वही है। सो

उन मूल उपदेष्टा अरहंत भगवानकी बात कही जा रही है कि वह उपदेश अपने प्रयोजनके बिना देते हैं, रागके बिना देते हैं। तो वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं, अब भव्य जीवोंका भाग्य ही उसमें प्रबल निमित्त है कि प्रभुका उपदेश होता है और लोग समझते हैं, सुनते हैं। इस उपदेशमें सर्वप्राणियोंके हित्तकी शिक्षा बसी हुई है। जैसे मेघ कुछ इच्छा नहीं रखते कि हम इस गाँवमें बरषे पर जहाँके नगरोंके लोगोंका पुण्योदय विशेष है वहां जाकर मेघ बरष जाते हैं। न लोगोंने मेघोंको बुलाया न मेघोंने किसी गाममें जानेकी इच्छा की, किन्तु ऐसा ही सुयोग है कि वर्षा वहाँ होती है जहाँके जीवोंको, पुण्यशालियोंको आवश्यकता है। याने सब पुण्यपापके योगसे होता है। कहीं तेज वर्षा हो गई तो वहांके लोगोंका पापका उदय समझिये पर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है वह केवल हितका उपदेश करनेके लिए है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रभुसे सहज उपदेश प्राप्त होनेका समर्थन—यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे मृदंग बजाने वालने हाथका प्रयोग किया याने निमित्त नैमित्तिक भाव बना, अब वहां जो मृदंगसे आवाज निकली है सो वह किसीकी अपेक्षा नहीं करती। वह उस मृदंगका ही स्वयंका परिणमन है। ऐसे ही प्रभु इच्छाके बिना धर्मोपदेश करते हैं। वह यद्यपि प्रभुदेहका ही परिणमन हो रहा है वचन वर्गणाका ही परिणमन हो रहा हैं मगर उसमें निमित्त पुण्यवान जीव हैं। जैसे आमके वृक्ष फलते हैं उन फलोंका उपयोग आम खुद करते हैं क्या? नहीं। फल तो रहते हैं दूसरोंके उपकारके लिए। नदियोंमें पानी बह रहा है तो क्या नदियाँ स्वयं उस जलको पीती हैं? नहीं, पर लोगों का उपकार हो रहा, ऐसे ही प्रभु जिनेन्द्रदेवका उपदेश होता है तो वहां कोई बाहरी प्रयोजन नहीं है, पर भव्य जीवोंके ही पुण्यके कारण उनका उपदेश हुआ करता है। तो यहां तक आप्तका स्वरूप बताया। आप्त मायने वीतराग सर्वज्ञ देव, जो कि दिव्यध्वनि करते हैं, धर्मोपदेश जिनका होता है वे कहलाते हैं आप्त। भगवान तो बहुत हैं मगर सभी भगवान आप्त नहीं कहे गए। सिद्ध भगवान उनसे कोई शास्त्रकी परिपाटी नहीं चलती, अरहंत भगवान की ही दिव्यध्वनि खिरती है इसलिए उनको आप्त कहा गया है। आप्तका सीधा अर्थ है—पहुंचा हुआ उस विषयमें व्यापक होना कहलाता है। सो जो रागद्वेष रहित है, सर्वका ज्ञाता है वह पुरुष सर्व उपदेशोंका मूल प्रणेता होता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकं।
तत्त्वापदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं॥ ९॥

आगमकी आप्तोपज्ञता होनेसे प्रामाणिकता—पहले बतलाया था कि आप्त, आगम और तपस्वी इनका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उनमेंसे आप्तका तो वर्णन किया, अब इस श्लोकमें आगमका वर्णन कर रहे हैं। आगम, शास्त्र ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, शास्त्र कौनसा उत्तम है? हितवादी। तो उसका विशेषण इस श्लोकमें दिया है कि पहले तो वह शास्त्र आप्तके द्वारा कहा हुआ होना चाहिए। मूल अधिकारी आप्त कहलाता है, उनका कहा हुआ है यह सब धर्मोपदेश। देखिये कैसा विचित्र काम है, आश्चर्यजनक काम है कि भगवान रागद्वेष रहित हो गए और उसके फलमें सर्वके मात्र ज्ञाता दृष्टा बने हुए हैं। उनका सर्वांगसे दिव्योपदेश होता है। वह कैसे नहीं प्रामाणिक हैं? तो प्रथम

तो वह सर्वज्ञ वीतराग देवका कहा हुआ होना चाहिए। जैसे इसके बाद दूसरेने सुना, दूसरेसे तीसरेने सुना, और सैकड़ों लोगोंमें वह बात फैल जाय तो भी जिज्ञासा यह रहती है कि यह बात मूल में किसने कहा? यदि वह प्रामाणिक पुरुष हैं तो सर्व लोग उस वाणीका विश्वास कर लेते हैं बिना ही परीक्षा किए कि यह सही है। और परीक्षा करने पर तो सही उतरती ही है। तो शास्त्र है आप्तके द्वारा कहा गया।

आगमकी अनुल्लङ्घ्यता—दूसरा विशेषण है शास्त्रका कि जिसके सिद्धान्तका कोई उल्लंघन न कर सके। कोई भी उसका खण्डन न कर सके, ऐसा निर्दोष वचन है आप्तके द्वारा कहा गया। हम आप आजकल सुन रहे हैं पर जिस जमानेमें आप्त सर्वज्ञ बने हुए थे उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग उसे सुनकर धर्मलाभ लेते थे। वह तो बड़ा ही अद्भुत वातावरण था, प्रभुकी वाणी किसीके द्वारा खण्डित नहीं की जा सकती। प्रभुकी वाणी याने शास्त्र आगम और प्रत्यक्षसे बाधारहित हे। न तो उस कथनमें आगमसे बाधा आती और न अनुभव प्रत्यक्षसे बाधा आती। जैसे प्रभुने बताया कि जो भी जगतमें सत् है। जो भी वस्तु है वह प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यमय है। उत्पाद मायने उत्पन्न होना, व्यय मायने नष्ट होना और ध्रौव्य मायने बना रहना, सो देख लो प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। आत्मा पर भी घटा लो यह मैं आत्मा बनता हूं, बिगड़ता हूं और बना रहता हूं। जो नई पर्याय पायी वह तो इसका बनना कहलाया और जो पुरानी पर्याय विलीन हुई वह इसका व्यय कहलाया, पर मूलभूत पदार्थ वह है ही जिसमें इतना अवसर आया। तो यह शास्त्र अनुलंघ्य है किसीके द्वारा उल्लंघनमें नहीं आ सकता।

आगमकी अदृष्टेष्टविरोधकता, तत्त्वोपदेशकारिता—परमार्थप्रतिपादक आगममें प्रत्यक्ष अनुमानसे विरोध नहीं है। ऐसा यह शास्त्र तत्त्वका उपदेश देने वाला है। शास्त्र किसलिए है कि उनके अध्ययनसे, मननसे ऐसा ज्ञानप्रकाश जगे कि जिसमें ज्ञान ही ज्ञान समाया हो, रागद्वेषकी कालिमा न सुहायी हो तो अविरुद्ध वचन हैं, तत्त्वका उपदेश करनेवाला हैं। आत्माको मुक्ति कैसे मिलती है? आत्माका सही स्वरूप श्रद्धानमें लायें, ज्ञानमें लायें। और उस ही के अनुरूप अपना आचरण बनायें तो यह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। प्रभुकी वाणीमें अनुयोग तो अनेक हैं पर संक्षेप करिये तो जो दूसरोंको बाधा करने वाले न हों वे वचन सत्य वचन हैं। आगमवचन तत्त्वका उपदेश करने वाले हैं और खोटे मार्गका विनाश करने वाले हैं। यदि शास्त्र स्वाध्याय न हो, ज्ञानकी बात चित्तमें न आये तब यह जीव न जाने कैसे मार्गको अपना लेगा कि वह अपना बुरा करेगा। तो जो शास्त्र है वह शास्त्र है वह तत्त्वका उपदेश करने वाला है।

आगमकी सर्वहितकारिता—आगम सार्व मायने सबके लिए हितकारी है। आज सम्प्रदाय अनेक हैं और सभी सम्प्रदायोंके कुछ सिद्धान्त हैं मगर उनके मूल प्रणेता रागी द्वेषी न हों और अपनी यशकीर्तिके लोलुपी न हों तो उनके वचन सत्य हों अन्यथा सब एकान्त रूप निकलेंगे। स्याद्वाद शासनमें द्रव्य और पर्याय दो की दृष्टि चलती है। जो सदा रहे सो द्रव्य। जो क्षण-क्षणमें नई घटना हो सो पर्याय। दो की दृष्टि चलती हैं जो सदा रहे सो द्रव्य, जो क्षण-क्षणमें नई घटनायें हों सो पर्याय तो जब दो दृष्टियां हैं, पदार्थमें दो बातें हैं तो द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ को नित्य कहा जायगा और पर्यायदृष्टिसे पदार्थको आत्माको

अनित्य कह दिया जायगा। जब पर्यायकी दृष्टि रखते हैं तो अनित्य और जब द्रव्यकी दृष्टि रखते हैं तो नित्य। जैसे एक आदमी ६०-७० वर्षका है। बताओ वह वही है या कुछ नया नया बन गया? वह तो वही एक आदमी है, पर उसके जितने भाव बनते, जितनी लीलायें करते वे उनसे अनेक तरहका भी आत्मा बन गया। तो ऐसे ही आत्मद्रव्य वह एक रूप है और आत्मामें जो प्रवृतियां हैं वे अनेक बन जाती हैं। तो तत्त्वका उपदेश भरा हुआ है जैन सिद्धान्तमें मनोविनोदके लिए या फाल्तू बातके लिए जैन शासनमें कुछ कहा नहीं गया। ऐसा सब जीवोंका हित करने वाला शास्त्र है।

आगमकी कापथपरिहारकता—आगम खोटे मार्गका खण्डन करने वाला है। जो उपदेशका मूल प्रणेता है उसकी मुद्रा, उसका आचरण उसका ज्ञान उत्कृष्ट होना ही चाहिए। नहीं तो उसके उपयोगमें प्रमाणता न रहेगी। जो पुरुष दोषवान हो उसके वचनोंमें प्रामाणिकता नहीं आती। भले ही वह ठीक बोले मगर स्वयं ही जब वह उस उपदेशसे दूर है तो उपदेशमें प्रामाणिकता कहाँ से आयेगी? सो देख लो आप्त भगवान कुछ भी जिनके परिग्रह नहीं है, जो समवशरण आदिक विभूति रचते हैं तो वे देव और देवेन्द्र अपनी भक्तिसे रचा करते हैं, पर प्रभु का उसमें कुछ लगाव नहीं है। जबकि अनेक विडम्बनायें पायी जाती हैं अन्य दार्शनिकोंके मूल गुरु या देवताओंके। कोई चूहेकी सवारी करता फिर भी भगवान कहलाता, कोई शेरकी सवारी करता है फिर भी वह भगवती कहलाता। न जाने कैसे-कैसे रूपक हैं। जिनका दर्शन करते ही लोग उन्हें शुद्ध समझ लेते हैं और उनकी भक्तिमें रहते हैं। अरे प्रभुके तो केवल शरीरमात्र रह गया, न वहाँ कपड़े हैं, न सवारी, न अनेक तरहके भोजन हैं, न कोई वाहन, न त्रिशूल, न स्त्री पुत्रादिक। उनके तो केवल दिव्यदेह है। उनके मुखसे, उनके सर्वांगसे निकला हुआ दिव्यध्वनिरूप उपदेश पूर्ण प्रामाणिक है और उसी परम्परासे आज ये शास्त्र चले आये है।

आगमकी प्रामाणिकताकी अनुभवसिद्धता—शास्त्र प्रामाणिक हैं यह बात इस तरह भी जानी जाती कि उसमें जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवमें सत्य उतरा है। कोईसा भी विषय ले लो। जैसे दार्शनिक लोग पदार्थ कितने ही प्रकारके मानते हैं, जैनी भी मानते, पर अन्यके द्वारा बताये गए पदार्थमें प्रकार यों उचित ठीक नहीं पड़ते कि कुछ तो दुबारा कह दिए गए, कुछ कहे ही नहीं गए। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, मन। दिशा आदिक बोलते हैं तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सब पुनरुक्त हो गए, ये भिन्न-भिन्न चीज नहीं हैं। एक पुद्गलकी ही जातियाँ हैं, चारोंके चारों पुद्गल हैं। अगर ये भिन्न-भिन्न द्रव्य होते तो कभी भी एक दूसरे रूप न बदल सकते थे। यह द्रव्यकी पहिचान है। पृथ्वी कभी जल बन जाती तो। चंद्रकांति मणि भी तो चंद्रका सामना पाकर पिघल जाती है। पिपरमेन्ट, कपूर और अजवाइनका फूल है तो ये सब पिण्डरूप, पृथ्वीरूप, और इन तीनोंको इकट्ठा कर दिया जाय शीशीमें तो जल रूप बन जाता है। अगर ये द्रव्य मूलतः अलग-अलग होते तो एक दूसरे रूप कभी न बन सकते। जैसे जीव और पुद्गल ये अलग-अलग पदार्थ हैं तो जीव कभी पुद्गल न बन सकेगा, पुद्गल कभी जीव न बन सकेगा। जो ६ प्रकारके द्रव्य जैन शासनमें कहे उनमें कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य रूप तीन कालमें नहीं बन सकता। जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, इनमेंसे कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप बन सकते हैं क्या? नहीं बनते। और इन छहोंके अलावा कोई द्रव्य

तो नहीं कि जो छूट गया हो, इसलिए जैन शासनमें जो ६ प्रकार बताये हैं पदार्थ के, वे बिल्कुल संगत है। पर अन्यत्र जो पदार्थके प्रकार बताये सो कुछ तो दुहरा दिया और कुछ छूट गए। धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यकी कोई चर्चा ही नहीं जानते। जो गमनमें हेतु है वह धर्मद्रव्य है। जो स्थितिमें कारण है वह अधर्मद्रव्य है। इसकी तो कहीं चर्चा भी नहीं होती। तो जैन शासनमें जो कुछ ऐसा कहा गया है वह सिस्टेमेटिक और प्रामाणिक है।

वीतराग सर्वज्ञदेवके ही आगमप्रणेतृत्वकी संभवता—यहां यह बतला रहे हैं कि शास्त्रके मूलतः प्रणेता वीतराग सर्वज्ञ होना चाहिए। जिसके चारित्रमें रागकी घटना पायी जाती है और कभीसे ही किसी भी अङ्गारदशामें वे भगवान कहे गए तो जो रागी हो उसके वचनोंमें प्रामाणिकता कैसे हो? जैन शासनमें तो तीर्थंकर या अन्य कोई जो भगवान बने हैं सो केवल ज्ञान होने पर ही उन्हें भगवान कहा गया है। उससे पहले नहीं। २४ तीर्थंकर हुए मगर वे जन्मसे भगवान नहीं हुए, उनकी दीक्षा होगी, मुनि होंगे, फिर तपश्चरण होगा, केवल ज्ञान होगा तब प्रभु कहलायेंगे। सो अनेक तीर्थंकरोंने विवाह भी किया मगर उस समय तो वे भगवान न थे। जब सबका त्याग किया, आत्मस्वरूपमें रमण किया तब वे भगवान कहलाये। सो जो सर्वज्ञ न हो वह सही बात कैसे बता सकता? जो वीतराग न हो वह सब बात सही कैसे बता देगा? तो आगमका मूल प्रणेता वही है जो वीतराग है और सर्वज्ञ है।

आगमकी हेयापादेय विवेक सम्पादकता—शास्त्र आप्तोपज्ञ हैं जिनमें न प्रत्यक्षसे बाधा है न अनुमान से। वे शास्त्र हैं, उनके अनुसार चलना, उसमें लिखे हुए तत्त्वका विनय करना यह मोक्षमार्गमें चलना है। आगम वही है जिसमें सर्व तत्त्वोंका ठीक निर्णय मिले। हेय क्या, उपादेय क्या, छोड़ने योग्य क्या चीज है और ग्रहण करने योग्य क्या चीज है? छोड़ने योग्य तो वह है जो मेरे स्वरूपमें नहीं, स्वभावमें नहीं। जैसे बाहर पड़ा हुआ धन वैभव दौलत यह सब हेय है कर्म विपाकका जो प्रतिफलन है वह सब हेय है। जिसने यह जान लिया कि यह परद्रव्य है यह परभाव है, इससे मेरे आत्माका कुछ भी सम्बंध नहीं है तो उसने तो छोड़ दिया जो छोड़नेका था, और ग्रहण कर लिया जो ग्रहण करने योग्य था। यह मोही जीव धन वैभव बंधु पुत्रादिक सब कुछ छोड़ सकता है, किन्तु अपने यशकी वाञ्छा नहीं छोड़ पाता। कैसा है प्रबल उपसर्ग इस जीवपर कि अपना सब कुछ छोड़ सकता है पर अपने यशकी इच्छा नहीं छोड़ पाता। और जो यश चाहता है समझिये कि उसे आत्म तत्त्वको पहिचान ही नहीं। किसका यश चाहते? सो जो आत्माका परिचय कर लेने वाला है उसको यशको चाह नहीं होती। अरे किनमें यश चाहते? जगतमें जितना जो कुछ दिखता है वह सब मायास्वरूप है। माया किसे कहते हैं? अनेक पदार्थोंका मिलकर रूप बना उसका नाम माया है। बतलावो जो कुछ दिख रहा है इसमें कोई चीज सत्य भी है क्या? परमार्थ भी है क्या? इसमें कोई भी परमार्थ नहीं है। जो कुछ आंखों दिख रहा है, जो कुछ सबके प्रयोगमें आ रहा है वह मिथ्या है, परमार्थ नहीं, मायारूप है। तो अज्ञानीजन मायामें ही तो सिर भिड़ा रहे हैं।

आगमोपदेशका मुख्य प्रयोजन मोहापहरण—मेरा अणुमात्र भी किसी परपदार्थसे परमार्थतः कुछ सम्बंध नहीं है, यह बात आगमने ही तो बताया। जाना हमने अपने अनुभवसे किन्तु यह सब प्रकट

हुआ है शास्त्रसे। उससे ही हमने द्रव्य गुण पर्यायकी बात सीखी। उससे ही हमने स्वरूपास्तित्वका बोध किया और उसके ही प्रतापसे मोह दूर हुआ। सर्वउपदेशोंका सार यह है कि मोहको दूर करें। जब तक मोह लगा है तब तक कष्ट ही कष्ट है। राग और प्रीति नहीं छूटती है तो न छूटे, फिर छूट जावेगी किन्तु मोह तो पूर्णतया छोड़ देना चाहिए। मोहमें यह भाव रहता है कि यह मेरा ही है, इससे ही मेरी जिन्दगी है, इससे ही मेरा महत्त्व है, इसके बिना मेरा अस्तित्व ही न रहेगा, ऐसा पर पदार्थोंमें मोह होना यह जीवके लिए कष्टदायी है। सो मोह न हो उस शिक्षाको कहते हैं वास्तविक शिक्षा। किसीसे कहा जाय कि मोह न करो तो ऐसा कहने मात्रसे उसका मोह न छूटेगा। और जब यह जान जायेगा कि प्रत्येक वस्तु जो दिखती है वह मायारूप है और मुझसे अत्यन्त भिन्न है, सारहीन है, उसका मोह छूट जायगा। तो जैसे मोह मिटे वैसा उपदेश सुनना, उसे अनुसार चलना ये सब बातें इस जीवके लिए लाभदायक हैं।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतापोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०॥

तपस्वियोंकी अनिवार्यरूपसे विषयवशातीतता—इस ग्रन्थमें सबसे पहले यह बताया था कि मैं उस सही धर्मका वर्णन करुंगा जिस धर्मके धारण करनेसे जीव संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंचता है। वह धर्म क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। उसमें सम्यग्दर्शनके स्वरूपमें कहा था कि परमार्थभूत आप्त, आगम और तपस्वीका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यद्यपि सम्यग्दर्शनके लक्षण अनेक किए हैं मगर सूक्ष्मता से विचार करें तो सब एक जगह ही बात है। तो आप्त और आगमका वर्णन तो किया जा चुका है, आज तपस्वीका वर्णन किया जा रहा है। तपस्वी किसे कहते हैं? जो विषयोंकी आशाके आधीन न हो वह होता है तपस्वी। और भी लक्षण बताये जायेंगे, पर यहां पहले ही विचार करें कि जो गुरु स्वयं विषयोंकी आशाके आधीन हैं, खानेके लालची हैं, अनेक स्वादके वशीभूत है। कर्णेन्द्रियके वशीभूत हैं, जो यश, कीर्ति सुनना चाहते, जो अभिमानी होते, अन्य अन्य विषयोंमें जिनके राग जाता हो वे विषयोंके छोड़नेका कैसे सही उपदेश कर सकते हैं? इससे पहली बात गुरुमें यह होनी चाहिए कि वह विषयोंके आधीन न हो। महिलायें लोग एक भजन गाती हैं ना—"हम तो हैं उन चरननमें दास जिन्होंने मन मार लिया।" जिन्होंने इन्द्रिय और मनको काबू किया वे पुरुष गुरु कहलाने योग्य हैं, क्योंकि विषयोंका लम्पटी दूसरोंको विषयोंसे छुटाकर वीतराग मार्गमें नहीं लगा सकता।

विषयाशावशातीत पुरुषके सत्संगसे अन्यके विषयनिवृत्तिकी संभवता—एक छोटासा दृष्टान्त है कि किसी बुढ़िया मां का छोटा बेटा गुड़ बहुत खाता था। उस गुड़के खानेसे उसके शरीरमें कोई मर्ज भी बन गया था, सो बुढ़िया मां किसी संन्यासीके पास पहुंची और बोली—महाराज आप मेरे बेटेका गुड़ खाना छुटवा दीजिए। अब वह संन्यासी स्वयं गुड़ खाता था सो दूसरेसे कैसे गुड़ छुटवा सके, सो बोला—अच्छा तुम आजसे १५ दिन बाद मेरे पास लाना, तन छुटवा दूंगा। इधर उस संन्यासी

ने पहले स्वयं गुड़ खाना छोड़ा और बराबर १५ दिन तक गुड़ न खानेका अभ्यास किया। १५ दिन बाद जब बुढ़िया अपने बेटेको लेकर आयी संन्यासीके पास और गुड़ छुड़वाने को कहा तो संन्यासी बोला उस बालकसे बेटे गुड़ खाना छोड़ दो, यह बड़ा हानिकारक है। वहां उस बुढ़िया ने संन्यासीसे पूछा—अरे यही बात तो आप आजसे १५ दिन पहले भी कह सकते थे, १५ दिन बाद क्यों कहा? तो संन्यासी बोला—बुढ़िया मां जब मैं स्वयं गुड़ खाता था तो दूसरेको गुड़ न खानेका उपदेश कैसे दे सकता था? जब मैंने १५ दिन तक गुड़ न खाने का अभ्यास कर लिया तब इस बालकको गुड़ न खानेका उपदेश दिया। तो इससे यह समझना कि जो स्वयं रागी द्वेषी मोही है, मलिन है, संसारी प्राणी है वह गुरु कैसे कहा जा सकता? जो विषयों का अनुरागी है उसे प्रथम तो आत्मज्ञान ही नहीं है, बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, वह गुरु कैसे कहा जा सकता। कोई पदवी तो गुरुकी ले ले, भेष तो गुरुका धारण करले और स्वयं विषयोंका लम्पटी ही तो उसको आत्मज्ञान नहीं है। गृहस्थीमें कोई रह रहा है और कभी विषयोंको भोग भी करता है उसके तो सम्यक्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयोंकी लालसा रखता हो तो उसको सम्यक्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयोंमें आसक्त बना। तो जो स्वयं आत्मज्ञानसे रहित है बहिरात्मा है वह गुरु कैसे हो सकता है? पहली बात कह रहे हैं कि तपस्वी गुरु वही है जो विषयोंके आधीन न हो।

तपस्वीकी अनिवार्य निरारम्भता—दूसरा विशेषण है तपस्वीका आरम्भरहित होना। त्रस स्थावर जीवोंके घातका अगर आरम्भ है तो उसके पापका ही बंध होगा। सो जो पापी पुरुष है आरम्भ करने वाला है वह गुरु कैसे हो सकता है? जैसे अनेक संन्यासी जन अपना बगीचा रखते हैं, खेती-बाड़ी देखते हैं और भेष रख लेते हैं कोई लंगोट पहननेका, भस्म रमानेका और सारा आरम्भ कर रहे हैं तो आरम्भका पाप उनको बराबर लग रहा है। वहाँ गुरुपना थोड़ा बहुत लौकिक हिसाबसे भी कैसे सम्भव है? फिर जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करले और किसी बाह्य आरम्भमें लग जाय तो वह तपस्वी नहीं, गुरु नहीं। तो जो निरारम्भ है वह ही तपस्वी हो सकता है। निरारम्भ पुरुषको न पहले चिन्ता न बादमें चिन्ता, न किसी तरहका उस कार्यका विकल्प है, अतएव वह आत्मध्यानमें भली भांति लग सकता है। तो तपस्वी निरारम्भ होता है।

तपस्वीकी अनिवार्य निष्परिग्रहता—तीसरा विशेषण है तपस्वीका कि वह अपरिग्रही हो, याने परिग्रहरहित हो। परिग्रह अंतरंग तो १४ प्रकारके हैं और बहिरङ्ग १० प्रकारके हैं। सो, इन परिग्रहोंसे जो सहित हो वह गुरु कैसे हो सकता है? जो स्वयं परिग्रही है वह आप ही संसारमें फंस रहा है, वह अन्य पुरुषोंका उद्धारक, गुरु, तपस्वी कैसे हो सकता है? अंतरंग परिग्रह कौनसे होते हैं? जो जीवके भावरूप हैं, विकार हैं, विभाव हैं उनको जो लपेटता है उनसे लगाव रखता है, उनको आत्मस्वरूप मानता है वह भी तो परिग्रह हुआ। अन्तरंग परिग्रह हुआ। अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारके हैं—(१) मिथ्यात्व (२) वेद (३) राग (४) द्वेष (५) हास्य (६) भय (७) रति (८) अरति (९) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ। ये परिग्रह कैसे हैं सो सुनो।

मिथ्यात्व परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(१) मिथ्यात्वपरिग्रह—इस समय जो प्राणियोंकी स्थिति है, शरीर सहित हैं तो शरीर तो एक पिण्डरूप है, अचेतन है, पौद्गलिक है, वह जाननहार नहीं है, और जो जाननहार तत्त्व है वह अमूर्त है, इस शरीरसे बिल्कुल निराला है। वहाँ इस शरीरको अपनाना कि यह मैं हूं और इस शरीरके पुष्ट रखनेका ही ध्यान रखना ऐसे विकल्पोंका नाम मिथ्यात्व परिग्रह है। कभी-कभी यह जीव इन बातोंको सुन लेता है, कह लेता है कि शरीरका यह रूप है पौद्गलिक है, इस शरीरके आधार ही तो अनेक प्रकारकी घटनायें होती हैं। जाति कुल मानना, किस पदमें रह रहे, क्या पोजीशन है, राज्य, धन वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिकी सारी बातें इस शरीरके आधारसे ही तो बन रही हैं। ऐसी ये सब शरीर की रचनायें हैं जोकि कर्मों के उदयसे प्राप्त हैं। इस जीवके मिथ्यात्वकर्मका ऐसा उदय चल रहा है कि शरीरके नाशको अपना नाश मानता है। देखो धीरता स्थिरताकी यह बात है कि इसके मिथ्यात्व है तो इसको शरीरके छूटते समय एक सूझा पहुंचता है, साथ ही शरीरके नष्ट होने पर बताओ अपना नाश मानता कि नहीं? जब कोई विपत्ति आती है, शारीरिक रोग आता है या कोई मरणकी बात उपस्थित होती है तो बताओ यह मिथ्यादृष्टि जीव घबड़ाता है कि नहीं? घबड़ाता है मगर सम्यग्दृष्टि जीव न घबड़ायगा। उस सम्यग्दृष्टि जीवको अपने आत्मा पर श्रद्धान है कि यह मैं पूराका पूरा हूं। यहां हूं तो पूरा हूं, शरीरको छोड़कर जाऊंगा तो पूरा ही रहूंगा। मैं सर्वत्र पूरा हूं मेरा कुछ गिरता नहीं है। मरणके मायने शरीरका वियोग होना, इतना ही तो अर्थ है, पर मैं आत्मा गुणोंमें परिपूर्ण हूं। जो मेरा स्वरूप है वह अधूरा नहीं हैं। जाऊंगा तो पूरा का पूरा रहूंगा तो पूरा का पूरा। तो शरीर के नाश होनेसे अपना नाश मानना यह शरीरमें आपा माननेका ही तो परिचय है। शरीर निर्बल हो जाय तो अपने आत्माको निर्बल समझा यह शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि रखनेके संस्कार लगे हैं इसके सम्यत्व कहांसे होगा? वह तो ज्ञानी भी नहीं है फिर वह गुरु कैसे हो सकता है? शरीर अगर पुष्ट हो गया तो यह मानना कि मैं आत्मा पुष्ट हो गया हूं, या इस शरीरको ही निरखकर अपनेको उच्च अथवा नीच मानना ये सब देहात्मबुद्धिकी बातें हैं। जो खुद नहीं है, पररूप है, उसको अपना मानना यह मिथ्यात्व है कितने ही पुरुष तो ऐसे भी होते कि जो वचनोंसे तो कह देंगे कि ये सब परपदार्थ हैं, परवस्तु हैं लेकिन भीतरसे ऐसा लगाव रखे रहते हैं कि उन पर पदार्थोंके संयोग एवं वियोगमें भारी हर्ष विषाद मानते हैं। तो भीतरमें जिसके इस प्रकारका आशय पड़ा है उसके मिथ्यात्व नामका परिग्रह है, और जिसके मिथ्यात्वपरिग्रह लगा है वह गुरु नहीं हो सकता।

वेद रागद्वेष परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(२) दूसरा परिग्रह है वेद। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, इनमें कामवासनाका भाव रखना यह वेद परिग्रह है। वेदरसानुभवमें आत्मस्वभावकी सुध नहीं रहती। (३) तीसरा अंतरंग परिग्रह है राग। पर द्रव्य शरीर, धन, स्त्री पुत्रादिक सम्बंधी समस्त परपदार्थोंमें अनुरक्त होना, उससे अपना महत्त्व मानना यह राग परिग्रह कहलता है। जिसके परपदार्थोंमें राग लगा है वह गुरु कैसे हेा सकता है? (४) चौथा परिग्रह है द्वेष। दूसरोंका ऐश्वर्य देखकर उससे द्वेष हो जाना। हांलाकि उससे अपना बिगाड़ क्या होता, क्यों अपना अपमान महसूस कर रहा? तो बात यह है कि वह अपने ऐश्वर्यका बड़ा रागी है। वह अपना बड़ा ऐश्वर्य चाहता है पर मिला न हो, मिल

गया हो वह ऐश्वर्य किसी दूसरेको तो उस दूसरेसे इसे द्वेष बन जाता। इसी तरह दूसरेकी जवानी तथा धन सम्पत्ति देखकर उससे बैर रखना द्वेष है। जैसे कोई धनिक वृद्ध हो गया, रोगी भी है तो वह दूसरोंको खूब मौजसे खाते पीते रहते देखकर उनसे ईर्ष्या करता है तो यह उसका द्वेषपरिग्रह है। ऐसे ही किसीका भारी यश बढ़ रहा हो उसके प्रति द्वेष हो जाना यह द्वेष परिग्रह है। जिसके द्वेषपरिग्रह लगा है वह गुरु कैसे कहला सकेगा?

हास्य भय-रति अरति परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(५) पांचवां अंतरंग परिग्रह है हास्य। हंसनेका परिणाम बनाना, विनोदकी प्रकृति बनाना, किसी भी घटनामें हंसना, ऐसा परिणाम जिसके हो रहा हो तो उसका उपयोग किस तरफ है? परद्रव्योंकी ओर। स्वयंके आत्मस्वरूपकी ओर नहीं। तो जिसके ऐसा हास्य परिग्रह लग रहा वह गुरु कैसे? (६) छठा अंतरंग परिग्रह है भय। अपना मरण होनका भय होना वियोगका भय लगा है, मैं मर जाऊंगा···; मरणके समयमें जो वेदना होती है उसका डर लगना यह सब भय परिग्रह है। भयपरिग्रहमें उपयोग अन्तस्तत्त्वकी ओर नहीं रहा। (७) सातवां अन्तरंग परिग्रह है रतिपरिग्रह जो पदार्थ अपने रागके कारणभूत हों याने राग कराने वाले पदार्थ उनमें आसक्तिसे लीन होना, रत हो जाना यह रति परिग्रह है। जिनके ऐसा रतिभाव है पर पदार्थोंमे उनमें गुरूपना कैसे सम्भव है? (८) आठवां अन्तरंग परिग्रह है अरति परिग्रह यह परिग्रह भी आत्मविमुख कर देता है जो वस्तु अपनेको अनिष्ट लगती हो, उसमें परिणाम न लगता हो, चित न लगता है और उसके प्रति ग्लानि बन जाय तो वह अरति परिग्रह है।

शोक जुगुप्सा परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(९) नवमा परिग्रह है शोक परिग्रह। किसी इष्ट पुरुष या इष्ट वस्तुका वियोग हो जाय तो वह शोक परिग्रह है। देखिये जीवनमें सबको कुछ न कुछ वियोगकी घटनायें आती हैं, कहीं कोई गुजर गया, कहीं कोई चीज गुम गई, कहीं कुछसे कुछ घटना घट गई, ये बातें सब पर आती हैं तो फिर संसारमें सुखकी बात रही क्या? इन दुःखोंसे घबड़ाना नहीं इसके लिए चाहिए प्रभुकी आराधना, आत्माराधना। अपनेमें ऐसा भाव बने कि हे प्रभो मेरेमें वह बल प्रकट हो जिससे सर्व व्याधियोंको मैं समतासे सह सकूं। यदि कोई ऐसा मांगे या सोचे कि हे भगवान मुझको कोई कष्ट न आये तो यह बात बन नहीं सकती, क्योंकि संसार तो कष्ट रूप ही है, किसीको कुछ कष्ट है किसीको कुछ। तो मेरेको कोई कष्ट न आये, मैं सुखमें रहूं ऐसी अभिलाषा करना बिल्कुल बेकार है, क्योंकि ये अपने आधीन नहीं है, ये सब बातें आयेंगी। अपनी ऐसी भावना रहे कि हे प्रभो मुझमें ऐसा ज्ञान प्रकाश रहे कि मैं अपने ज्ञानको बड़ी सावधानीसे सम्हाले रहूं। कितनी ही व्याधियां आयें पर मैं उन्हें समतासे सहलूं। क्या है वे सब बाह्यपरिणतियां हैं। तो मैं सब स्थितियोंमें धीर रह सकूं यह अभिलाषा करना तो ठीक है पर यह अभिलाषा करना ठीक नहीं कि मेरेको कष्ट न आये। अरे यह संसार तो कष्टोंसे ही भरा हुआ है। सबको ये कष्ट भोगने पड़ते हैं। हां यह बात है कि जो ज्ञानीजन हैं वे इन कष्टोंको समतासे झेलते हैं और जो अज्ञानीजन हैं वे उन दुःखोंसे घबड़ाकर निरन्तर बेचैन रहा करते हैं ऐसी उनकी स्थिति होती है। तो यह शोक नामका परिग्रह जहां लगा है वो तपस्वी नहीं कहला सकते। (१०) दसवां परिग्रह है जुगुप्सा—बाह्य पदार्थोंको देखकर उनके प्रति ग्लानि होना,

बुरा लगना यह जुगुप्सा परिग्रह है। इसमें यह भी बात शामिल है कि दूसरोंका पुण्योदय है सो वे भली प्रकार रह रहे हैं, अब उनको सुखी देखकर खुदको सुहाये नहीं तो यह जुगुप्सा परिग्रह कहलाता है। जिसके जुगुप्सा है उसके गुरुपना कैसे सम्भव हो सकता है।

क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(११) ग्यारहवां अंतरंग परिग्रह है क्रोध। रोषका परिणाम होना, गुस्साका परिणाम होना यह क्रोध परिग्रह हैं कितने ही लोग तो इस क्रोध भावको अपनाये रहते हैं। मानलो किसी प्रतिकूल घटनाको देखकर क्रोध आ गया तो उस क्रोधको कम नहीं करना चाहते बल्कि कम होने लगे तो और भी क्रोधको बढ़ाना चाहते, इसलिए कि कहीं क्रोध कम हो गया तो फिर मैं इससे बदला कैसे चुका सकूंगा? तो भला बताओ जो क्रोधमें लीन हैं वे तपश्चरण कैसे कर सकते हैं? (१२) बारहवां अंतरंग परिग्रह है मानपरिग्रह याने घमंड होना। घमंडका जीतना बड़ा कठिन है और खासकर मनुष्योंमें मानकषायकी प्रधानता है। यद्यपि घमंड चारों गतियोंके जीवोंमें होता किन्तु विशिष्ट घमंड मनुष्यगतिमें कहा गया है। नरकगतिमें क्रोध मुख्य है, तिर्यञ्च गतिमें माया मुख्य है, देवगतिमें लोभ मुख्य है और मनुष्यगतिमें मान मुख्य है। देखिये कैसी विचित्र बात है कि इन देवोंको जरुरत कुछ नहीं है धनकी, क्योंकि उन्हें खाने पीने आदिके कोई रोग नहीं सताते, फिर भी तृष्णावश वे निरन्तर धन वैभवके पीछे दुःखी रहा करते हैं, ऐसे ही मनुष्यभवमें देख लो, मान कषायकी आदत बनी रहती है। कोई अच्छी जातिका है, कुल अच्छा मिला है तो उसका ही घमंड हो जाता कि मैं अच्छे कुलका हूं, बाकी ये सब लोग तो नीच कुलके हैं। अरे कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको तो सभी जीवोंके अन्दर ज्ञानस्वभावको निरखना चाहिए। और पर्यायमें जो कुछ उसकी त्रुटि हो रही है वह गौण हो जाती है, मुख्यता रहती है चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखनेमें। मैं उच्च कुलका हूं, ये नीच कुलके ऐसी प्रधानता ज्ञानी पुरुष नहीं रखता, बल्कि कोई नीच कुलमें जन्मा हो तो उस आत्माके स्वभावपर दृष्टि रखकर यह विचारता कि यह तो है बेचारा स्वरूपदृष्टिसे भगवत स्वरूप मगर कर्मोदयकी विचित्रता देखिये कि आज यह इतनी नीच स्थितिमें है अब भला बताओ जहां मान परिग्रह है वहां तपश्चरण कैसे किया जा सकता? किसीको मान लो बड़ा सुन्दर रूप मिल गया तो वह अपनी सुन्दरताका बड़ा अहंकार करता? अरे क्या है यह सुन्दरता? जरा इस पतली चामके अन्दरकी चीजोंका तो ध्यान करो, खून, मांस, मज्जा आदि महा अपवित्र चीजें हैं, इस रूप सौन्दर्य का क्या घमंड करना? ऐसी ही बात सब प्रकारके घमंडोंके प्रति समझो। तो जहां मान कषाय है वह तपस्वी कैसे? (१३) तेरहवां अंतरंग परिग्रह है माया परिग्रह। जरा जरासी बातमें मायाचारी करना यह माया परिग्रह है। मायाचारी पुरुष तपस्वी कैसे कहा जा सकता? उसका तो चित्त ठिकाने ही न रहेगा। (१४) चौदहवां अंतरंग परिग्रह है लोभ परिग्रह। लोभ लालच तृष्णाका होना तो इस जीवके महा पतनका कारण है, निरन्तर बाह्यदृष्टि रहा करती है। ऐसी बाह्यदृष्टि रहने पर तपश्चरण कैसे किया जा सकता। अतः जहां लोभ परिग्रह लगा है उसे तपस्वी नहीं कहा जा सकता। जो स्वयं रागीद्वेषी है मोही है मलिन है वह गुरु कैसे हो सकता?

गुरुकी विषयातीतता निरारम्भता व अपरिग्रहताका पुनः स्मरण—गुरुका स्वरूप कहा जा रहा है जिसका अपर नाम है तपस्वी। जिनके अन्तरंग और बहिरंग तप हो उन्हें तपस्वी कहते हैं। गुरु

विषयोंके वश नहीं रहते। जो विषयोंके वश रहे वे दूसरोंको विषय त्यागनेका उपदेश कैसे दे सकते हैं, उनके उपदेशमें प्रभाव न रहेगा। गुरु तपस्वी आरम्भरहित होते हैं। जो भोजन पानी आजीविका आदिक किसी भी प्रकारका आरम्भ करें तो वह खुद बुरे कार्योंमें लग रहा, फिर वह दूसरोंको पापकार्य छोड़नेका क्या उपदेश कर सकेगा? तो गुरु अपरिग्रही होते हैं। परिग्रह २४ प्रकारके कहे गए थे जिनमे अन्तरंग परिग्रह तो १४ हैं और बहिरंग परिग्रह १० हैं। इन परिग्रहोंमें पहले क्या छोड़ना चाहिए, पीछे क्या छोड़ा जायगा इसका कोई नियम नहीं है। अथवा प्रायः नियम है तो बाह्य परिग्रहके छोड़नेका पहले नियम है, अंतरंग परिग्रह उसकेछूटता है जिसके बाह्य परिग्रह न रहा हो। फिर भी अन्तरंग परिग्रहमें जिसकी हीनता होगी तथा भावनामें अन्तरंग परिग्रहसे विविक्त अन्स्तत्त्वको प्राप्त कर लिया है। वह बाह्य परिग्रहको छोड़ सकेगा। जैसे चावलमें दो मैल होते हैं—एक तो ऊपरका धानका छिलका और दूसरा—चावल पर स्वयं जो प्राकृतिक पालिस सी रहती है वह तो अब बतलाओ कि चावलका अन्तरंग मल तो है पालिस और बहिरंगमल है छिलका। तो पहले उसका बहिरंग छिलका छुटाते हैं बहिरंगमल? बहिरंग छिलका। तो जिनका बहिरंगमल याने बाह्य परिग्रह नहीं छूटा उसका अन्तरंग परिग्रह नहीं छूट सकता।

निष्परिग्रह होनेके उपायप्रक्रमका क्रम—जिनको बाहरी परिग्रह नहीं छोड़ता है वे इस तरहकी बात को प्रधानतासे कहेंगे कि क्या है, अपना अन्तरंग भाव शुद्ध होना चाहिए, बाहरकी बात अपने आप हो जायगी। अरे ऐसा कहते-कहते सारी जिन्दगी गुजर जाती पर बहिरंगमल नहीं छूट पाता तो फिर वैसा कहनेका क्या अर्थ रहा? जो विधि है जैन सिद्धान्तमें वह इस प्रकार है कि पहले यह जीव तत्त्वज्ञान करे। तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेसे इसका अन्तरंग परिग्रह मंद होगा। अन्तरंग परिग्रह मंद होने पर इसकी भावना बनेगी बहिरंग परिग्रहके त्यागकी। और उसी समय या उसके बाद अन्तरंग परिग्रह छूट जाता है। बाह्य परिग्रह रखे रहें और कहें कि मेरा अन्तरंग परिग्रह तो छूटा हुआ ही है तो उनकी यह बात मानने योग्य नहीं है। इसी सिद्धान्त पर सवस्त्र मुनियोंका निर्माण हुआ है, वस्त्र भी पहने रहें और अपनेको मुनि भी कहते रहें। जिन सम्प्रदायोंमें वस्त्रधारियोंको मुनि कहते हैं उनका यह ही तो तर्क था कि हमारे अंतरंग परिग्रह नहीं है यह बहिरंग परिग्रह ऊपर पड़ा हुआ है। अरे पड़ा हुआ क्या है? जब वस्त्र रखते तो उनके धरने उठाने खरीदने आदिके अनेक विकल्प चलते तो बताओ कहां छूटा अन्तरंग परिग्रह? सो अंतरंग परिग्रह मंद हुए बिना बाह्य परिग्रह नहीं छूटता और बाह्य परिग्रह छोड़े बिना अन्तरंग परिग्रहका मूलसे सफाया नहीं होता। और अन्तरंग परिग्रहका वर्णन हो घुका है, अब बाह्य परिग्रह बतलाते हैं।

तपस्वीकी बाह्यपरिग्रहरहितता—बाह्य परिग्रह १० प्रकारके हैं—खेत, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन। जो भी परिग्रहके नाम छूटे हों उनकी समानता जानकर इन ही में गर्भित कर लेना। कोई संन्यासी खेत रख रहा है और कहता है कि यह दूसरोंके उपकारके लिए खेत रख रहे हैं, इसमें वृक्ष तैयार करते हैं, सींचते हैं, दूसरे लोग खाते हैं। उनको सुख पहुंचता है ऐसी

दलील दिया करते हैं मगर खुदकी बात तो देखो कि मोक्ष चाहिए या संसारमें रहना चाहिए? यदि मोक्ष चाहिए तो वीतराग भावका आदर होना चाहिए।

वीतराग भावके आदरमें दूसरे जीवोंपर दया होगी तो उसके स्वरूपको निरखकर कि इस स्वरूपका विकास हो इस विधि वाली दया होगी। जो साधु मार्गमें चल रहे हैं उनकी दयाकी विधि और है, जो संसारमार्गमें लग रहे हैं उनकी दयाकी विधि और है। तो जिसके पास खेतादिकका परिग्रह है उसके सन्यास न कहलायेगा। ऐसे ही यह मकान परिग्रह, मकान बनता हो, रहता हो किसी रूपमें, यह मेरा है ऐसा स्वीकार करते हो तो इस भावके रहते हुए वह अपरिग्रह नहीं कहला सकता। ऐसे ही सोना, चांदी, रकम, गाय, भैंस, अनाज, नौकर, नौकरानी, वस्त्र और बर्तन आदि सभीकी बात समझ लेना चाहिए। अनेक सम्प्रदायोंमें साधु समाजमें वस्त्र और बर्तन रखने वाले बहुत मिलेंगे। भले ही दूसरोंपर छाप रखनेके लिए उसमें भी भेष बना रखा, सफेद सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, एक मुद्रा बना रखी कि दूसरों पर थोड़ा असर तो रहे, जो गृहस्थों जैसे कोई धारीदार पहने, कोई किनारीदार, कोई लाल कोई पीले, कोई किस ही तरहके, यों नाना तरहकी बात होनेसे प्रजाजनोंपर उनका पूरा प्रभाव नहीं पड़ता सो उन्होंने तय कर रखा है कि सफेद सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, किसीने तय कर लिया कि लाल लाल ही वस्त्र पहनेंगे, किसने तय किया कि पीले पीले ही वस्त्र पहनेंगे किसीने तय किया कि गेरुवे रंगके ही वस्त्र पहनेंगे। भोली भाली जनता इस बाहरी भेषको देखकर समझ लेगी कि अरे ये तो साधु महाराज हैं। पर यहां कह रहे कि ऐसा वस्त्र परिग्रह जिसके हो वह साधु मुनि मोक्षमार्गी नहीं कहला सकता। मुनि वह है जिसका ध्यान आत्माके प्रति रहा करे, और बाह्य वातावरण भी ऐसा हो कि जिसमें ध्यानसे विचलित न हो सके। ऐसे ही बर्तन परिग्रह रखने वाले साधु अनेकों सम्प्रदायोंमें मिलेंगे। सो उसकी भी पोल ढाकनेके लिए उनका नाम उपकरण रख लिया है। और लोगोंपर कैसे प्रभाव पड़े तो किसीने काठ काठके ही बर्तन रखे, किसीने किस ही प्रकारके रखे। तो बर्तनोंका और वस्त्रोंका रखना बहुतसे सम्प्रदायोंके साधुवोंमें मिलता है, मगर वस्त्र क्या, बर्तन क्या, अन्न क्या, इन परिग्रहोंसे जो युक्त है उसके साधुता नहीं कहला सकती।

सर्वसाधारण साधुवोंका सर्वसाधारण एक चिन्ह—साधुका एक मुख्य चिन्ह तो यह होगा उसके पैरमें जूते न होंगे, यह एक मुख्य चिन्ह समझिये जिसे देखकर आजकलके लोग झट समझ लेते कि यह साधु है। यह एक साधारणरूपकी बात कह रहे हैं। इस सम्बन्धमें कि कदाचित मानलो कि वस्त्र भी पहने हों किसी सम्प्रदायके साधुने तो उन्हें साधु मान लिया पर जो जूते पहिनकर चलते हों उनके तो जरा भी साधुपना नहीं है। उसका कारण क्या है सो आपके अनुभव बतायेंगे। जूते पहिनकर चलने वालेकी करतूत बतायगी एक तो जमीन देखकर चलनेका काम वहां नहीं रहता, क्योंकि पैरमें कुछ लगनेका डर ही नहीं है। दूसरी बात वहां कुछ न कुछ अहंकारका ढंग बन जायगा। वहां जीव दया पालनेका रंच भी भाव नहीं रहता, यदि जीव दयाका भाव होता तो जूते ही क्यों पहनते, जमीनमें नीचे देखकर चलते, नंगे पैर चलते। तो एक मुख्य चिन्ह है बाहरसे एक जनरल साधुवोंमें भी यह जाननेके लिए कि इनका हृदय विरक्त है अथवा नहीं, तो उसकी यह मोटी निशानी है कि उसके पैरमें

जूते न मिलेंगे। तो यहां समीचीन पद्धतिसे कह रहे हैं कि किसी भी प्रकारका बाह्य परिग्रह गुरुजनोंके नहीं होता। यदि कोई तपस्वी साधु बड़ी तपस्या करके भी, बाह्य संयमकी प्रवृत्ति रखकर भी उसका चित्त अगर अंतरंग बहिरंग परिग्रहसे मलिन है तो उसका अकेलापना नहीं कहला सकता।

सुगुरुकी ज्ञानध्यानतपोरक्तता—चौथा विशेषण गुरुका इसमें दिया है कि वह ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहता है यही उनका रात दिनका व्यवसाय है। ज्ञानमें लीन होनेके मायने स्वाध्याय आदिक करना, पढ़ना धर्मवार्ता करना और ध्यानमें लीन होनेके मायने जो ज्ञान किया, जिस अंतस्तत्त्वका बोध किया उसका मनन करना, एक ही जगह उपयोगा रमाना और तपश्चरणका मतलब अंतरंग और बहिरंग तपका करना, अब दूसरी विधिसे अर्थ देखिये—ज्ञानका अर्थ है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, ज्ञानमें कोई तरंग लहर विकार मल न आने देना, ऐसा केवल ज्ञाता मात्र रहना सो उनका है ज्ञान, वह है ज्ञानमें लीन और ध्यान और तपका वही अर्थ है जो पहली विधिमें कहा। अब इस द्वितीय विधिमें यह क्रम बनेगा कि गुरुको, साधुको मुख्यतया ज्ञानमें लीन रहना चाहिए अर्थात् ज्ञाता मात्र रहना चाहिए। विकार, तरंग, विचार, तर्क, इष्ट, अनिष्ट इन विकृतियोंसे हटकर केवल जाननहार रहना इसे कहते हैं ज्ञानलीनता। तो सबसे ऊंचा काम है ज्ञानलीनता। अब यदि इस ज्ञानमें लीन न रह सके, ज्ञानमात्र वृत्ति बना सके तब दूसरा काम है ध्याान करना अर्थात् ज्ञान उत्कृष्ट है, ध्यान उससे नीचा है, ध्यानसे ऊंची चीज ज्ञान है यह दूसरी विधिमें बतला रहे हैं और इस ज्ञानका अर्थ केवल जानकारी भर नहीं, किन्तु रागद्वेष न होकर केवल शुद्ध जाननहार रहना, ऐसे ज्ञानमें लीन न हो सके तो ध्यानमें लीन हो। ध्यानमें लीन होनेका अर्थ है कि किसी भी एक विषयपर, अन्तस्तत्त्वपर, द्रव्य गुण आदिक पर उपयोग लगाया, मनन किया तो उस ही ओर एकाग्रमनन चलना ध्यान कहलाता है। ध्यान भी एकसा नहीं चल सकता है, उसकी बदल होती है मगर उस विषयकी बदल न करें जिस विषयको ध्यानमें लिया है तो कुछ बदल भी होती रहे तो भी वह ध्यान कहलाता है। तो देखिये मुख्य बात है ज्ञानमें लीन रहना। ज्ञानमें लीन न रह सके तो ध्यानमें लीन रहना और ध्यानमें भी लीन न रह सके तो तपश्चरण करना, देखिये अन्तरंग वृत्तिका क्रम। तपश्चरणमें तो नानाविधता है, अनेक प्रकारकी बात है। ज्ञान ध्यानमें जिसकी लीनता नहीं है तो वह तपश्चरण करके अपनेको पापभावसे बचाता है। तो यों जो पुरुष ज्ञानध्यान तपमें लीन हो वह गुरु कहलाता है। ऐसा तपस्वी प्रशंसनीय है। यहां प्रकरण चल रहा था कि देव, आगम और गुरु इनका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसीसे ही सम्बंधित है आत्मस्वरूप, सो आत्मस्वरूपका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उस सम्यग्दर्शनमें क्या क्या विशेषतायें होती हैं, अर्थात् जिनजीवोंके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उनमें मौलिक बात क्या आ जाती है उसका वर्णन करेंगे और वे ८ प्रकारोंमें बतायेंगे जिन्हें कहेंगे ८ अंग। उन ८ अंगोंमें से प्रथम अंगका वर्णन करते हैं।

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥

देवके देवत्वके प्रति ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा—देव शास्त्र गुरुका जो ज्ञान श्रद्धान पाया, आत्माके

सहज स्वरूपका जो ज्ञान श्रद्धान मिला, उसमें ऐसी दृढ़ता होना कि तत्त्व यही है, तत्त्व इसी प्रकार है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है, इस तरहके अकम्प जरा भी न कंपे ऐसी रुचि होना सन्मार्गमें उसका नाम है निशंकित अंग। जैसे कि तलवारकी धारपर पानी चढ़ाया जाता है तो और पानी तो ढुलमुल होता है, पर तलवारपर जो पानी चढ़ चुका वह पानी चलित नहीं होता, जहांका तहां ठहरा हुआ है। बर्फ भी बनता है पानीका, पर वह चलित हो जाता, पिघल जाता, बिखर जाता, पर तलवारकी धार पर चढ़ा हुआ पानी बिखरता नहीं। उस पानीके चढ़ानेकी कोई विधि है तब ही तो कहते हैं कि भाई यह अपने विचारसे न हटेगा, इस पर पानी अच्छा चढ़ा हुआ हैं। तो वह चढ़ा हुआ पानी क्या कहलाता? वह एक दृष्टान्त है कि जैसे तलवारकी धार पर चढ़ा हुआ पानी अचलित है ऐसे ही अचलित श्रद्धा जिसकी है, जिसमें रंच भी कम्पन नहीं, चलायमानपना नहीं उसे कहते हैं निशंकित अंग। जिसके सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह सिद्धान्त विरुद्ध भेष और क्रिया निरखकर वहाँ आकर्षित नहीं होता, अपनी श्रद्धासे विचलित नहीं होता। देवोंका स्वरूप देखिये—अनेक लोगोंने अनेक प्रकारका माना है। अनेक प्रकारके शस्त्र हाथमें लिए है, कोई गदा लिए, कोई चक्र लिए, त्रिशूल लिए, तलवार लिए, धनुष बाण लिए, यों कितने ही प्रकारके शस्त्र लिए है, और इतना ही नहीं, कितने ही देव तो स्त्रीसहित हैं और भक्तजन उनका बड़ा आदर भी करते। और वह स्त्री साथ ही बैठी हो, ऐसा उसका चित्र रखते हैं। उसमें लोग देवत्वकी श्रद्धा करते हैं तो कारण क्या है कि देवका जो स्वरूप है वास्तविक कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह होता है देव, यह लक्ष्यमें नहीं है या इस ओर उनकी दृष्टि नहीं है, यहां तो किसी ऐसे ब्रह्मचारीको भी नहीं माना जा सकता जो कि घरके दोनों ही स्त्री पुरुष एकसाथ बैठे हों ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रूपमें और उनका साथ फोटो खिंचे। तो जैसे भगवान और भगवती हैं ऐसे ही ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हो जाय यह भी स्वीकार नहीं किया गया। तब फिर जो शस्त्र लिए हो, स्त्रीमें आसक्त हो, जिसका चारित्र ऐसा बना हो कि जरा जरा सी बातमें क्रोध आये घमंड बगराये, मायाचारी करे, लोभ करे, और जिसके ऐसी वाञ्छा रहती हो कि मैं लोगोंको कुछ अपना करतब दिखाऊं तो ऐसा रागसहित, परिग्रह सहित आत्मा देव नहीं कहा जा सकता है। देवके स्वरूप पर सम्यग्दृष्टिकी प्रखर श्रद्धा है।

आगम व गुरुके प्रति ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा—आगममें ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा है। समीचीन आगम वह है कि जिसमें लिखे हुए उपदेश विषयोंसे हटायें और आत्मस्वरूपमें लगायें। वह है आगम। अब कोई भी जीव विषयोंसे तब ही हट सकता और अपने स्वरूपमें तब ही लग सकता जब उसको तत्त्वज्ञान हो। वस्तुका स्वरूप कैसा है, इस सम्बंधमें यथार्थ ज्ञान हो तो मोह हटेगा। तो जिसमें वस्तुस्वरूपका परिचय कराया गया हो, हिंसा, काम, क्रोधादिकमें जिसको वैराग्य कराया गया हो उसे आगम कहते हैं। ज्ञानी जीवको गुरुके विषयमें भी दृढ़ श्रद्धा है। अनेक पाखंडी, लोभी, कामी, अभिमानी लोगोंको लोगोंने गुरु मान रखा सो सम्यग्दृष्टिके चित्तमें यह पूर्ण निर्णय है कि जो कुछ ग्रहण करता है वह गुरु नहीं है। छोड़ना छोड़ना ही काम होता है गुरुवोंका। वस्त्र छोड़ा, घर छोड़ा, आरम्भ छोड़ा, परिग्रह छोड़ा, ममत्व छोड़ा, यों छोड़ने छोड़नेकी बात हो होकर जहां एक ऐसी मुद्रा रह गई कि वह अब छोड़ी

कैसे जा सके? निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है, तो ऐसे ही आत्मस्वरूपकी उन्मुखता रखने वाले पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु कहला सकते हैं। गुरुका अन्य प्रकार नहीं, ऐसी देव शास्त्र गुरुके विषयमें दृढ़ श्रद्धा होना, उसमें शंका न होना सो निशंकित अंग कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके इहलोक भयका व परलोक भयका अभाव—जिसको अपने आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, उसको दुनियामें फिर कोई शंका नहीं रहती। शंका कहो, भय कहो, शंकासे भय होता है। भयसे शंका बनती है, जगतके जीवोंको इस लोकका भय लगा हुआ है कि इस जीवनमें मेरी आजीविका सही रहेगी या नहीं। इस प्रकार इस लोक सम्बंधी शंका बनी रहती है, मेरी इज्जत सही रहेगी या नहीं, पता नहीं कैसे कैसे कानून बनेंगे। मेरा कैसे गुजारा होगा, ऐसा इस जीवनकी शंकायें रखा करते हैं अज्ञानी, किन्तु ज्ञानी पुरुषको यह कोई शंकानहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि मेरा आत्मा पूरा है, इसमें दूसरेका कोई प्रवेश नहीं। मेरी कोई चीज मेरेसे अलग होती नहीं, बाहरकी चीजें हैं। जैसापरिणमें परिणमें, उससे मेरेमें क्या हानि होती है, यह निर्णय है ज्ञानीका, जिसने आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान किया, इस कारण इसे इस लोक सम्बंधी शंका नहीं रहती। कभी यह जीव यदि परलोककी बात कुछ समझी है या चर्चा की है तो उसे परलोक सम्बंधी भी भय बन जाता है। मरकर मैं कहां जाऊंगा? किस गतिमें जन्म लूंगा, वहां मेरी क्या हालत होगी, ऐसी परलोककी शंका रखते हैं अज्ञानी, किन्तु जो ज्ञानी जीव है, जिसको आत्माके स्वरूपका परिचय है वह जानता है कि मैं हूं मेरा स्वरूप है, मेरे स्वरूपमें मेरी सारी बात है। परलोक जाऊंगा तो यह मैं पूराका पूरा परलोकमें रहूंगा, मेरा लोक और परलोक तो मेरा चह चैतन्य स्वरूप है। बाहरी चीजोंसे ज्ञानी अपना लोक परलोक नहीं मानता। अपने आत्मका बोध है इस कारण ज्ञानीको परलोक का भय नहीं रहता।

सम्यग्ज्ञानी जीवके मरणभयका व वेदनाभयका अभाव—जीवको मरणका भय बहुत रहता है। मरणभयसे सभी जीव दुःखी रहा करते हैं। नारकी जीव तो मरण चाहते हैं पर उनका मरण नहीं होता। जितनी आयु बची है उतनी आयु तक ही रहेंगे नरकमें। इनके शरीरके खण्ड खण्ड टुकड़े भी कर दिए जाते हैं, क्योंकि वे नारकी सब परस्पर लड़ते हैं लेकिन वे टुकड़े भी इकट्ठे हो जाते हैं और ज्योंका त्यों शरीर भर जाता है। फिर लड़ते हैं। जो वे नारकी चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय। नरककी वेदना बड़ी कठिन है और उनका मरण बीचमें नहीं होता, क्योंकि उनका वैक्रियक शरीर हैं, बाकी तीन गतियोंके जीव कोई मरण नहीं चाहते कैसी ही हालत हो जाय, वृद्ध हो गए, कुछ तकलीफमें हो गए, कैसी ही स्थिति हो जाय पर मरण किसीको प्यारा नहीं, कोई मरण नहीं चाहता। पशु-पक्षी, कीड़ा मकोड़ा किसीको मरण इष्ट नहीं है। तो मरणका भय संसारी जीवोंको लगा है किन्तु ज्ञानी जीव जिसने आत्माके स्वरूपका परिचय किया है वह जानता है कि मैं तो अमर हूं। मेरा जो अस्तित्व है वह कभी नष्ट नहीं होता। मैं तो सदा ही रहता हूं, मेरा मरण नहीं होता। जैसे कोई पुरुष किसी घरमें रहता है और घरोंमें चलता फिरता है, दूसरे घरमें पहुंच जाता है तो आदमी तो जिन्दा है वही, ऐसे ही आत्मा आज इस शरीरमें है कल दूसरे शरीरमें है, भले ही कई गतियोंमें यह जन्म लेता रहा मगर आत्मा तो मूलमें वही है, वह कष्ट नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानीको मरणकी शंका नहीं हुआ करती। भले ही रोगका

भय रहता है। मेरे शरीरमें कोई रोग न हो जाय, अथवा थोड़ा रोग हुआ हो तो यह बढ़ न जाय, तब क्या होगा? यह कठिन रोग लग गया है, ऐसी चिन्ता और शंका रहती है, पर ज्ञानी जानता है कि रोग नाम है किसका। शरीरमें कोई परिवर्तनसा हुआ है। वात पित्त कफ नसाजाल मांस आदिकमें कुछ परिवर्तन हुआ है, इस ही का नाम रोग कहते हैं। तो शरीर तो मेरे आत्मस्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं, मैं शरीरसे अत्यन्त निराला हूं। मेरे आत्माको रोग नहीं होता। वह बाहर शरीर में इस रोगको निरख रहा है, उसे रोगकी शंका नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीवके अरक्षाभयका अगुप्तिभयका व आकस्मिकभयका अभाव— जीवोंको अरक्षाका भय रहता है। मेरा कोई रक्षक नहीं, मेरा कोई समर्थक नहीं, इस प्रकार की शंका रहती हैं। ज्ञानी जीवाको यह शंका नहीं रहती। वह जानता है कि मेरा सहाय करने वाला मेरा भगवान आत्मा है। दूसरा कोई मेरा मददगार नहीं। जब मैं अपने भगवान आत्मस्वरूपकी सुध करूँ तो सारे संकट टल जायेंगे। जब निज भगवान आत्मकी सुध नहीं रखते, बाहरी पदार्थोंमे चित्त रमाया करते, तब फिर कौन सहाय बनेगा जिन बाहरी पदार्थोंमें रम रहे हैं वे भिन्न हैं, विनाशीक हैं, वे मेरे मददगार कैसे होंगे तो ज्ञानी जीव जानता है कि मैं परिपूर्ण हूँ, मेरा विनाश ही नहीं हैं, फिर रक्षा का प्रश्न क्या। सदा सुरक्षित हूँ। ज्ञानी जीव को अरक्षाकी शंका नहीं रहती। अनेक जीवों को अगुप्तिभय रहता है कि मेरा मकान सुरक्षित नहीं हैं, किसी भी ओर से चोर आ सकते हैं, डाकू आ सकते हैं, चीजें चुरा ले जा सकते हैं, किवाड़ भी ठीक नहीं हैं, ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनायें करके वे अपनी अगुप्तिका भय बनाये रखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जानता हैं कि मेरेमें अगुप्ति कहाँ है। मैं पूरा एक दृढ किले की तरह हूँ, जैसे मजबूत किले के अन्दर दुश्मनका प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे ही मेरे स्वरूपमें किसी दूसरे का स्वरूप नहीं आ सकता। मैं परिपूर्ण हूँ अधूरा सत् नहीं होता, मेरी अगुप्ति कहाँ? पूरा मैं अपने प्रदेशोमें चारों ओर से दृढ़ हूँ। ज्ञानी जीव को अगुप्ति का भय नहीं होता।

अनेक जीवोंको अकस्माद्भय सताता है। न जाने अकस्माद् ही क्यासे क्या हो जाय? कहींसे बिजली गिर जाय, छत गिर जाय, और और भी कल्पनायें करके बहुतसी शंकायें बन जाती हैं, पर ज्ञानी जीवको अकस्माद्भय भी नहीं हैं, क्योंकि वह जानता है कि मेरेमें किसी दूसरेसे कुछ होता ही नहीं। जो अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको देखे और उस ही रूप अपना अनुभव बनाये रहे तो उसे काहेका कष्ट है पर अपने स्वरूपमें रह नहीं पाता।बाहरी पदार्थोंमें अपने सुधार बिगाड़की कल्पनायें करके दुःखी होते हैं और भय मानते हैं। तो ज्ञानी जीवको अपने आपमें कोई शंका नहीं होती।

दुर्लभ मनुष्यजन्मका सदुपयोग करनेका संदेश—देखिये यह मनुष्यजन्म बड़ी कठिनाईसे मिला है। संसारमें कितनी ही तरह के जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदिक, इन सब भवोंमें भी हम रहे। इन सब भवोंमें रुलते-रुलते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। आज एक दुर्लभ मानव जीवन मिला तो इस जीवनमें मेरे साथ क्या रहनेका है जो भी समागम हैं वे सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, मेरे अब भी नहीं हैं, मरण होने पर तो तिनका भी साथ नहीं जाता। तब फिर बाहरी पदार्थेकी कल्पनामें क्यों अपना जीवन खोया जा रहा है जिस भाग्यके उदयसे मनुष्य जन्म मिला हैं उसमें इतना भाग्य तो

कम से कम है ही कि गुजारा चले, पर इतनी हिम्मत करना चाहिए कि जो भी साधन भाग्यसे मिले उनमें ही गुजारा कर लूंगा। और किसी भी वाह्य पदार्थसे अपनी रक्षा न मानना, सुख न मानना, अपने ही स्वरूपको आनन्दमय निरखकर उस ही में तृप्त रहना, यह कला सीख लेना चाहिए इस जीवनमें, इसे कहते हैं अध्यात्मकला। बाहर चित्त दे देकर अब दुःखी हो रहे है। शरीर धन वैभव, कुटुम्ब परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदि बाहरी बातोंमें चित्त दे देकर दुःचाी हो रहे हैं। वे पुरुष धन्य हैं जो इस जीवन में अपने कल्याणको प्रमुखता देते हैं, बाकी सब चीजोंको गौण रखते हैं। आत्मकल्याण करनेके लिए ही यह मानव जीवन है, ऐसा निर्णय रखना चाहिये। ज्ञानी जीवके यह निर्णय है इस कारण उसके ये कोई भय नहीं होते।

बाह्य पदार्थोंके लगावकी व्यर्थता व अनर्थता—ज्ञानी जानता है कि मेरा वास्तविक वैभव क्या है? शरीर निराला हैं, मैं आत्मज्योति निराला हूँ। वही मेरा वास्तविक वैभव है। यह शरीर तो बाह्य पदार्थ है। जैसे तार और बिजली का करेन्ट, ये दोनों अलग चीजें हैं ऐसे ही शरीर और आत्मज्योति ये भी अलग-अलग चीजें हैं। जैसे तारके अन्दर वह बिजली रह रही है ऐसे ही इस शरीरके अन्दर वह आत्मज्योति रह रही है। तो यह शरीर तो तारकी तरह है और आत्मज्योति बिजली की तरह है। शरीर निराला है, आत्मा निराला है, पर रह रहा है शरीरमें। तो यह शरीर प्रमाण जो एक आत्मज्योति है वह ज्ञान स्वरूप है। मेरा धन ज्ञान स्वरूप है, अन्य तो परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। यह देह मैं नहीं और देहके सम्बंधी स्त्री पुत्रादिक भी मेरे नहीं। ये भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। ये सब भिन्न द्रव्य हैं। यह तो एक संयोग बन गया है। जैसे दिन भर विचरने वाले पक्षी रात्रि में किसी पेड़ पर इकट्ठे होते हैं, संयोग बन गया है, पर रात्रि व्यतीत होते ही अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चले जाते हैं, ऐसे ही कोई किसी भवसे आया कोई किसी भवसे, किसी एक कुटीमें कुछ जीव इकट्ठे हो गये और अपनी-अपनी आयु पूर्ण होते ही वे सब बिछुड़ जायेंगे। तो मेरे आत्माके ज्ञानस्वरूपको छोड़कर कुछ भी मेरा नहीं है। सब मुझसे भिन्न हैं। जिनका संयोग हुआ उनका वियोग नियमसे होगा और जगतमें ऐसे सम्बंध अनन्तबार हुए, अनन्त बार बिछुड़े, फिर इन समागमोंकी शंका क्यों, वाच्छा क्यों? जिनका संयोग हुआ उनका वियोग जरूर होगा। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अमर हूँ, मैं नष्ट न होऊंगा। जिन जिनका संयोग हुआ है वे सब बिछुड़ जायेंगे, पर मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, वह मेरे से बिछुड़कर कहाँ जायगा? वही तो मैं हूँ। ऐसा दृढ़ निर्णय है ज्ञानी जीवके तो उसको बाह्य परिग्रहोंके बिछुड़नेका भय नहीं रहता।

बाह्यार्थविषयक विकल्प छोड़कर अन्तःप्रकाशमें संतुष्ट होनेका कर्तव्य—भैया, जितने समागम मिले हैं वे सब बिछुड़ेंगे जरूर। चाहे अपने जीते जी ये सब बिछुड़ जायें और चाहे हमारे सामने खुद बिछुड़ जायें, पर बिछुड़ेंगे जरूर। तो अभीसे अगर आत्माके ज्ञानकी बात न सीखी, आत्मज्ञान न समाया तो जीवनमें ठिकाना नहीं है। दुःखी होकर मरना पड़ता है। यदि आत्माका कुछ बोध है तो वह मरते समय दुःखी न होगा। वह तो अपने स्वरूपमें उपयोग लगाकर प्रसन्नताके साथ जायगा। क्या है मेरा यहाँ, इसका उसे कुछ विकल्प नहीं। तो देखिये—मूल तो विपत्ति अज्ञान है। मगर जितना ये बाहरी समागम मिल जाते हैं उतना ही उसको दुःख उठाना पड़ता हैं, क्योंकि यह तो निश्चित है कि

वियोग जरूर होगा और संयोगकी चीजमें प्रेम बहुत कर डाला, मोह बहुत कर डाला, तो जब वियोग होगा तब कष्ट होगा ही। ज्ञानी जानता है कि ये खेत मकान धन दौलत आदिक जो १० प्रकारके बाहरी परिग्रह हैं ये मेरे कुछ नहीं हैं। यह मैं जीव हूँ। ज्ञानस्वरूप हूँ। मुझमें बाह्य पदार्थ झलकते रहते हैं, उसका स्वरूप है, स्वभाव है। वास्तवमें तो मैं किसी बाह्य पदार्थ को जानता भी नहीं हूँ। तो फिर किसको जानता हूँ? बाह्य पदार्थों का जो झलक हो रहा है यहाँ, बस उस झलकने वाली नित्य आत्माको मैं जानता हूँ, जब मेरा इन बाहरी पदार्थोंसे जानने तकका सीधा सम्बंध नहीं तब किसी अन्य परमाणु मात्रसे भी मेरा सम्बंध क्या हो सकता? सो यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्म भयोंसे दूर हैं, और वह जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। केवल ज्ञान-ज्ञान ही रहे, जाननहार ही रहे तो मेरे सहज आनन्द रहेगा और जैसे ही इन बाहरी पदार्थों में कुछ भी ध्यान लगाया, ख्याल किया तो कष्ट होने लगता है। तो मेरा सहाय मेरा धर्म है, अन्य कुछ सहाय नहीं। धर्मके मायने मुझ आत्माका स्वभाव केवल जाननहार रहे, इष्ट अनिष्ट कल्पनायें जगें, वहाँ कोई कष्ट नहीं रहता। इस प्रकार निशंकित अंगका वर्णन किया, अब निकांक्षित अंगका वर्णन करते हैं।

'कर्मपरवशे सांते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेनास्था श्रद्धानाकङ्क्षणा स्मृता॥ १२॥

पराधीन सुखमें लगाव रखनेके अपराध का ज्ञानीके अभाव— सम्यग्दृष्टि जीवके निकांक्षित अंग होता है। वह किसी वस्तुकी चाह नहीं करता और धर्मके एवजमें तो कभी कुछ चाह होती ही नहीं। अज्ञानी जीव किसमें चाह किये हुए हैं? हम मनचाही चीजें खा पी लेंगे, अमुक-अमुक चीजें छू लेंगे, छूने का सुख मान लेंगे, स्वाद का सुख मान लेंगे गंधका सुख मान लेंगे, सुन्दर-सुन्दर रूपावलोकन कर लेंगे, कर्णो से खूब राग रागनीके शब्द सुनकर मौज मान लेंगे, इस प्रकारकी चाह अज्ञानी जीव किया करते हैं। अब जरा देखो तो सही कि ये सुख हैं कहाँ?सर्वप्रथम तो ये कर्मके आधीन हैं। यदि कर्मका उदय हो तो वे चीजें भी मिल जायें जिनको इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता। तो सर्वप्रथम सर्व कुछ समागम सांसारिक सुख कर्माधीन हैं। और ये सब सांसारिक सुख मात्र कर्माधीन हैं इतना ही नहीं किन्तु इनका विनाश होता है। कर्मके आधीन तो हैं पर पुण्यकर्मका उदय आये बिना करोड़ों उपायकर लिये जायें फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे जीव तो पौद्गलिक हैं जो इस जीवनमें सुख दुःख भोगने के लिए नाना प्रकारके विकल्प करते हैं, नानाप्रकारकी चिंतायें रखते हैं। जो उदयमें है सो होगा। और फिर सांसारिक समागमोंकी अभिलाषा ही क्यों रखना। आत्माके स्वरूपको देखें, उसमें ही रमें और प्रसन्न रहें। यह काम करनेको है वास्तवमें, पर जिसके अज्ञान छाया है वह बाह्य पदार्थों की आशकांक्षा करता है। संसार के जितने सुख हैं वे सब कर्म के आधीन हैं। वे कर्म अन्त करके सहित हैं जो कि पराधीन सुख हैं वे आखिर कितने दिनों तक भोगे जा सकते? वे सब विघट जायेंगे। तो इन्द्रियजन्य जितने सुख हैं वे अपने इष्ट विषयके आधीन हैं। इष्टका समागम जो है वह जब नष्ट हो जायगा तब सुख भी नष्ट हो जायगा।

विनश्वर और दुःखव्याप्त सांसारिक सुखके लगावके अपराधकी ज्ञानीमें असंभवता—यहां का सुख क्षणभंगुर है। जैसे बिजली चमकती है और समाप्त हो जाती है ऐसे ही संसारका सुख क्षणभर को मिला औरसमाप्त हो जाता है। कुछ ही दिनोंके लिए ये सब साधन मिल रहें हैं। तो आप यह सोचें कि इस अनन्तकालके सामने यह १०-२०-५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता है? इसकी क्या गिनती, समुद्रके एक बूंद बराबर भी नहीं। यह इन्द्रियसुख क्षणभर है, पराधीन है, पराधीन है। तो जिस सुखमें इतनी पराधीनतायें हैं वे सब हेय हैं। ये सब सुख विनाशीक हैं। अच्छा तो दो बातें सांसारिक सुखमें मिली—(१) ये सांसारिक सुख कर्मोदयके आधीन हैं और (२) विनाशीक हैं। अब तीसरी बात देखिये—जितने समयको ये सांसारिक सुख मिलें हैं उतने समय भी ये सुख नहीं रहते। बीच-बीचमें अनेक दुःख आते रहते हैं। एक दिन तो क्या, एक घण्टा भी सुख से लगातार किसी का नहीं गुजरता। तो बीच-बीचमें दुःखका उदय आता रहता है। कैसे? खूब धन है, खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिके अच्छे साधन हैं बड़ा आराम है, मगर कोई रोग हो जाय तो उसका धन वैभवका आराम क्या रहा? तो एक तरहका सुख तो है कल्पनाका किन्तु उसमें दुःख अनेक भरे पड़े हैं। वैभव है खूब औरं स्त्री पुत्र मित्रादि किसी का मरण हो गया, वियोग हो गया तो जो बाहरी समागमका सुख मिला है उसकी क्या कीमत हुई? कभी अपमान हो जाता हैं। जो जितना बड़ा बन गया लोकमें वह उतना ही अधिक जरा-जरा सी बात का अपमान महसूस करता है, उसका ही दुःख लगा हुआ है। कभी धनकी हानि हो गई। सुख तो था, आमदनी तो खूब थी मगर अचानक धन नष्ट हो गया तो लो वहीं एक दुःख आ गया। दुःखके कुछ नाम नहीं, खुदकी कल्पनासे अनेक दुःख हैं मगर एक दुःखके बाद जब दूसरा दुःख आता है तो लोग यह कहने लगते हैं कि इससे तो वही दुःख अच्छा था। अब दूसरा दुःख उसे बिल्कुल हल्का लगने लगता। अब दूसरे दुःखके बाद कोई तीसरा दुःख आ जाय तो वह तीसरा दुःख दूसरे दुःख की अपेक्षा बड़ा मालूम होता है। याने पहलेका दुःख उसके अन्दर बना रहता पर नवीन दुःखके आ जानेसे पहले वाले दुःखका ध्यान नहीं रख पाता, पर वह दुःख निरन्तर बना रहता है, सांसारिक सुखोंको भोगते हुए भी उनके बीचमें निरन्तर दुख बना रहता है। उन सांसारिक सुखोंमें यह जीव कल्पित मौज मानता है पर वे सब सुख दुःखोंसे भरे हुए हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे सुखोंमें लीन नहीं होते, वे अन्यायसे, अहितसे दूर रहते हैं। अपने स्वरूप को जान लेनेके कारण वे अपने आपमें ही तृप्त रहते हैं। बाहरी पदार्थों उनका चित्त नहीं रमता। सुखी होना है तो ज्ञानी बनें, दूसरा कोई उपाय नहीं है सुखी शान्त होनेका। तो ज्ञान मायने क्या? अपने आत्माके सहज स्वरूपका परिचय पा लेना। यदि यह काम कर लिया गया तो सारे संकट दूर हो जायेंगे।

पराधीन विनश्वर दुःखव्याप्त पापबीज इन्द्रियसुखमें ज्ञानीका अनादर—सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगका वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि जीवको संसारके सुखोंमें आकांक्षा नहीं रहती। सांसारिक सुखोंमें आदर रंच भी नहीं रहता, क्योंकि ये संसारके सुख पराधीन हैं, कर्मके आधीन हैं। और विषयसाधन मिलें उनके आधीन हैं। इन्द्रियां अपनी सही रहें उसके आधीन हैं। शारीरिक सुख भोगके लायक हों उसके आधीन हैं। अनेक पराधीनतायें है संसारके सुखोंमें। सो उनको अधिक क्या

समझाना, आप सब समझ ही रहें हैं। थोड़ासा भी संसार का सुख लिया तो उसके लिए कितना क्षोभ मचाना पड़ता एक भोजनका ही सुख ले लो। कितना भोजन तैयार करनेमें श्रम, कितने उसके सभी कामोंमें श्रम, तब १० मिनट का स्वाद सुख मिलता है, ऐसी ही सभी इन्द्रियोंके विषयकी बात है। इन विषयोंके सुखोंमें ज्ञानी जीवको आदर नहीं रहता और ये सुख पराधीन हैं, इतनी ही खराबी नहीं, किन्तु ये विनाशीक हैं। किसका सुख सदा रह सकता है? जीवनमें सुखदुःख आरेकी नाईं घूमता रहता है। कभी सुख कभी दुःख। दुःखमें बड़ा सुख है। सुखके बाद दुःख है। और विनाशीक है इतनी ही बात नहीं किन्तु जितने बाहरी सुख मिले हैं उसके बाहरमें भी अनेक दुःख भरे हुए हैं उस सुखके साथ। तो ऐसे सुखोंमें सम्यग्दृष्टि जीवको आदर नहीं रहता। और ये इन्द्रियजन्य सुख पापके बीज हैं इन सुखोंमें आसक्त होनेसे ही पापका बंध होता है। जिसका फल आगामी कालमें दुःख भोगना है। इन इन्द्रियजन्य सुखोंके वश होकर जीव संसारमें चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है। नरकमें कौन जीव जाता? जो विषयोंमें अधिक आसक्त हैं। जैसे परस्त्रीगामी, वेश्यागामी, मद्यमांस भक्षी, चोर डाकू हत्यारे आदि, ऐसे लोग पापकर्मका बंध करते हैं और नरकगतिमें जन्म लेते हैं। तो क्यों जन्म लेना पड़ा कि उनको संसारमें विषयसुख प्यारे थे। जितने भी कुकर्म होते हैं वे विषय सुखोंके लोभसे ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपने आत्मीय सहज आनन्दका परिचय है इस कारण विषयोंमें उसका आदर नहीं होता।

सहजपरमात्मतत्त्वके अनुभवी आत्माके सहज आत्मीय आनन्दका लाभ—सम्यग्दृष्टि का आनन्द तो सहज है। आत्मा हूँ, जो हूँ सो धीरता पूर्वक वैसाही जाननहार रहूँ, वहाँ आनन्द ही आनन्द बरषता है। जहाँ पर पदार्थपर दृष्टि है, किसी भी परसे सुखकी आशा मान रखी है वहाँ ही बैचेनी होती है। बड़े-बड़े तीर्थकरोनें जिनकी बड़ी विभूति थी उन्होंने भी विषय सुखोंको त्यागकर आत्माका ध्यान किया तब आनन्द पाया। हम आप प्रभु के तो दर्शन करें रोज-रोज और विषयोंसे ही सुख है ऐसा भाव बनाये रहें तो दर्शन नहीं किया। जिसके दर्शन करते हैं उसमें जो गुण हैं, उनकी जो वृत्ति है वह हमको सुहा जाय तो उसे दर्शन कहते हैं तो जो विषयसुखोंका लोभी विषय सुखोंमें ही आसक्ति कर रहा है उसको प्रभु का दर्शन कैसे? प्रभु का जिसने दर्शन किया उसने यह परखा कि प्रभुने पहले इन्द्रियों पर विजय किया, आत्माके ज्ञानका अनुभव किया, आत्मीय आनन्दका अनुभव किया, उसके फलसे कर्मोंका क्षय करके अनन्तकालके लिए वे संसार के संकटोंसे मुक्त हो गए। अच्छा जरा यह भी तो सोचो कि एक इस भवमें खूब मौजसे रह लिया, अव्वल तो किसी का ऐसा हो नहीं सकता कि वह जीवनभर मौजमें रहे, खूब विषयोंका आराम भोगे। अब क्या होगा? बुढ़ापा न आयगा क्या? बुढ़ापामें आरामसे किसी इन्द्रियका सुख भोगा जा सकता है क्या? अरे सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं। यहां तक कि पेटमें खाना भी नहीं खा पाता सो वह बुड्ढा दूसरोंको खूब खाता पीता देख मन ही मन कुढ़ता है—हाय मैं क्यों नहीं भोग पाता। इसी भवमें यह हालत है। मानलो किसी तरह इस भवमें आरामसे दिन गुजर गये तो अगला भव कैसा मिलेगा सो तो विचारो। यदि स्वभाव की दृष्टिन बनी हो और विषयोंमें ही आसक्त रहें हो, बाह्य पदार्थोंसे ही अपना शरण माना हो तो उसके भली गति कैसे हो सकती है? आगे दुःख भोगेगा। तो क्या मंजूर है कि मैं खूब जन्म मरण करता फिरूं और दुःख भोगता फिरूं? अगर

नहीं मंजूर है तो फिर जैन शासनके बताये हुए मार्ग पर चलो। प्रभुने बताया कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करो, उसके बिना धर्ममें आपका रथ न चलेगा। वह सम्यक्त्व क्या चीज है? सर्व विकल्प छोड़कर आरामसे बैठ जायें। जो मैं सही हूँ सो ही अपनी जानकारीमें रहे, मुझे, कुछ अन्य नहीं जानना है। ऐसा अपने प्रभु के प्रसादका आग्रह करके आरामसे बैठूं, सबको भूलं जाऊं, कोई परवस्तु मेरे ख्यालमें न रहे तो भगवान आत्मासे वह आनन्द उमड़कर अनुभवमें आयेगा और वहाँ ज्ञात होगा कि वास्तवमें आत्मा कैसा है। जिसको आत्मीय आनन्द का अनुभव हो वह इन विषयसुखोंमें प्राप्ति न करेगा।

सांसारिक सुखोंकी पीड़त रूपता—संसारमें जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं वे सुख नहीं हैं, किन्तु कोई पीड़ा हुई है उसका इलाज है। जैसे भूखकी पीड़ा है, भूख बर्दाशात न हो तो भूख का इलाज किया जाता है खाकर। खाने से सुख नहीं मिला किन्तु जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार है और घटकर १०१ डिग्री रह जाय तो वह कहता है कि मेरी तबियत अच्छी है। अरे बुखार तो अब भी १०१ डिग्री बना है, तबियत अच्छी कहाँ है मगर बुखार कम हो गया इससे कहता है कि मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। तो ऐसे ही समझो कि ये जो संसार के सुख हैं उनमें कुछ दुख कम हो गया है, पर दुःख तो है ही है। भीतर बेहोशी, व्याकुलता, भय, शंका आदि सब बातें चल रही हैं, तो दुःख दूर नहीं हुआ किन्तु दुःख कम हो गया, इस कारण मोही जीव मानता है कि मेरेको सुख हुआ है। अरे यह सुख नहीं किन्तु सुखाभास है। प्यास की पीड़ा हुई तो जैसे पानी पीकर उसका इलाज कर लिया ऐसे ही पाँचो इन्द्रियों की पीड़ा होती है और उस पीड़ा का इलाज किया जाता है विषय सुख भोगकर, वास्तवमें वह आनन्द नहीं है। जिसमें आनन्द है वह विषयों सुखोंका इलाज क्यों करेगा? जैसे जिसके कानमें रोग नहीं हैं बकरे का मूत्र कानमें क्यों डालेगा। अथवा जिसके कोई फोड़ा फुंसी नहीं वह मलहमपट्टी क्यों करेगा? भगवानके अनन्त आनन्द है। तो जिसको समता है और आत्मानुभवका आनन्द है वह क्यों विषयसुखों की ओर मुख करेगा? जिसको वेदना है वे ही विषयसुखों से प्रीति करते हैं। तो ये विषय सुख पापके बीज हैं। उन सुखोंमें आदर न करना इसको बोलते हैं अनाकांक्षा।

सम्यग्ज्ञानीका वास्तविक लक्ष्य—जो ज्ञानी गृहस्थ हैं, घरमें रहते हैं सम्यक्त्व जिसके हो गया है तो गृहमें रहते हुए सभी तरहके सुख भोगता है मगर उसकी बुद्धि सही है। वह जानता है कि यह गृहस्थीका सुख भोगना यही मेरा अन्तिम लक्ष्य नहीं है, मेरा लक्ष्य है सिद्ध होना। सबको अपने मनमें यह सोचना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध होना है, इससे पहले की जो कुछ अवस्थायें हैं संसारकी, देव बनना, राजा बनना, चक्री बनना आदि ये सब मुझे कुछ न चाहिए। मुझे तो सिद्ध भगवान होना है। अपना यह लक्ष्य बनायें कि मुझे तो केवल आत्मा ही आत्मा रहना है। हम आप तीन प्रकार की चीजोंमें बंधे हैं—(१) जीव (२) कर्म और (३) शरीर। याने शरीर, कर्म और जीव इनका मिलाकर यह पिंडोला है। सो जब तक ये तीन मिलते रहेंगे तब तक अपनी खैर नहीं। जैसे कहते ना कि बकरेकी माँ कब तक खैर मनायगी आखिर एक न एक दिन बकरा मरेगा जरूर, ऐसे ही इन तीन चीजों के रहते हुए जीव कब तक खैर मनायगा? भव भवके कष्ट भोगेगा जरूर। तो अपना यह लक्ष्य कैसे बने कि मैं आत्मा

केवल आत्मा रह जाऊं। इस केवलपनेमें ही आनन्द है अन्यथा नहीं है। तो सोचिये ऐसा रहना आपको पसंद है या नहीं? याने जो तीन चीजों का पिण्ड़ है शरीर, कर्म और जीव, तो इनमें शरीर और कर्म छूट जायें, केवल आत्मा ही आत्मा ज्ञान ज्योति रहे यह बात आपको पंसद होनी चाहिए। इसमें बिगड़ता नहीं है कुछ। बल्कि सुधरता हैं सब कुछ। मान लो मोह मोहमें ही सारा जीवन बिताया तो उसमें लाभ क्या मिलेगा? आखिर उसके फलमें रोना ही रोना होगा। इससे पहलेके भवोंमें जिन जिनसे मोह किया वे कोई साथ हैं क्या? जिन जिनका संग प्रसंग रहा वे कोई भी तो आज साथ नहीं हैं, ऐसे ही आज इस भवमें जो कुछ दिनोंका संग प्रसंग मिला है यह भी अगले भवमें साथ न रहेगा। आज इस भवमें मिले हुए लोगोंसे मिलजुल रहे हैं मरकर दूसरे भवमें जायेंगे वहां भी जो समागम मिलेगा उसमें मोह चलेगा। तो मोह चला चलाकर क्यों नहीं थकते? क्यों नहीं यह बुद्धि बनती कि मोह न करना। देखिये—गृहस्थ पुरुष निर्मोही तो रहे पर गृहस्थी का काम राग किये बिना नहीं चलता। दो बातें ध्यानमें रखें—मोह और राग। मोह तो कहते हैं परवस्तुसे ऐसा निकट लगाव रखना कि यह मनमें निर्णय रहता कि इस परवस्तुके बिना मेरी जिन्दगी ही नहीं, मेरा सारा शरण यह ही है। पर को और अपने को एकमेक करके रहना यह तो कहलाता हैं मोह और मोह न रहे. ज्ञान तो सही बन जाय कि यह पर है और यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ये जीव अलग वस्तु हैं मैं जीव अपने स्वरूपमात्र हूँ यह वैभव भिन्न है, शरीर निराला है, मैं ज्ञानज्योति हूँ, मेरा काम मेरेमें ही होता है। मैं अपना ही कर्ता भोक्ता हूँ, पर पदार्थ अपने कर्ता भोक्ता हैं। ऐसा जानकर मोह दूर किया, लेकिन जब तक घरमें रह रहें हैं, नहीं है इतनी सामर्थ्य के गृह त्यागकर मुनिव्रत्त धारण करलें, घरमें रहना पड़ रहा तो घरमें रहकर राग किया जायगा। एक दूसरे की सम्हाल करना, पालन पोषण करना, अच्छे वचन बोलना, दूसरों को धैर्य धारण कराना ये सब काम गृहस्थीमें होंगें तो वे काम रागके कहलाये। सो इस राग बिना तो न चलेगा घरमें रहना, पर मोह बिना चलेगा, भीतरमें सही ज्ञान बनाये रहें कि मेरा आत्मा मेरे स्वरूपमात्र हैं, इनका आत्मा इनके स्वरूपमात्र है। सत्य ज्ञान बनाये रहें और घरमें रहनेके नातेसे रागव्यवहार पालन पोषण करते रहें।

निर्मोहताके कारण गृहस्थके भी व्याकुलता का अभाव—भैया, धर्म किसीको दुःख देनेके लिए नहीं होता, सबके सुखके लिए होता है। खुदके सुख के लिए होता है अब बतावो कि गृहस्थ निर्मोह होकर राग व्यवहार करता हुआ घरमें रहे तो कुछ काममें कमी आती है क्या? अरे आजीविका चलती है, घर चल रहा, सब कामकाज ठीक चल रहा, पर ज्ञानप्रकाश हो गया जिसके कारण अब उसे भीतरमें व्याकुलता नहीं रहती। कितनी ही कठिन परिस्थिति आ जाय, वह अधीर नहीं होता। समस्त दुःखोंको जानता कि ये तो कुछ भी दुःख नहीं है। इनसे भी कई गुने दुःख हुआ करते हैं अथवा यह तो परवस्तु का परिणमन है। उससे मेरे आत्मामें क्या आता? दुःख जितना भी माना जा रहा है वह अपने आत्मामें कल्पनायें करके माना जा रहा है। ज्ञानी जीवको विषय सुखोंमें आस्था नहीं रहती। रोग को कौन चाहता? पर रोग आ जाय तो इलाज करता या नहीं? इलाज करता हुआ भी क्या यह चाहता है कि मेरे ऐसा इलाज हमेशा चलता रहे क्योंकि इसमें बड़ा आराम है। बड़े ठाठ हैं, अच्छा कमरा है। कई नौकर चाकर है, अनेकलोग पूछताछ करते रहते हैं। अनेकों नाते रिस्तेदार सेवायें करनेके

लिए आते जाते रहते हैं, डाक्टर भी समय पर हाजिर रहता है, कोमल स्प्रिंगदार पंलग पर आरामसे पड़े रहते हैं, बताओ ये सब आरामके साधन हमेशाके लिए चाहता है क्या वह रोगी? अरे वह तो चाहता है कि मुझे कब इस झंझटसे छुट्टी मिले, मेरा रोग दूर हो और मैं प्रतिदिन एक दो मील टहलने जाया करूं। यों ही रोगी उन सब साधनोंमें राग तो करता है क्योंकि समयपर दवाई न मिले तो झुंझलाता है, सेवा पानेमें कुछ कमी हो तो नौकरों पर नाराज होता है, पलंगमें कुछ कोमलता कम हुई तो झुंझलाता है, यों राग तो उन सब साधनोंमें, पर उसे उनसे मोह नहीं है। वह नहीं चाहता उन सब साधनोंको, परन्तु परिस्थितिवश करना पड़ता हैं, ठीक यही हालत है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवकी। व्यवहारमें रहकर उसे करना पड़ता है सब पर वह समझता है कि ये सब खटपटें करना मेरा काम नहीं, यह सब तो मुझे करना पड़ रहा है, रहना पड़ रहा है गृहस्थीमें पर यह सब मेरा काम न था। अब ये सब वेदनायें लगी हैं सो उनका इलाज भी करना जरूरी है सो करना पड़ता है पर मेरा कर्तव्य यह न था। मेरा काम था इन सब से आगे होकर मात्र अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मत्वमें लीन होना।

अमूर्त आत्मामें स्वयं कष्टका अभाव होनेसे कष्टप्रतीकारकी अनावश्यकता—मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त हूँ। इस शरीरसे भिन्न ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ। बस मैं आत्मा अकेला ही रह जाऊं, यही मेरा करने का काम था, बाकी तो सब फिजूलके काम हैं। इस अमूर्त आत्माको कोई बाधा नहीं दे सकता, छत पर्वत आदिकसे यह छिड़ नहीं सकता। लोग तो बताते हैं कि वैज्ञानिकोने ऐसा भी किया कि एक कांचके मकानके अन्दर किसी मरणहार व्यक्ति को रख दिया और ऐसा कांचसे बन्दकर दिया कि जिससे जीव तक के निकलने की जगह न रहे। पर क्या हुआ कि उस व्यक्ति के मरते ही जीव निकल गया, कांच तड़क गया, ऐसा लोग बताते हैं, पर यह बात मानने योग्य नहीं। जीव तो अमूर्त है, अमूर्त पदार्थ का मूर्तसे भिड़ना हो सकता? तो यह अमूर्त आत्माको कोई मूर्त पदार्थ बाधा दे नहीं सकता यह तो हालत है इस समय जबकि जीव कार्माण शरीरमें बंधा हुआ है। और जिसके कार्माण शरीर भी नहीं रहता, कर्मोंका क्षय हो जाता यह पुरुष तो एक समयमें सिद्धलोकमें जाकर विराजमान हो जाता है। तो जीवको यों समझिये जैसे तार अलग बिजली अलग। मगर बिजली का आधार तार है ऐसे ही जीव अलग, शरीर अलग, मगर जीवका वर्तमान आश्रय यह शरीर है। आज कितना प्रिय लग रहा यह शरीर इस जीव को, मगर यह शरीर प्रीति किये जाने योग्य नहीं। यह एक दिन इन्हीं मित्रजनोंके द्वारा जला दिया जायेगा यही सबको आनी है। अगर ये मनुष्य मरते न होते तो यहां संसारमें पैर रखनेको जगह भी मिलना मुश्किल पड़ जाता। मान लो १०० वर्ष तक भी अगर कोई मरे नहीं और पैदा होते जायें तो भी यहां पैर रखनेको जगह न मिलेगी पर ऐसा नहीं होता। मरण सबका नियमसे होता तो जो शरीर अभी कुछ ही दिनोंमें जला दिया जायगा। वह प्रीति करने लायक नहीं है। हां यह शरीर तो हम आपको काम करने के लिए मिला है। जब तक शरीरमें बल है। जब तक इस शरीरमें बल है तब तक इससे काम ले लें। वैसे जरूरत नहीं है इस शरीरकी, पर जब साथ लगा है और शरीर की कुछ खुसामद भी करते तो फिर इस शरीरसे कुछ काम ले लीजिए। इस शरीरके प्रति आसक्तिका

भाव रखना योग्य नहीं। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश रहे। मुझे ये संसारके सुख न चाहिए, मेरेको तो मेरा स्वाधीन आनन्द चाहिए।

परभावोंमें ज्ञाताकी अनास्था—एक जमाना था जबकि लोग विवाह बारातमें दूसरोंसे गहना (जेवर) माँगकर उसे पहिनकर जाया करते थे और सबके बीच बैठकर बड़ी ठसक बताते थे। मगर यह भी तो सोचो कि यदि दूसरोंको पता पड़ गया कि यह तो किसीसे माँगकर जेवर पहिन आया है तो क्या इज्जत रह गई उसकी? उसकी तो सारी शोभा बिगड़ गई। और मान लो कि कदाचित कोई दूसरे लोग न भी समझ पायें कि मांगा हुआ जेवर पहिनकर आया है तो खुद की आत्मा तो जानता है, कि मांगा हुआ जेवर है, खुद का नहीं, इसमें क्या ठसक दूसरों को दिखाना? तो ऐसे ही समझो कि यह संसारका जो वैषयिक सुख है वह माँगा हुआ हैं, पराधीन है। किससे उधार लिया? पुण्यकर्मसे। हमारी गाँठका नहीं है। तो उधार ली हुई कब तक अपने साथ रहेगी, वह तो सब जायगी। गाँठकी जो चीज है वह अपना सहज आनन्द है, वह कहीं न जायगा। उस सहज आनन्दको पानेका लक्ष्य बनाइये और इन उधार मिली हुई चीजोंका लक्ष्य न रखिये—यह तो हमारी कमजोरी है, वेदना है, भोगना पड़ता है, मगर इसको मैं नहीं चाहता। मैं तो अपना निजी स्वाधीन आनन्द ही चाहता हूँ, ऐसा चित्तमें संकल्प होना चाहिए। ज्ञानी जीवका यह निर्णय है इस कारण उसे विषयोंके सुखोंमें अनुराग नहीं रहता। यह कहा जा रहा है सम्यग्दृष्टिका दूसरा निःकांक्षित गुण। इसमें एक बात ओर विशेष समझिये कि घरमें रहने पर क्या यह इच्छा नहीं होती कि दूकानमे या कारखानेमें बैठनेपर मेरी आमदनी हो? होती है इच्छा मगर धर्मके स्थानमें जाकर या धर्म का कोई काम करके चाहना कि मुझे पैसा मिले, तो यह पाप है। इसमें सम्यक्त्व नहीं रहता। आकांक्षा भी दो तरह की हो गई—एक तो धर्मधारण करके इच्छा करना और दूसरी—धर्मके एवजमें नहीं किन्तु जरूरतके कारण इच्छा करना, इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। जरूरतके कारण ज्ञानीके इच्छा होती है मगर धर्मधारण करके उसके एवजमें संसारके सुख और साधनोंकी इच्छा ज्ञानीके नहीं होती। उस धर्मके प्रसंगमें तो के वल धर्मकी धुन रहती है। मैं आत्मा अपने सहज ज्ञानानन्द को अनुभवूं जैसा कि प्रभुने अनुभवा है। धर्मके प्रसंगमें केवल यही भावना रहे। तो ऐसा सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगका वर्णन हुआ।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ १३॥

सम्यग्दृष्टिका आन्तरिक और वाह्य निर्विचिकित्सित अङ्ग—सम्यग्दृष्टि जीवका अंतरंग कैसा होता है और बाहरमें प्रवृत्ति कैसी होती है उन अंगोंका वर्णन चल रहा है। इस श्लोकमें निर्विचिकित्सा अंग बताया जा रहा है। निर्विचिकित्साका अर्थ है ग्लानि न करना चित्तको मलिन न बनाना। अन्तरंग स्वरूपको देखकर प्रसन्न रहना। यह शरीर प्रकृत्या अपवित्र है। हम आपके शरीरमें नीचेसे ऊपर तक क्या बसा है? हड्डी, माँस, मज्जा, नसाजाल, चामरोम आदिक ये सब तो इस शरीरमें पड़े हैं, कुछ सारभूत बात है क्या? तो यह शरीरसे अपवित्र है, किन्तु इस शरीरमें रहने वाला कोई भव्य जीव यदि

रत्नत्रयसे पवित्र है जिसे आत्माका श्रद्धान सही है, ज्ञान सही है और अपनेमें ही रमनेका जिसका पुरुषार्थ चल रहा है उस मुनिके शरीरमें देखो तो लोग मंगलपना मानते हैं। कहते कि यह पवित्र है। रत्नत्रयके संयोगसे पवित्रता कही जा रही है। ऐसे उस मुनि आदिके शरीरमें कोई रोग हो जाय, उसकी सेवा करें तो सेवा करनेमें ग्लानि न रखना, चित्तको मलिन न रखना सो निर्विचिकित्सा अंग है। जिसने सम्यक्त्व पाया वह दूसरे सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी सयंमी जीवोंको देखकर प्रसन्न रहता है। रास्तेमें जा रहा हो पैदल या किसी प्रकार और जिस जगह जाता है उसी जगह का जाने वाला और मिल जाय तो कितना प्रसन्न होते हैं आप? एक से दो, दो से चार हो गए। तो ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसका निर्णय है कि मोक्षमें जाना और मोक्षमें जानेका प्रयत्न करने वाले साधुजन दिख जायें तो उसे कितना हर्ष होता है और जिसके प्रति हर्ष होता है, उसकी सेवा करनेमें ग्लानिका परिणाम न बनना। माता पिताको अपना बच्चा प्रिय है तो बच्चेकी सेवा करनेमें चाहे वह बच्चा शौच कर दे, मूत्र करदे तो भी उस बच्चेके प्रति म्लान परिणाम नहीं करते। ऐसे ही साधुसंत जनों की सेवा करनेमें कोई व्याधिवशकय हो जाय, दस्त होने लगे कैसी ही स्थिति हो उससे ज्ञानी जीव मलिनताका परिणाम नहीं लाता। अब उसके अंतरंगसे परखिये कितने ही पूर्वके बंधे कर्म हैं उनका उदय आता है तो किस भवका पापका उदय आया और कैसी ही स्थिति हो जाय तो कोई उपसर्ग हो क्षुधा आदिक वेदना हो, दरिद्रता हो कुछ भी स्थिति आये उस स्थितिको कर्मकी दशा जानकर ज्ञानी जीव अपने परिणाममें म्लानपना नहीं लाता। खेद हो या उस पर कुछ ग्लानि बने। ज्ञाता दृष्टा रहता है। यह है सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सा अंग।

सहजात्मस्वरूप होने पर भी अज्ञानमें व्याकुलताकी चेष्टायें—दूसरे जीवोंको भी जब यह ज्ञानी देखता है तो मूलमें परखकर लेता कि यह है सहजात्मस्वरूप अर्थात् सहज आत्मस्वरूप। जो प्रभुका स्वरूप है सो सब जीवोंका स्वरूप है। एक दरवाजे पर मकड़ा बैठा था, आज की बात है, तो देखा तो वह कुछ चलने लगा। मालूम होता कि उसके आखें भी होती और कान भी होते। आवाज होने पर वह भागता भी था, तो उसे देखकर हमारे मुख से अचानक ही ये शब्द निकले—अहो सहजपरमात्मस्वरूप। इस मकड़ेके आत्माका स्वरूप भी वैसा ही पवित्र है जैसा कि अन्य सब आत्मावोंका। और उसकी भी पर्याय देखकर कि ऐसी पर्यायें इस जीवने हम आपने कितनी बार पायी हैं। क्या जीवन हैं कीड़ोंका, मकोड़ोंका, मकड़ियोंका। ऐसी पर्याय जब पायी गई। आज एक मनुष्य पर्यायमें हैं तो भी हर भवोंकी तरह रागद्वेष मोहमें आसक्त हो रहे। एक बड़ी चिड़िया थी, हम इसी आंगनमें बैठे थे, तो वह चिड़िया बार-बार मेरे सिरपरसे निकले, एकदम निकटसे, चोंच तो नहीं लगाया, पर ५-७ बार निकली वह चिड़िया। मैंने सोचा कि बात क्या है, मैंने इसका कोई अपराध तो किया नहीं, पर ऐसी गुस्सा भरी दिख रही थी जैसा कि मानो मैंने उसका कोई बिगाड़ किया हो। थोड़ी देर में मैंने सोचा कि शायद इसका बच्चा गुम गया है जो मेरी पिछीमें बच्चेका भ्रम करके आ रही हो फिर मैंने ज्यों ही नीचेकी ओर देखा तो क्या देखा कि उस चिड़ियाका एक छोटा बच्चा नीचे चल रहा धीरे-धीरे। और उस बच्चेके ही कारण वह चिड़िया बड़ी बेचैन होकर मेरे पाससे बार आती जाती थी। तो देखिये चिड़ियोंको भी अपने बच्चोंपर कितना तीव्र मोह होता है। हम आपको तो उनके बच्चों पर

कुछ प्यार नहीं होता पर वे अपने बच्चोंको अपना सर्वस्व जैसा समझते। तो ऐसे ही समझलो कि यह जीव जब जिस भवमें जाता है उस भवमें जिन जिनका संयोग होता है उनसे यह अधिक आसक्ति मोहकर लेता है। फल यह होता है कि भव भवमें यह ही गल्ती करता है और जन्म लेता है, मरण करता है।

केवल सहजात्मस्वरूप निरखनेमें मोक्षमार्गके सर्व पौरुषोंकी सुगमता—अपने स्वरूपको देखिये—यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जाननहार है, उसमें कष्टका काम नहीं। कष्ट तो कर्म फिल्मका अक्स है, वह भिन्न चीज है। मैं तो भगवानकी तरह हूँ। अच्छा यह ही बताओ कि जन्मे, बड़े हुए, विवाह किये, बच्चे हुए, चिन्ताकी, मरण किया, फिर जन्मे, तो वही-वही करते रहना अच्छा लगता है क्या? यदि संसार संकटोंसे छूटनेकी इच्छा है तो फिर उसका उपाय क्यों न बना लीजिए? क्या है इसका उपाय? इसका उपाय यह है कि जैसे मोक्षमें केवल आत्म-ज्योति रहती है ऐसे ही मुझमें केवल आत्मज्योति अब भी है। वहाँ सर्व बाह्य संगसे रहित दशा है और यहां ये शरीर तथा कर्म साथमें लगे हैं। तो यहां पर अपनी केवल आत्मज्योतिका ज्ञान बनायें और उसको ही आत्मस्वरूप मानें। तो उपाय है मोक्षके मार्गका। सो किसी भी भवमें यह काम करने की इच्छा नही हुई। आज इस मनुष्य भवमें आये और यहां भी उस प्रकार की इच्छा न हुई तो फिर कब काम सुधरेगा? तो अपने सहज आत्मस्वरूपको निरखिये और यह भी परखिये कि जितना क्षुधा तृषा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, राग व्याधि अपमान आदिक जो जो भी कष्ट आते हैं वे कष्ट कर्मके विपाक हैं मेरे स्वरूप नहीं हैं। इसलिए कष्टोंमें भी चित्तको न गिराना, मनको मलिन न करना, यह कला होती है सम्यग्दृष्टि जीवकी। वह दो बातें तकता है। एक तो यह कि जो दुःख हम पर आया है वह दुःख न कुछ है, इससे भी कई गुने दुःख हुआ करते जीवों पर। मानो जिसके दरिद्रता है, रोज-रोज के खाने का कोई प्रबंध नहीं हैं। शरीरसे भी लाचार है, अंधा है तिस पर भी रोगी हो, कोढ़ी हो, सब लोग उसको दुतकारते हैं, जरा उसका दुःख तो देखो। उसके मुकाबले तो यहां कुछ कष्ट नहीं। ज्ञानी जीव एक तो यों निरखता है इसलिए अपने पर आये हुए कष्टोंसे उद्विग्न नहीं रहता है। दूसरी बात यह कि ज्ञानी जीव अपने आत्मामें अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपको देखता है। मैं तो यह पवित्र आत्मस्वरूप हूँ, इस कारण उसे कर्मकी दशाओंमें अधीरता नहीं आती, दूसरे दुःखी गरीब शरीरके अत्यन्त रोगी पशु पक्षी मनुष्योंको निरखकर भी ज्ञानी यह जानता है कि इनका आत्मा तो मूलमें पवित्र है, चैतन्यस्वरूप है, पर सब कर्म की लीला है। अपने को भी यों ही निरखना कि मैं अंतरंगमें पवित्र हूँ, केवल चैतन्यमात्र हूँ। अब जो अनेक बातें आती हैं। ऐसा जानने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने मनको खेद खिन्न नहीं रखता और साधर्मी जनोंकी सेवा करनेमें ग्लानि नहीं करता।

उद्दायन राजाके निर्विचिकित्सत अंगके पालनकी ख्याति—निर्विचिकित्सत अंगकी एक कथा प्रसिद्ध है। स्वर्गोंमें यह चर्चा चल रही थी कि इस समय उद्दायन राजा साधुजनोंका बड़ा भक्त है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, तो यह चर्चा जब स्वर्गोंमें सुनी देवोंने, वहां भी प्रवचनसभा चलती है, और उसमें मुख्य वक्ता इन्द्र होता है इसलिए उसको बृहस्पति भी कहते है, और बाकी सब लोग सुनते है, क्योंकि

धर्मकी बात कुछ न सुने तो वह जीवन बड़ा ऊबासा जीवन होता है। वे देव लोग विषयोंमें रमते हैं, नाना प्रकारके सुख भोगते हैं, और यही-यही करे तो वे प्रसन्न नहीं रह सकते, सुखी नहीं रह सकते तो उनके भी घण्टों धर्म चर्चायें चलती रहती हैं। तो एक देवके मनमें आया कि मैं उद्दायन राजाकी परीक्षा करूं सो वह आया मुनि भेष बनाकर, चर्याके समय पहुंचा, उद्दायन राजाने उनको पड़गाहा। आहार दिया। मुनि तो थे नहीं, देवका रूप था, आहार लिया और कय कर दिया, तो वह राजा उद्दायन और उसकी पत्नी अपने कर्मोंको धिक्कारती हुई कि मेरा कैसा अशुभ कर्म है कि आज महाराज को आहार देने का मौका मिला और उनको पचा नहीं कय हो गया, बड़ी तकलीफ है, सो वे कय वगैरह साफ करने लगे, उनका शरीर पोंछने लगे, रंच भी ग्लानि नहीं की। तब उन्होंने रूप प्रकट करके कहा कि हमने जैसा सुना था कि आप बड़े धर्मात्माजनोंके प्रेमी हैं, ज्ञानी हैं सो वह चीज हमने आज पाया। हम देव हैं, हमको क्षमा करो। मुझे एक परीक्षा भर करना था। तो जो ज्ञानी पुरुष है वह ग्लानि नहीं करता। अशुचि पदार्थ भी दिखें तो जान लिया साधारण रूपसे कि यह अशुचि चीज है पर अन्य लोगों की भांति नाक भौंह नहीं सिकोड़ता। मात्र उसका ज्ञाता भर रहता है। तो इसकी दृष्टिमें कि शरीर तो अपवित्र ही है सबका मगर वह मनुष्य पवित्र है। जिसका आत्मा रत्नत्रयसे युक्त है, उसमें उसकी प्रीति जगती है और किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं होती। कभी कोई कर्मका तीव्र उदय आये और उसका खोटा फल मिलें, जिसमें कष्ट माना जाय जो वहां यह सोचता है कि जो मैंने कर्म किया सो वे भोगने में आ रहे हैं। सो यह तो भला हो रहा है कि वे खोटे कर्म मुझसे अब निकल रहे हैं। ज्ञाता जीव किसी भी स्थितिमें ग्लान-म्लान नहीं बनता। यह सम्यग्दृष्टि की पहिचान चल रही है। अब सम्यग्दृष्टि की चौथी पहिचान है अमूढ़दृष्टि उसका वर्णन करते हैं।

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः।
अंसपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते॥ १४॥

ज्ञानीकी कापथ और कापथस्थोंमें असम्मति—ज्ञानी पुरुष खोटे मार्गमें सम्पर्क नहीं बनाता। वह दुःखोंका मार्ग है। और खोटे मार्गमें चलने वाले चाहे वे सन्यासीके रूपमें भी हों उनकी संगति नहीं करता और इतना ही नहीं सम्बंध नहीं बनाता और उनकी प्रशंसा भी नहीं करता, यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग। भीतर जान लिया कि यह मैं पवित्र ज्ञानमात्र आत्मा हूँ इसके सुखका मार्ग यही है कि अपने आत्मस्वरूपको निरखूं। इसी में ही संतोष है। जगतका कोई दूसरा पदार्थ मेरे संतोष के लायक नहीं। मुझको सत्य संतोष मिलेगा तो मेरे आत्मारामें ही मिलेगा। सो मेरे दुःखोंसे छुटकाराका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। जो लोग इस मार्गसे विरुद्ध चल रहे हैं वे खोटे मार्गमें हैं। मिथ्यात्वके उदयके कारण रागीद्वेषी जीवोंको लोग देव मान लेते हैं, उनकी पूजा प्रभावना करते हैं, पर उसे देखकर चित्तमें प्रशंसाका भाव न जगे किन्तु यही ध्यानमें रहे कि ये सब संसारमें रुलनेकी ही करतूत हैं। देव, शास्त्र, गुरु जो सत्य हैं उसमें ही उनकी श्रद्धा रहे। अन्य रागीद्वेषी जीवोंमें देवरूपसे श्रद्धा न रहे। कितने ही लोग मंत्रवादी अपने मंत्रका कोई प्रभाव डालते हैं लेकिन वे ख्याल बनाकर

उसमें अपना बड़प्पन मानते हैं, तो ऐसे लोगोंको देखकर भी यह ही सब कुछ है यह ही आदर्श है ऐसा नहीं मानता। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, संयमी है वह ही भले मार्ग पर चलने वाला है यही सुनिर्णय है।

देखो भैया कितनी तरहकी बातें दुनियामें चलती है मिथ्यात्वमें। कुवा पूजते हैं, बावड़ी पूजते हैं और उसमें धर्म मानते है। भले ही इन कुवा बावड़ी आदिसे उपकारकी कई बातें मिलती है, पर संसारसे छूटने का जो मार्ग है। सो इनमें नहीं है। लौकिक लोगोंके उपकारकी बात हैं। सो गृहस्थजन करते भी हैं ऐसा। मगर यह धर्मका काम है, इसमें मेरा उद्धार हो जायगा यह श्रद्धा नहीं होती ज्ञानीकी। वह तो जानता है कि मेरा सहज आत्मस्वरूप ज्ञानमय है। इसकी दृष्टि और इसकी अवस्थामें ही हमारा कल्याण निहित है। तो जो अन्य प्रकारके देवी देवताओं को मानते हैं उनको देखकर मनमें उनके प्रति प्रशंसा और उत्साह भाव न हो।

देहोपकारक वस्तुवोंमें देवत्वकी श्रद्धासे लोकमूढ़ताका विस्तार—भैया कितनी ही बातें लोकमूढ़ता की होती है—जैसे बड़के पेड़में धर्मबुद्धिसे थोड़ा कलसा से पानी सींचना। और उस पेड़के चारों तरफ धागा बांधना, इसे लोग कहते हैं कि धर्म कर रहे हैं। बड़ पेड़ क्या है? एकेन्द्रियजीव और जो पूजने वाला कौन है? पंचेन्द्रिय जीव। कैसा मिथ्याभाव छाया है कि जिसमें कोई देवतापन की बात नहीं फिर भी लोग उसे बढ़ा-चढ़ाकर देवता कहते है। ये देवता कैसे कहलाने लगे, इसकी बात सुनो—कोई पहले ऐसा जमाना था कि इन मनुष्योंके काममें जो चीज अधिक आये उसको देवतारूप मान लेते थे। जैसै—अग्नि देवता, अब आग बिना तो सब काम बन्द रहेगा। न रसोई का काम बन सकेगा, न अन्य कोई जलाने पकाने आदि के काम। तो बड़ा उपकार हो रहा है अग्निसे जिससे अपना जीवन अच्छी तरह चले उसको लोगोंने देवता मान लिया, पर देवतो वास्तवमें वह आत्मा है जिसमें रागद्वेष रंच नहीं, ज्ञान और आनन्द अनन्त प्रकट हुआ है और उसे छोड़कर अन्य कैसे-कैसे देव माने जाते हैं। गाय, देवता, गाय बड़ा उपकारी जानवर है, उसके दूधसे बच्चे पुष्ट होते हैं, बैल बनते हैं, खेती की जाती है जिससे लोगोंका पोषण होता हैं। तो जिससे अपने प्राणोंको पोषण मिलता उसे देव मान लेने की बात मनमें थी, क्योंकि आत्मा परमात्माके बोध वाला जमाना न था। अब बड़के पेड़को देवता क्यों मानते सो सुनो—बड़का पेड़ इतना बड़ा छायादार होता कि उसके नीचे बारात पड़ जाय, सेना ठहर जाय, मुसाफिरोंको ग्रीष्मकालमें शीतल छाया मिले, वर्षाकालमें भीगनेसे बचें, यों बड़ा उपकार मिलता है बडके पेड़से, इसीसे लोगोंने उसे देवता रूपमें माना। अब पीपलके पेड़ को देवता क्यों मानते सो सुनो—आयुर्वेद के अनुसार बताया है कि पीपपल के पत्तों से स्पर्श की हुई हवा प्रकृत्या ही निरोगताबर्द्धक है इसी कारण बहुत उपकारी होनेसे उसे देवता माना जाने लगा। अब यहां मनमें एक ख्याल आता है कि लोगोंने नीमके पेड़को क्यों छोड़ दिया देवता मानने से? नीमका पेड़ तो बड़ा ही उपकारी होता है, कितने ही रोग उसके द्वारा दूर किये जाते हैं। तो शायद नीमके कड़वा होनेका अवगुण होनेके कारण उसे छोड़ दिया होगा। खैर कुछ भी बात हो। पर बात यहां यह समझना कि जिसे लोगोंने अपना माना उसमें देवतापने की मान्यता बनाया। सूर्य देवता—सूर्य को भी लोग देवता मानते। अगर

सूर्य न निकले दो चार दिन तो लोगों को पता पड़ जाय कि बिना सूर्यके निकले कितना कष्ट होता है, मगर सूर्यको बड़ा उपकारी मानकर लोग सूर्य देवता कहने लगे। पर वहां वास्तविकता यह है कि सूर्य तो एक पृथ्वीकायिक विमान है, उसमें रहने वाला इन्द्र है वह भी देवगतिका जीव है। उसमें पूज्यताकी क्या बात? ऐसी ही बात चंद्र देवताके विषयमें समझना। इनमें पूज्यताकी कोई बात नहीं, पर उपकारी जानकर लोगोंने इन्हें देवता मानकर पूजा। लोग तो चक्की उखलीको भी देवता मानकर पूजते, अनेक चिथड़ोंके पुतले बनाकर देवता मानकर पूजते, पर ये सब मिथ्यात्व भरी बातें हैं।

सम्यग्दृष्टिकी समीचीन देव शास्त्र गुरुमें आस्था—वास्तवमें देव वह है जिसको ज्ञान परिपूर्ण हो गया हो और रागद्वेषादि विकार जिनके रंच भी न हो। वही स्वरूप तो मेरा भी है। तो अपने स्वरूप की यादके लिए प्रभुकी भक्ति बहुत काम देती है। तो ऐसे किसी भी प्रकारके लोगों द्वारा माने हुए गुरु हों, देव हों, शास्त्र हों, जिनमें वीतरागताकी बात नहीं है उनकी प्रशंसा न करना, उसका प्रभाव न होना यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग, अर्थात अन्य तत्वमें मुग्ध न हो ऐसी दृष्टि मिली है। सच्चा मार्ग तो एक दिगम्बर मार्ग है, मायने जिसको कुछ न चाहिए, मुक्ति ही चाहिए वह किसी भी अन्य वस्तु का सम्पर्क न रखेगा। तो जो आडम्बर रखता है, मूल्यवान वस्त्र पहिनता है, नाना प्रकारके भेष धारण करता है, उसके प्रति श्रद्धासे सिर झुका देना मिथ्यात्व है। तो जो वीतराग सर्वज्ञ है वह तो हमारा देव और जिसमें तत्त्वस्वरूपकी बात कही गई है, वीतरागताकी बात बतायी गई है वह है शास्त्र और जो उस मार्ग में चल रहे वे कहलाते हैं गुरु। इन्हें छोड़कर अन्य प्रकारके देव, शास्त्र, गुरुमें मोक्षमार्ग की श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयां।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनं॥ १५॥

उपगूहन अङ्गके पालक ज्ञानीकी आन्तरिकता—मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रक एकत्व है। अर्थात अपने सहज आत्मस्वरूपको यह मैं हूँ, इस रूपसे श्रद्धा करना और सहज आन्तस्वरूपका ज्ञान रहना और इस दिशा ही में रमण करना, यह एकत्व मोक्षका मार्ग है। संसारमें सर्वत्र ही संकट हैं, इस कारण संसारसे छुटकारा पानेमें ही अपना कल्याण हैं। दूसरी बात चित्तमें न रहनी चाहिए। जो कुछ इस भवमें संयोग वियोग चल रहा है और आजीविकाके प्रकरणमें जो कुछ भी लाभ-अलाभ चल रहा है। वह सब पर पदार्थोंकी परिणति है। पर पदार्थोंके विषयमें हठ न होना चाहिए कि मुझको तो इतना ही वैभव चाहिए। मुझे इतना ही कमाकर रहना है, तब ही मेरेको सुख होगा यह हठ न करना, किन्तु यहां यह कला प्रकट करना है कि पुण्योदयवश जैसा जो कुछ हमारे साधारण परिश्रम से लाभ हो, हममें वह कला चाहिए कि उस ही परिस्थितिमें हम गुजारा प्रसन्नतासे कर सकें। बाह्य पदार्थोंपर हमारा अधिकार क्या, कुछ अधिकार नहीं किन्तु अपने आपको अपने ही सामर्थ्यसे उस ही में गुजारा कर लेनेकी कला का अधिकार है। क्योंकि यह मैं स्वयं हूँ। मैं अपने आपको समझा सकता हूँ। मेरा स्वयंपर अधिकार है। अतः मैं अपनी ज्ञानकलाका आलम्बन लूंगा। किसी पर पदार्थकी हठ

न करूंगा यह निर्णय अन्तरंगमें रहना चाहिए तब ही यह जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्रके मार्गमें लग सकता है।

उपगूहन अडगकी प्रयोजकता—यह रत्नत्रयभाव संसारसे छुटकारा पानेका मार्ग है। यह मार्ग प्रशस्त रहे, निर्दोष रहे, जगतके जीव समझें कि मार्ग तो बस यही है। उत्थानका उपाय यही है। ऐसी जैनशासनकी निर्दोषता चले इसके लिए उपगूहन अंगका पालन होता है। मार्गतो स्वयं सिद्ध है, मार्गमें स्वयंमें दोष नहीं है, किन्तु इस मार्गमें लगे हुए कोई बालक या असमर्थ पुरुषोंके द्वारा कोई दोषका काम हो जाय तो उस दोषको दूर करना अर्थात् इस जैनशासनमें दोष है, ऐसा लोगों की दृष्टिमें न आये, ऐसा उपाय करने का काम उपगूहन अंग है। वह उपाय क्या है? तत्काल तो यह है कि बालक असमर्थ, मनुष्य द्वारा कोई दोष हुआ है तो उस दोषका आच्छादन करना, ढाकना, प्रकट न होने देना, जैसे कि यह प्रसिद्ध है कि किसी धर्मात्मा पुरुषसे कदाचित कोई अपराध हो जाय तो उसे ढाकना, उसका अर्थ यह नहीं है कि उस पुरुषको दोष करने के लिए बढ़ावा देना। प्रयोजन यह है कि लोग यह न जानें कि वाह यह जैन धर्म या यह शासन तो ऐसा ही चल रहा है, इसमें ऐसे ही दोष रहा करते हैं। यह धर्म लोगों की दृष्टिमें शुद्ध बना रहे इसके लिए यह उपगूहन अंग है। तो इस ज्ञानी पुरुषने उस दोष करने वालेसे प्रेम नहीं किया किन्तु उसमें जैन शासन पर प्रीति करके दोष करने वालेके दोषोंको ढाका। कहीं लोगोंमें यह न प्रसिद्ध हो कि यह जैन शासन तो ऐसा ही दोषमय हुआ करता है। इसके लिए असमर्थ जीवके आश्रय होने वाली वाच्यताको, निन्द्यताको शुद्ध करनेका काम उपगूहन अंग है। इसके साथ ही यह भी कर्तव्य है कि जिससे दोष हो उसे चेतावनी दे देना चाहिए, समझाना चाहिये। भय न करना चाहिए कि मैं कैसे इसको कहूँ। यह बड़ा भारी प्रेम है कि दोष होने पर उसके दोषोंको उस ही से एकान्तमें बताया जाय कि इसमें आपका कल्याण है और वह दोषोंसे दूर हो सके ऐसी विधि बनावें, इसे कहते हैं उपगूहन अंग इसका दूसरा नाम है उपवृंहण अंग, अर्थात गुणों से बढ़ना सो उपवृंहण कहलाता है। उस उपवृंहण अंगसे यह लाभ है कि जगतमें भविष्यमें भी संसार संकटोंसे मुक्ति पाने के मार्ग की परम्परा चलती रहेगी। ऐसा यह मोक्षका पथिक पुरुष मोक्षमार्गको निर्दोष निरखना चाहता है।

धर्मात्माजनोंसे कदाचित् दोष होनेपर उसके सम्बंधमें एक चिन्तवन—किन्हीं धर्मात्माजनोंके दोषोंको देखकर यह विचार करना चाहिए कि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है। यह जीव भी तो अपना आनन्द चाहता है। मेरे आत्माको वास्तविक आत्मीय आनन्द मिले, शान्ति मिले, मोक्ष मिले, लेकिन करोड़ों भवोंमें पहले के बद्ध कर्म भी आज उदयमें आते हैं और उस उदयमें कैसी बुद्धि कैसी शारीरिक दशा होती है ऐसे ही मुझ पर भी आ सकती है। मुझ पर भी आयी है, ऐसा निरखकर उस दोष करने वालेके आत्मासे ग्लानि न उत्पन्न होने देना। किन्तु उसके उद्धारके लिए उन दोषोंको उपस्थित करना। बताना कि ऐसे दोष न होवें तो आपका कल्याण है और जैन शासन की प्रभावना है। यह कर्मदशा क्या चीज है? पूर्वबद्ध कर्म जब आत्मासे निकलते हैं तो जो कुछ प्रकृति का कोई पुरुष हो तो वह निकलते समय अपनी दुष्टता का अधिक से अधिक प्रयोग करके जाया करता है तो अनुभाग बंध जिन कर्मोंका विचित्र था तब यह आत्मासे निकल रहा था तो बड़े तेज विकट फल ये अपनेमें प्रकट करते

हैं। जैसे चूने का डला-जब उसकी म्याद पूरी होती है अथवा कोई उस पर पानी डाल दे उदीर्णाकर दे, तो जैसे वह डला फूलकर एक विचित्र रूप रख लेता है, ऐसे ही ये कर्म उन विपाकोंको भुलाकर ऐसी विचित्र रूप रखते हैं कि जिसका अक्स आत्मा पर पड़ता ही है। प्रतिफलन होता है तो उससे आक्रान्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूपकी सुधस छोड़कर विकल्पमें लग जाता है।

अपना आन्तरिक ज्ञान व यथार्थ परिचयके लाभमें प्रगतिकी मुद्रा—ध्यान तो यहां ही देना है वास्तविक, इसे भेद विज्ञान कहते है। यह मैं आत्मा हूँ ज्ञानमात्र। केवल जाननस्वरूप निराला। केवल जाननस्वरूप में कोई विकार नहीं हुआ करता। पर कर्म फिल्मका यह प्रतिफलन, यह विकार मुझपर छाता है। और मैं उसे अपनाता हूँ और अपनेको दुःखी कर लेता हूँ। यह स्थिति ज्ञान होने पर भी कुछ चलती है। तो उसे भेद विज्ञानसे दूर करना और दूसरेके दोषोंको भी भेदविज्ञानसे दूर करानेका यत्न यह ज्ञानी पुरुष करता है। जब तक विकार से, विकार के आश्रयसे उपेक्षा न होगी तब तक मार्ग निर्दोश न चल पायगा। वह उपेक्षा कैसे हो? तो देखिये जितने भी विकार हुआ करते हैं उन विकारोंके दो प्रकार हैं। व्यक्त विकार ओर अव्यक्त विकार। जैसे हम मन्दिरमें बैठे हैं, पूजा कर रहें हैं, स्वाध्याय सुन रहे हैं, काम अच्छा कर रहे और चित्त लगाकर कर रहे फिर भी पाप कर्मका उदय भी निरन्तर अभी चल रहा है। चारित्र मोहनीयका उदय अभी भी चल रहा है। लेकिन उपयोग हैं प्रभुके गुणोंमें। उपयोग है तत्त्वके श्रवणमें, तो उदित हुये वे पापकर्म फल दिखाकर तो चले जाते है, किन्तु वह फल अव्यक्त रहता है। हमारी बुद्धिमें नहीं आ पाता, इसे कहते हैं अबुद्धिपूर्वक। तो आप यह देखें कि शुभोपयोग की प्रक्रियामें कितनी सुविधा मिलती है। जिसने शुद्ध अंतस्तत्त्वका परिचय किया है और उस ही लक्ष्यमें रहना हुआ, शुभोपयोग में परिणत हो रहा है तो उदयमें आने वाले पापकर्म अव्यक्त फल देकर निकल जातें हैं। एक लाभ, दूसरे लाभमें शुभोपयोगसे अपने आत्माको ऐसा बचाया, उन पाप विकारों से दूर किया, इतनी पात्रता जगी कि यहां चाहे एक क्षण दृष्टि दें अपने कारण समयसारकी ओर तो हम इसको प्राप्त कर सकते हैं। पात्रता बने यह दूसरा उसका लाभ है। तीसरा लाभ-उस शुभोपयोगकी प्रकर्षतामें जैसे प्रभुके गुणोंमें हमारा चित्त बढ़ता जाता है तो गुणोंकी समानता के कारण कभी वहां भी विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वको पा सकते हैं फिर ज्ञानी जीव शुभोपयोगको उपादेय नहीं मानता, अत्यन्त उपादेय नहीं मानता। चल रहा है उस विधि में, अगर शुभोपयोग कथञ्चित उपादेय न हो तो वह चले कैसे। फिर भी वह मानता है कि यद्यपि इस परिस्थितिमें शुभोपयोगको उपादेय बताया है तथापि शुद्ध तत्त्वके पाने पर वह स्वयमेव छूटता है। ऐसे निर्दोष मार्गको बताने वाले शासनमें लोग कलंकन ला सकें इसके लिए ज्ञानीजीव उपगूहन अंगका पालन करते हैं।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥ १६॥

सम्यक्त्व और चारित्रसे चलित हो रहे स्व परको सम्यक्त्व व चारित्रमें स्थित करनेकी ज्ञानी की वृत्ति—ज्ञानी पुरुष स्व और परके अन्तः स्वरूपको जान चुका। मैं हूँ यह ज्ञानमात्र अपने

स्वरूपास्तित्त्वसे परिपूर्ण और अन्य द्रव्य अनन्तानन्त शेषजीव, अनन्तानन्त सभी पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, ये सब पर द्रव्य हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यमें प्रवेश कभी नहीं होता। निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था तो ठीक है परन्तु एकद्रव्यका सत्त्व दूसरेमें विलीन हो गया हो यह कभी नहीं हुआ, अथवा एक पदार्थका दूसरा कुछ लग गया हो, स्वामी हो गया हो यह कभी नहीं हो सकता। मैं अपने आपमें अपने आपको करता हूँ। अपने द्वारा करता हूँ। अपने लिए करता हूँ। अपने में करता हूँ। यही हमारा वास्तविक व्यवसाय है। ऐसे ही सब द्रव्योंका अपना व्यवसाय है। तो ऐसा परिचय हो जाना शान्तिका आधार है। सो इस ज्ञानीका अपने आपमें यह निर्णय बना है कि हमको अपने दर्शन ज्ञान चारित्रसे स्खलित न होना चाहिए, क्योंकि अपने स्वरूपकी दृष्टिसे अलग होकर किसी बाह्य पदार्थमें उपयोग रखेंगे, उसीको अपना सर्वस्व मानेंगे तो उसमें सिवाय आकुलता के और कुछ नहीं है। यह बात प्रसिद्ध है। ऐसा निर्णय करने वाला जीव भी इसी धर्मसे सम्बन्धित अन्य समारोह में, प्रबन्धमें, व्यवस्थामें लगता है पर ध्येय उन सब व्यवस्थावोंका यही है कि मेरा रत्नत्रय स्वरूप मेरे को प्रकट हो। तो अपने आपको इस रत्नत्रयसे स्खलित न करना चाहिए और दूसरे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव किसी कारणसे यदि वे अपने धर्मसे चलित हो रहे हों तो हर उपायोंसे उन्हें धर्ममें स्थिर करना यह कहलाता है स्थितिकरण अंग।

धर्मवत्सलता हुए बिना यथार्थ स्थितिकरणाडग की अनुत्पत्ति—यह स्थितिकरण तब तक नहीं हो पाता जब तक कि धर्मवत्सलता प्रकट न हो। वह रत्नत्रय धर्म जिसको प्रिय है वही दूसरे आत्मावोंसे प्रेम कर सकता है। जैसे कि सिनेमा देखने जाने वाले लोग अन्य देखने जाने वाले लोगोंसे अपनी मित्रता बना लेते हैं और एक दूसरेके कन्धे पर हाथ रखकर सिनेमा देखने जाते हैं, ऐसे ही मोक्ष मार्गमें जाने वाले ज्ञानी पुरुष दूसरे साधर्मी बंधुवों से अपनी मित्रता बनाकर चलते हैं वे सब परस्परमें एक दूसरेका कल्याण चाहते हैं। ज्ञानी जीवने अपूर्व वैभव पाया है अपने सहज आत्मस्वरूपका दर्शन। सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान। सहज आत्मस्वरूपमें रमण। यही कला उसको इस संसार समुद्रसे पार करने वाली है। तब इस ज्ञानी जीव को अन्य सब बाह्य चीजें अनुपादेय लगती हैं जैसे कहते हैं कि काक बीटसम गिनत है सम्यग्दृष्टि लोग। यहां यह न समझना कि पुण्यभावको काकबीट कहा, वह काकबीट समान नहीं है किन्तु वह कथञ्चित उपादेय है और उसीके सिलसिलेमें पुण्यभाव छूटकर धर्मभाव आता है। आचार्यों ने बतलाया है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। शुभोपयोग हेय नहीं है और शुभोपयोग अत्यन्त उपादेय है। इन तीन शब्दोंमें क्या बात आयी कि अत्यन्त हेय है अशुभोपयोग, शुभोपयोग अत्यन्त हेय नहीं। किन्तु शुभोपयोगकी परिस्थितिमें जब शुद्धोपयोगकी योग्यता बने तब शुभोपयोग हेय है। जैसेकि प्रवचनसारमें व्रत धारण करते समय भक्त क्या कहता है कि हे समिति, हे व्रत, हे तप, मैं कब तक तुमको ग्रहण करता हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्धोपयोगको न प्राप्त होऊं। कोई कोई लोग तो प्रभुकी भक्ति करते समय यह कहते हैं कि हे प्रभो, मैं भव भवमें तुम्हारा दास रहूं। मगर विवेकी पुरुषकी यह आवाज निकलती कि हे प्रभो तुब पद मेरे हियमें ममहिय तुब

पुनीत चरननमें। तब लौ लीन रहे जब लौ प्राप्ति न मुक्ति पदकी होय, कहीं ऐसा सोचनेसे भक्तिमें हीनता न समझिये किन्तु वस्तुस्वरूपकी यथार्थ पकड़ समझिये।

भक्ति और भक्तिका प्रभाव—भक्ति दो प्रकारकी है। भक्त भी दो प्रकारके मिलते हैं एक तो प्रभुसे डर मानकर प्रभुसे आशा मानकर भक्ति करना। ऐसे भक्त मिलेंगे ईश्वर सृष्टिकर्तावादी, जो मानते हैं कि हमको ईश्वर स्वर्गमें ले जाता, नरकमें पटकता, तो वे डर मानकर ईश्वर की भक्ति करते। कहीं यह ईश्वर मुझे नरकमें न पटक दे, सुखसे हटाकर दुःखमें न डाल दे, इस कारण ईश्वरकी भक्ति करते। तो एक तो इस तरहके भक्त हुए। दूसरे वे भक्त होते जो प्रभुके गुणोंसे अपने गुणोंका परस्परमें मिलान करके भक्ति करते। गुणके मायने प्रकट दशा न लेना किन्तु शक्ति लेना। शक्ति याने प्रभु का जो स्वरूप है उस शक्तिको और अपनी स्वरूप शक्तिको एक समान मानते हैं। जब एक समान जाना और अन्तर रहा पर्यायका-मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान। यह ऊपरी अन्तर है कि वे वीतराग हैं और यहां रागका फैलाव है। ऊपरी अन्तर क्यों कहा? अन्तर तो सब भीतरी है। परिणामोंमें अन्तर क्यों आया? पर स्वरूपमें अन्तर नहीं है यह बात जताने के लिये ऊपर शब्द डाला है। कहीं स्वरूप में अन्तर न जानना। स्वरूप स्वभाव एक है। तो ऐसा एक स्वरूप देखकर जो भगवानके स्वरूपकी ओर खिचाव होता है वह विशुद्ध खिचाव है, विशुद्ध भक्ति है, और जो किसी आशा और भय से भक्ति होती है उसमें भीतर का अभेदभाव नहीं है भक्तिमें एकरसपना नहीं है। वह डर और आशाके कारण भक्ति है। एक रसपनेकी भक्ति तब ही हो सकती है जब द्रव्यतः गुणतः समान, पर्यायतः अन्तर, यह बात समझमें आये तब प्रभुके गुणोंमे एक रसरूपसे भक्ति बनेगी। तो प्रभुकी भक्ति कहो या आत्मस्वरूपकी भक्ति कहो, दोनोंमें अधिक अन्तर नहीं है। क्योंकि वह प्रभु स्वरूप क्या है? जो आत्माका वास्तविक रूप है वही विकसित हुआ है। जैसे पत्थरकी प्रतिमा बनानेमें कोई बाहरी चीज ला लाकर नहीं बनायी जाती किन्तु जिस पाषाणमें से प्रतिमा बनाना है उस पाषाणके अन्दर वह प्रतिमा स्वयं विद्यमान है। किन्तु उसको ढाकने वाले, आवरण करने वाले पत्थरोंको हटाने की जरूरत है। मूर्ति ज्योंकी त्यों प्रकट हो जायगी, तो ऐसे ही सिद्ध स्वरूप होनेके लिए हमें अपने आत्मामें बाहरकी कोई चीज नही लगाना है किन्तु इस स्वरूप के बाधक जो विषय कषाय आदिक आवरण हैं उन्हें हटाना है उनके हटते ही वह स्वरूप स्वयं प्रकट हो जायगा। तो ऐसा अपने स्वरूपका परिचय पाये हुए ज्ञानी संत स्थितिकरण अंगका पालन करते हैं। वे दूसरोंका स्थितिकरण कैसे करते सो सुनो—कोई पुरुष काफी आर्थिक संकटमें पड़ा है। जिसका साधारण ढंगका भी गुजारा नहीं चल पाता उसको सब प्रकारसे सहयोग देकर स्थिर कर देता है। किसीके चित्तमें दुविधा आयी है तो उसे सत्यार्थ स्वरूप सुना सुनाकर उसके चित्तको बदलता है, स्थिर करता है। जो भी उपाय बने उन सब उपायोंसे ज्ञानी जीव दूसरोंको धर्ममें स्थिर करता है। यह है ज्ञानी पुरुषका स्थितिकरण अंग। और भीतरमें स्वयं अपने लिए निरखता है कि मैं इस बाहरी स्वरूपसे अलग हूँ, कितना मैं अपने धर्मसे च्युत हुआ, कितना मैं अटपट क्रियावोंमें लग गया हूँ। उसे निरखकर वहांसे हटकर अपने आपमें आनेका वे पौरुष करते हैं।

ज्ञानमात्र, ज्ञानघन व आनन्दमयके संचेतनके तीन आत्मक्रान्तिकारी कदम—जो अभी मंगल तन्त्रमें आपने तीन विशेषण पढ़े थे—(१) मैं ज्ञानमात्र हूं (२) मैं ज्ञानधन हूं (३) मैं सहज आनन्दमय हूं। तो यहां तीन विशेषण—ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, और आनन्दमय इनका एक क्रम बन जाता है। अपने आपमें रमनेके लिए इस क्रमने कितनी मदद की। जब यह आत्मा बाहरकी चीजोंमें बहुत भटक गया। देशमें, क्षेत्रमें, कालमें बहुत बाहर चला गया कल्पनाओं द्वारा कल्पनाओंसे उन चीजोंको अपना मानने लगा तो वह पुरुष एक ही झटकेमें मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त जितने भी परपदार्थोंका समूह है उसको एक झिटकेमें झिटक देता है। जिसे कहेंगे आऊं। बाह्य पदार्थोंमें मैं बहुत भटक गया था। अब वहां से हटकर आऊं, रम लूं, ऐसा कहो, या ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय, ऐसा कहो। सवं पदार्थोंसे अलग होकर अपने स्वरूप तक पंहुचनेके लिए बहुत विशेषणों द्वारा उसने झिटक दिया—ज्ञानमात्र, और फिर अपने ही ज्ञानमें संतुष्ट रहनेके लिए ज्ञानसे बाहर अब कभी न जानेके लिए उसने भीतरमें अनुभव किया कि मैं ज्ञानघन हूं। घन कहते हैं वही वहीं, ठोस परिपूर्ण। अधूरा जरा भी नहीं, अपनी पूरी सत्ता लिए हुए हूं, और वह है सब ज्ञान ज्ञानरूप। तो इसीको कहते हैं उतरूं। मैं अपने इस ज्ञानस्वरूपमें उतर जाऊं, इस ही में रहकर संतुष्ट होंऊ, तो जब यहां तक आये तो अब इतना भी ख्याल छोड़नेकी जरूरत है कि मैं ज्ञानरूप हूं, ज्ञानघन हूं, यह भी विकल्प छोड़ने की जरूरत है। तो वह तीसरी उपमामें यों अनुभव करता कि मैं आनन्दमय हूं। यह सब ज्ञान निजका है, निजकी ही चेष्टा है, इस निजकी वृत्तिमें निजकी क्या दुविधा? जब ही एक दृष्टिकी और एक अपना समग्र आत्मस्वरूप उसने दर्शनमें लिया, इस कामको करने न आयेंगे। भगवानके गुणोंका चिन्तन कर मैं अपने गुणोंका पोषण कर रहा हूं। तो भगवान निमित्त भर हुए और करना अपने को ही है।

संसारमें मोहवश विभ्रान्तियोंके कारण विडम्बितपना—इस संसारमें इस जीवने अनन्तभव धारण करके अन्य तो सब कार्य किया विषय सम्बन्धित किन्तु अपने आत्मस्वरूपकी उपासनाका कार्य अब तक नहीं किया। इसका प्रमाण क्या है कि अब तक संसारमें रुल रहा है। इससे अधिक और प्रमाण क्या? कोई पुरुष किसी शराब बेचने वाले की दुकान पर गया। दुकानदारसे बोला कि मुझे शराब चाहिये, क्या आपके पास अच्छी शराब होगी? हां हां अच्छी है। अजी नहीं, बहुत अच्छी चाहिए। हां हां अहुत ही अच्छी है, इसका प्रमाण क्या है सो चलकर साक्षात् देखलो। यह कहकर ले गया दुकानके पीछे और बताया कि देखो ये जो तुम्हारे चाचा बाबा नापदान में बेहोश होकर पड़े हैं। जिनके मुखपर कुत्ते भी मूत रहे हैं उन्हें देखकर अन्दाजा कर लो कि हमारे यहां की शराब अच्छी है या नहीं। तो ऐसे ही संसारमें देख लो—इस जीवने अब तक ज्ञानसुधारसका पान नहीं किया इसका प्रमाण साक्षात् यही है कि यह जीव अभी तक इस संसारमें रुल रहा है। इस जीवने अनादिसे अब तक न जाने कितना दुःख सहा। बहुत गौरसे देखिये—जिस क्षण खानेका आनन्द मान रहे हैं या अन्य विषयों का आनन्द समझ रहे हैं उस समय भी जरा भीतरमें अनुभव करके तो बताओ कि उन विषयोंका सुख भोगनेमे इस जीवको कितना क्षोभ होता, कितनी आकुलता मचानी पड़ती। इसलिये ये वैषयिक सुख दःख रूप ही हैं। केवल कल्पनामें सुख मान रहा है। सुखके भोगनेमें भी क्षोभ है। दुःख पानेमें क्षोभ

है, यह तो स्पष्ट ही बात है। तो यह जानकर कि मेरे आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं हैं जिसमें मैं अपने मनको रमाऊं और कृतार्थ होऊं।

आत्मज्ञान बिना अपनी अव्यवस्थितता—*जगमें कुछ भी पदार्थ नहीं है ऐसा कि जिसमें मुझे* रमना चाहिए। घरमें स्त्री पुत्र मित्रादिक जो भी रह रहे हैं उनसे राग करना पड़ता है। राग किये बिना घरमें रह नहीं सकता, इसलिए राग किया जा रहा किन्तु अन्तः यह समझना चाहिए कि जैसे पड़ोसके या अन्य भवके जीव भिन्न है ठीक उसी तरहसे घरमें रहने वाले सभी जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसमें रंच भी गल्ती नहीं हैं। ठीक उतना ही अन्तर है जितना भिन्न अन्य जीव हैं क्योंकि उनका परिणाम उनमें हैं। उनका अनुभव उनमें हैं, उनके कर्म उनमें हैं।उनका उदय उनके साथ है। मैं उनमें कुछ परिणति कर नहीं सकता, वे मुझमें कुछ परिणति कर नहीं सकते। केवल राग वश ही ऐसी बातें की जाती हैं कि तुम हमको बहुत प्रिय हो। तुम्हारे बिना तो प्राण भी नहीं टिक सकते। तो यह तो ऐसी बात है कि उष्ट्रानां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभाः, परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः। कहीं ऊँटों का विवाह हो रहा था, उसमें गीत गानेके लिए गधे बुलाये गये थे। तो वहां गधे गीत गा रहे थे—अहो ऊंट तुम कितने सुन्दर हो। तुम्हारा रूप बड़ा सुन्दर है, तो ऊँट कहते—अहो गधे—तुम्हारा बोल कितना सुन्दर है, तुम बड़ा सुन्दर राग अलाप करते हो। अब देख लो न तो सुन्दर रूप ऊँटोंका और न सुन्दर आवाज गधोंकी फिर भी दोनों एक दूसरे की प्रशंसा करके मौज मानते हैं ठीक ऐसी ही बात यहां समझिये। वास्तवमें यहां कोई किसीसे प्रीति नहीं करता, रागवश ही सब एक दूसरेसे प्रीतिका व्यवहार करते हैं। तो यह राग परिस्थितिवश करना पड़ता है। जैसे कोई रोगी औषधिसे राग करता है औषधि पीना छूटनेके लिए। वह वह नहीं चाहता कि मुझे यह औषधि जिन्दगी भर पीना पड़े किन्तु वह तो यह चाहता है कि कब मुझे औषधि पीनेसे छुट्टी मिले। औषधि पीनेसे छुट्टी मिले मायने मेरा रोग कब दूर हो, इसके लिए वह औषधिसे राग करता है और उसका पान करता है। उस रोगीको जैसे उस औषधिसे मोह नहीं है ऐसे ही अपने आपके आत्माको थोड़ा सम्हाल तो लीजिए अपने ज्ञानबलसे और ज्ञानमें ही अपने आत्माको नियंत्रित रखिये और स्पष्ट भीतर प्रकाश पाइये कि मैं मात्र आत्मा हूं मेरा सर्वस्व मुझमें हैं, मेरेसे बाहर मेरा कुछ नहीं है, ऐसा करनेके बाद फिर घरकी वे सब व्यवस्थायें करें। करनी पड़ेगी। तो उन व्यवस्थावोंके करते हुए न तो आकुलता मचेगी और न व्यामोह होगा।

आत्मसुध बिना अन्य समागमकी बिडम्बना—भैया, सर्वश्रेष्ठ धन है अपने आत्माका ज्ञान। इसके बिना सब बेकार। एक घटना राँचीकी है। काफी दिन पहले जब हम वहां गये थे तो एक जगह क्या देखनेमें आया कि यहीं का कोई वैष्णव भाई जो कि बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक था उसका बहुत दिनों से दिमाग खराब हो गया, उसको खानेके लिए एक होटलमें इन्तजाम कर दिया गया, रही सारी सम्पत्ति उसके ही नामसे, मगर क्या रहा अब उसके लिए? वह सब सम्पत्ति उसके लिए बेकार। वह तो ज्योंका त्यों दरिद्र रहा। तो जिसका ज्ञान अपनेमें स्पष्ट नहीं है, व्यवस्थित नहीं है उसके लिए यहां का सब कुछ बेकार है और जिसका ज्ञान व्यवस्थित है। साथ ही आत्मज्ञान है तो फिर उसकी शान की कहना ही क्या? वह तो अपनेमें एक गौरव अनुभव करता है, निराकुलता अनुभव करता है

और फिर घरकी व्यवस्था भी वह बड़ी उत्तम बनाता है। मान लो परिवारमें कोई बड़ा मोह करके रह रहा स्त्री पुत्रादिक परिजनोंसे तो उसका क्या हाल होगा, सो तो जानते ही हो। वह तो उनके पीछे निरन्तर दुःखी रहेगा और जो निर्मोही बनकर परिवारके बीच रहेगा उससे सब भय मानेंगें कि कहीं ऐसा न हो कि वह घर छोड़कर कब चल दे, इसलिए घरके सब लोग उसकी आज्ञामें रहेंगे। तो घर की व्यवस्थाके नाते भी आप देख लीजिए परिवार में निर्मोह बनकर रहनेमें घरकी अच्छी व्यवस्था बनती है।

आत्मज्ञानका माहात्म्य—आत्मज्ञानका बड़ा अद्भुत माहात्म्य है। उसके फलमें इस भवमें भी आनन्द पाये और परभवमें भी पाये। यहां का पाया हुआ सारा समागम तो इस ही भवमें छूट जायेगा, यहां का कुछ भी समागम साथ न देगा। यह मैं आत्मा अपने आपमें अकेला ही हूं, स्वतन्त्र हूं। जो मुझमें मेरा स्वरूप है वह अनादि से है, अब भी है। कभी छूटेगा नहीं मुझसे। उसमें दुःखका क्या काम। जो सत् है वह कभी नष्ट नहीं होता। सत् का कभी विनाश नहीं होता। मेरेमें कोई अपूर्णता ही नहीं है फिर घबड़ानेकी क्या बात मान लो वैभव मेरे घरमें न रहा, अन्यत्र कहीं चला गया तो उससे मेरे आत्मारामका क्या बिगाड़ हो गया? अथवा परिवारका कोई गुजर गया तो उससे मेरे आत्मारामका क्या बिगाड़ हो गया। किसी भी पर पदार्थके परिणमनसे इस मुझ आत्माका कुछ भी बिगाड़ अथवा सुधार नहीं होता। मैं ही उनके प्रति नाना प्रकारकी कल्पनायें करके स्वयं दुःखी अथवा सुखी होता हूँ। पर पदार्थके पीछे संकल्प विकल्प करनेसे तो निरन्तर आकुलता है, कष्ट है अतः अपना कर्तव्य यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको सम्हालूं उसको ही निरख निरखकर संतुष्ट रहूँ तो यह अभ्यास, यह संस्कार जैसे-जैसे दृढ़ होता जावेगा वैसे ही वैसे इसका विकास होता चला जावेगा। तो जरूरत है इस बात की कि जिस कामको अभी तक नहीं किया वह काम कर लें। अन्य सभी काम तो कितने ही बार अब तक कर लिया होगा। न जाने कितने बार अब तक संसारमें जन्ममरण करके चतुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया होगा, वहां क्या-क्या काम नहीं किया। सब कुछ किया, सभी जीवोंका समागम कितने कितने ही बार अब तक किया, चाहे किसी भी रूपमें किया हो। पर वे सब बातें निःसार रहीं, लाभ कुछ न मिला, उनसे इस जीवका कल्याण नहीं है। इन सबसे निराला जो अपना आत्मतत्त्व है उसको सम्हालिये और निर्मोह होनेका साहस बनाइये, और वह है क्या साहस? भीतर ज्ञानसे ज्ञानमें सोचना भर हैं, बाहरी श्रम करने की जरूरत नहीं। दूसरोंसे किसी प्रकारकी आशा करनेकी जरूरत नहीं। अपने ज्ञानसे अपने ज्ञानमें अपने ज्ञानस्वरूपको निरखिये, यह मैं हूं पूरा अविनाशी तत्त्व। ऐसा लखने वाला पुरुष रत्नत्रयभावसे चलित नहीं होता।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥ १७॥

सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य अङ्ग—वात्सल्य अङ्ग—रत्नत्रयधारियोंके प्रति निष्कपट अनुराग जगना वात्सल्य कहलाता है। इसमें यह निर्णय किया कि यह जगत बसनेके काबिल नहीं है। इस संसारमें चतुर्गतियोंमें निरन्तर अपवित्रता है और दुःख ही दुःख है। चाहे बड़े से बड़े वैभव का समागम हो लेकिन

उसके आश्रयमें शान्ति नहीं मिलती। किसी भी परतत्त्वके आश्रयमें शान्ति नहीं मिलती। कहीं दुःख कम हो जाता है तो लोग उसे सुख कहने लगते हैं। जैसे तेज बुखार वालेका बुखार यदि हल्का हो जाय तो वह कहता है कि अब तो हम बड़े सुखमें है। तो ऐसे ही जो कठिन दुःख है वह दुःख न रहा, उपयोग बदल गया विषयोंके उपभोगमें तो वह ऐसा सोचता है कि मैं सुख पा रहा हूं, पर भीतर जो विधि है जो मुद्रा बन रही है वह तो क्षोभकी है, आकुलताकी है। संसारमें कहीं भी सुख नहीं है। यह जगत रहनेके योग्य नहीं। यहांका समागम पकड़े रहने के योग्य नहीं। जिसका यह निर्णय हुआ है उसे धर्मात्मामें और धर्मात्माजनोंमें प्रेम जगता है। संसारमें, संसारके साधनोंमें प्रेम रहे और धर्म-धर्म धर्मात्मावोंमें भी प्रेम रहे ये दो बातें एक उपयोगमें नहीं रहती। तो जिसने आनन्दमय ज्ञानस्वरूप सबसे निराले इस गुप्त अविकार अंतस्तत्त्वका परिचय पाया है वह अपने गुणोंमे अनुरक्त रहता है। यहां ही श्रध्दान रहता है और बार बार इस ज्ञानमात्र अन्तः स्वरूपका अनुभव करके प्रसन्नता पाता रहता है।

स्वरूपपरिचयी पुरुषका स्वरूपमें वात्सल्य और उसका प्रभाव—स्वरूपपरिचयी पुरुषको अपने साधर्मीजनोंको निरखकर, मोक्षमार्गमें चलने वाले महान पुरुषोंको देखकर बहुत प्रसन्नता उत्पन्न होती है। बहुमान होता है क्योंकि यह जान रहा कि यह भी सर्वकी उपेक्षा करके एक मुक्तिके मार्गमें चल रहा है। तो जिस बातको हम चाहते थे वही बात जो कोई दूसरा चाहे तो वहां गाढ़ अनुराग हो ही जाता है। तो यहां निश्चयसे तो है अपने आपके गुणोंमें वात्सल्य और व्यवहारसे कहा जाता है। धर्मात्माजनों में वात्सल्य व्यवहार से कहा जाता, इसका यह अर्थ है कि मैं आत्मा जो कर सकता हूं सो अपने प्रदेशोंमें ही कर सकता हूं। बाहर कुछ नहीं कर सकता हूं फिर भी बाहरी आश्रय लेकर विषय बनाकर जो अपनेमें परिणाम बनाता हूँ तो बाहरकी बात कहना। वात्सल्य करते हैं, ऐसा कहना यह व्यवहारसे कहा जाता है। उसे प्रेम अपने आपके रत्नत्रयमें और रत्नत्रयके स्वरूपमें रत्नत्रयधारी में निश्छल हुआ करता है। इसके लिए उदाहरण दिया गया है गौवच्छ प्रीतिसम। जैसे गाय बछड़े के प्रति प्रीति रखती है क्योंकि गायको बछड़ेसे रंचभी आशा नहीं रहती कि यह बछड़ा बड़ा होकर मेरी सेवा करेगा फिर भी उस बछड़ेको देखकर गायको इतना गाढ़ अनुराग होता कि कदाचित वह बछड़ा नदीमें गिर जाय तो वह गाय उस बछड़ेको बचानेके लिए नदीमें कूद जाती है। इतना अधिक अनुराग होता गायको अपने बछड़ेसे। तो निश्छल अनुराग की समानतासे गाय बछड़ेका उदाहरण दिया, कहीं सुनने बनानेके लिए नहीं। ऐसे ही अपने रत्नत्रयधारियोंके प्रति यथायोग्य आदर और यथायोग्य वात्सल्य होता है।

धर्मात्माको सर्वत्र त्वरित धर्मका दर्शन—यह सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरंगमें तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अनुराग रखता है और बाह्य में धर्मके आयतनमें अनुराग रखता है तो अन्य मिथ्यादृष्टि जनोंसे द्वेष नहीं करता। कैसी समता है कि गुण और गुणीमें अनुराग है किन्तु मिथ्यादृष्टि जनोंके प्रति द्वेष न उत्पन्न होना चाहिए। वहां भी यही देखना है कि यह जीव भी सहज आत्मस्वरूप है। ज्ञानी जीवको सभी जीव एकदम प्रथम ही सहज आत्मस्वरूप के रूपसे नज़र आते हैं। पश्चात कर्मदशा के कारण हुए भेदोंको निरखता है यह ज्ञानी जीवकी एक परमार्थ कला है। कीड़ा मकोड़ा पशुपक्षी दरिद्र

भिखारी किसी भी जीवको देखकर एकदम पहले यही ही निर्णय होता है कि यह भी सहज आत्मस्वरूप है पर कर्मका कैसा आक्रमण है कि यह ऐसी दुर्दशाको प्राप्त हो रहा है। जिसके चित्तमें जो है वही बात उसको बाहरमें सर्वत्र दिखती है। कोई पुरुष अगर रंजमें है, घर का कोई इष्ट व्यक्ति गुजर गया है। उसके पीछे वह बड़े शोकमें रहता है तो उसे सब जगह प्रथम शोक ही नजर आता है। कदाचित काई हंसने वाला व्यक्ति भी दिख जाय तो इसे यों लगता कि यह जबरदस्ती हंस रहा है। वहाँ उसे सुखी नहीं दिखता किन्तु जैसे सिनेमाके पर्दे पर अनेक चित्रण होते हैं ऐसे ही यह भी एक हंसनेका पार्ट अदाकर रहा है। यों शोकमय ही उसे निरखता है, और जो सुखमें हो उसे सब जगह सुख ही सुख नजर आता है। कोई रंजमें बैठा हो तो उसके प्रति सुखी व्यक्तिको यों लगता कि यह बनावटी रंज कर रहा है यह सुखी। तो जिसके चित्तमें जो बात बसी है उसको सर्व्रत्र वैसा ही दिखता है। तो जिसको अपने सहज आत्मस्वरूपका परिचय है। सहज आत्माका स्वरूप, ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय जो स्वरूप इसने अनुभव किया है उस सहज आत्मस्वरूपका सर्वत्र दर्शन होता है। मूलमें तो सत् यह है, पर हो रहा है यह। तो सहज आत्मस्वरूपका परिचय करने वाले ज्ञानी संत दूसरोंमें इन ही गुणोंको तकते है और इसी कारण वात्सल्य जगता है।

धर्मिवत्सल पुरुषका धर्मविरुद्धजनोंमें समभाव—धर्मिवात्सल्य होने पर भी किसी भी समय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों पर इसके द्वेषभाव कतई नहीं आता। ज्ञाता दृष्टा रहता है। यह भी सहज आत्मस्वरूप है। आज इसका ऐसा परिणमन हो रहा है। यह जीव अनन्तकालसे अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण कर रहा मगर स्वरूप तो इसका अविकार ज्ञानमात्र है, इसमें मूलमें दोष नहीं है। यह दोष प्राकृतिक आया। प्राकृतिक कहते किसे हैं। जैसे कोई शिमला पहाड़ पर पहुंच जाय और प्राकतिक दृश्य देखे तो वह कहता है कि वाह यह तो प्राकृतिक दृश्य है, किसी का किया हुआ नहीं है। इसे कर कौन सकता है, किन्तु तथ्य क्या है कि वे सब दृश्य किये हुए है स्वाभाविक नहीं हैं। किसके द्वारा किये हुए हैं? जो शुभ अशुभ प्रकृतियां है कर्मकी उन जीवोंके साथ जो फूल हैं, वृक्ष हैं इन जीवोंके साथ जो शुभ अशुभ प्रकृतियां लगी हुई हैं उनके विपाकसे यह दशा बनी है। यह कर्मकृत दशा है, प्राकृतिक दशा है, प्रकृतिका नाम सब लोग लेते है, यह प्रकृति से हुआ है पर प्रकृतिका अर्थ क्या है? जिसे लोग प्रकृति कहते है और कर्म स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाते वे कर्म है क्या चींज? उन्हें कर्म कहो अथवा प्रकृति कहो, एक ही चीज है। जो कषायवश कर्म बंधे हैं जीवके उनमें एक प्रकृति जुड़ी हुई है, आदत पड़ी हुई है कि यह कर्म ज्ञानको ढाकेगा, यह कर्म दर्शनको ढाकेगा, यह कर्म साताका कारण बनेगा, इस प्रकारकी उनमें प्रकृति पड़ी है उस प्रकृतिका उदय है जो हम और आपकी ऐसी दशायें चल रही हैं। इस तथ्यको निहारने वाले पुरुष सर्व जीवोंमें मैत्रीभाव रखते हैं। रत्नत्रयधारियोंमें विशेष प्रमोदभाव रखते हैं। पर मित्रता उनके सर्व जीवोंके प्रति है। मित्रता हुआ करती है समान लोगोंमें, छोटेमें नहीं, बड़ेमें नही, छोटेमें अनुराग, कारुण्य, आशीष और बड़ेमें विनय आदर और मित्रता समानमें चलती है। तो चूंकि इस ज्ञानीने सर्व जीवोंको सहज आत्मस्वरूपमें देखा है, समझा है, इस समानताके कारण सर्व जीवोंमें उसकी मौलिक मित्रता रहती है। सर्व जीव अपने आनन्दमय स्वरूपको पायें, इन्हें दुःख न हों।

दुःख क्या है? विकारभाव। अन्य और कुछ दुःख नहीं है। यह तो लोग मोहमें कहते हैं कि मेरको इतना घाटा पड़ गया, मैं बड़े कष्टमें हूं। अरे घाटा पड़नेसे कहीं कष्ट नहीं हुआ करता। मेरे अमुकका वियोग हो गया, मैं बड़े कष्टमें हूँ। किसीके मरणसे, वियोगसे कष्ट नहीं हुआ करता, किन्तु खुद ही परवस्तुके विषयमें कल्पनायें बनाकर खेद किया करते हैं।

ज्ञानीका आन्तरिक पौरुष—मैं परविषयक कल्पनाओंको हटाऊं और यह दृष्टि बनाऊं कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, मेरे ज्ञानमें ये सामनेके जीव अजीव पदार्थ नजर आ रहे हैं, उपयोगमें चित्रित हो रहे हैं, उनके बारेमें कुछ विचार करता रहता हूं सो ये न जानूं। इनको छोड़कर मैं ज्ञानके स्वरूपको ही जानूं कि ज्ञान क्या कहलाता है। ज्ञानका स्वरूप है ज्योतिमात्र, प्रतिभासमात्र। यह मैं अन्दरमें सिर्फ प्रतिभास ही किया करता हूं। वही तो स्वरूप है। तो उस प्रतिभासको ही, उस जाननको ही ज्ञानमें लेवें काहेके द्वारा? इन्द्रियके द्वारा नहीं किन्तु ज्ञानसे। ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानके स्वरूपको ज्ञानमें लेवें, यह स्थिति बनाना चाहिए। इस स्थितिसे कल्पनाओंका एकदम विलय हो जायगा। कोई भी काम करें, उसे विधि रूपसे करना, इन्द्रियरूप काम अपने आप हो जायगा। जैसे लोग कहते हैं कि विषयोंसे हटो, पापों से हटो, इन कर्मोंसे हटो, तो इसके लिए क्या उपाय करना है कि इन सबसे हटा हुआ जिसका स्वरूप है ऐसे अविकार आत्मतत्त्व पर उपयोग रखना, ये सब अपने आप हटेंगे। कहते हैं कि अष्ट कर्मोंको जलानेके लिए मैं उद्यम करता हूं। अरे अष्ट कर्म हम सामने रखे रहें अपने उपयोगमें और फिर उनको जलानेका स्वप्न देखें कि मैं इन्हें जला दूंगा, दूर करुंगा। अरे जब परपदार्थोंका आश्रय ले रखा है तो उनके दूर होने की बात कहां रही? अष्ट कर्मोंको दूर करना है तो अष्टकर्मोंसे रहित ज्ञायकस्वरूप निज आत्मभगवानको उपयोगमें लेना होगा। इस विधिके प्रयोगसे परभावोंके निषेधका काम बन जायेगा। तो हमारी आदत दृष्टि ऐसी बन जाना चाहियें कि मैं क्षण-क्षणमें थोड़े ही प्रयास में एक ही झलकमें अपने अविकार आत्मस्वरूपको उपयोगमें ले सकूं। यह है अपने आपके गुंणोंके प्रति सच्चा वात्सल्य। अपने आपके बारेमें मनन करते जाइये कि यह मैं सर्व गतियोंमें रहा, पर किसी गति रूप नहीं बना। मैं उनसे निराला ही रहा। मैं अनेक भवोंमें चल रहा, पर किसी भव रूप नहीं बना। मैं उन सबसे निराला ही रहा। क्या रहा? यह चैतन्यमात्र। ज्ञानमात्र सबसे निराला। सब बाह्य परिग्रहोंके बीच भी पड़ा रहा मगर इनसे मैं निराला ही रहा। आज भी मैं इस देहसे निराला। इन बीती हुई बातोंसे निराला। मन, वचन, कायकी चेष्टावोंसे निराला। केवल ज्ञानमें ही आ सकने वाला यह मैं चैतन्यमात्र हूं। इसका किसी भी पर पदार्थसे रंच सम्बध नहीं, सो सबकी उपेक्षा करके अपने आपमे अनुराग होना, लीन होना यह है अपना वात्सल्य।

धर्मिवात्सल्यमें समताकी मुद्राकी व्यक्ति—ऐसा निजवात्सल्य रखने वाले पुरुष दूसरे धर्मात्माजनों पर सच्चा अनुराग रख सकते हैं, ऐसा बाहरमें विचार करें तो जानें कि भावी बलवान है, कर्मो के उदय हैं विचित्र। इन लोगोंसे क्या द्वेष करना। इनमें तो समता रखना और रत्नत्रयके धारी संत पुरुषोंमें अनुराग करना, प्रमोद करना यह कोई पक्ष नहीं किया जा रहा कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनोंसे उपेक्षा और ज्ञानी चारित्रधारी मोक्षमार्गी पुरुषोंके प्रति अनुराग, यह भी समता का ही रूप है। अज्ञानीजनों

में द्वेष नहीं किया और उनके सहज आत्मस्वरूपकी भावनाकी, इस ढ़ंगकी समता वहाँ जगी। यहां गुणीजनों में उस समान स्वरूपको देखकर और उसकी दृष्टि करनेसे जो उनमें विकास होता है, उनके प्रति जो अनुराग जगा वहां समता का यह रूप आया। ज्ञानी जीव की समता के ही ये सारे रूप हैं। जैसा कि दूसरी भावनामें बताया है—सबमें मैत्री, गुणियोंमे प्रमोद, दुखियोंमें कारूण्य और विरोधियोंमें माध्यस्थ ये चारों समताभावके रूप हैं। ऐसा समता का आदर करने वाले ज्ञानीजन अपने गुणोंमें प्रीति रखते हैं और रत्नत्रयधारी अन्य पुरुषोंमें प्रीति रखते हैं।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना॥ १८॥

सम्यग्ज्ञानकी प्रभावनामें वास्तविक प्रभावनाङ्गका पालन—सम्यग्दर्शनके ८ अङ्ग होते हैं, जिनमें अन्तिम अङ्ग है प्रभावना। धर्मकी प्रभावना करना प्रभावना अङ्ग है, उसका ही लक्षण यहां कहा जा रहा है। धर्म मायने क्या है? ज्ञान। आत्माका स्वरूप ज्ञान है और ज्ञानकी दृष्टि करना, ज्ञानका ही प्रचार करना, ज्ञानका प्रसार करना सो प्रभावना अङ्ग है। आजकल प्रभावनाके लिए जितनी बातें की जाती हैं रथ निकलना या समारोह करना आदि वे ज्ञानकी प्रभावनामें सहायक है तब तो प्रभावना कहलाता है, नहीं तो मन वहलाना उसका नाम है, प्रभावना नहीं। प्रभावना का लक्षण समंतभद्राचार्य कह रहे हैं। अज्ञानरूपी अंधकारके फैलावको हटाकर यथायोग रीतिसे जैन शासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है। ये समग्र संसारी जीव अनादिकालसे ही अपने धर्मको नहीं जान रहें। ये सब आत्म ही तो हैं। इनके आत्माका जो धर्म है सो ही इनका धर्म है। धर्म कहीं अलग-अलग नहीं होते। जैसे कि आजकल सम्प्रदायमें बंट गया है। यह इनका धर्म है वह उनका धर्म है। धर्म तो आत्माका होता है। और वह धर्म है ज्ञान। ये संसारी जीव अनादिकालसे इस ज्ञानस्वभावरूप धर्मको न जानकर संसारमें भटक रहे हैं। इनको इसका भी पता नहीं कि मैं कौन हूं। मेरा क्या स्वरूप है, मैं कहां था, कहांसे आया, कैसा हूं, कहां जाऊंगा, और जो जीवन चल रहा है इस जीवनमें मेरे को करनेका क्या काम था, क्या कर रहा हूं, यह कुछ पता नहीं है। बस जन्म लिया, पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगनेमें लग गये, विषयोंके साधन जुटानेमें लग गये और मरणकाल आ गया, मर गये, यहां का काम खत्म हुआ, अब अगले भवमें जायेंगे, यही चक्की आगे चलेगी, ऐसे ही भव-भवमें ये जन्म लेते फिरे। इन संसारी जीवोंको अपने आत्माका बोध नहीं हैं। इन्हें बोध मिले ऐसा उपाय बनायें, इसको कहेंगे प्रभावना। खाली धन वैभव, रथ सोना चांदी बड़े-बड़े ध्वजा पताका फहराना, बड़े-बडे जुलूस निकालना इसमें प्रभावना नहीं कहलाती, जिससे लोगोंको यह परिचय हो कि अपने आत्माका कल्याण तो जिनेन्द्र देवने बताया है जो जैन शासनमें कहा है और मार्ग का सही यहां परिचय मिलता। जन समूह सराह उठे कि धन्य है यह जैन शासन जिसमें संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय बताया है। यह बात दूसरोंके चित्तमें आ सके तब तो आपने प्रभावनाकी, नहीं तो प्रभावना तो दूर रही, उल्टी विपत्ति ही मोल ली। जब लोग देखेंगे कि इन जैनियोंका ऐसा वैभव सोना, चांदी रथके घोड़े। ऐसा जलूस, ऐसी सामग्री तो

लोग तो ईर्ष्या करेंगे, क्यों इनको ऐसा वैभव मिला, यह सोचकर वे उपद्रव ढायेंगे, तो यह कोई प्रभावना नहीं। हां ठीक यात्रा समारोह आदि भी है, मगर ज्ञान प्रभावनाके साथ ही ठीक है। यदि लोगों को अपने ज्ञानकी खबर मिले और उससे ही जैन शासनपर मुग्ध हो गये तो ये सब बाहरी समारोह उत्साह उसकी शोभा बढ़ा देंगे, पर ज्ञानकी प्रभावना रंच भी न हो तो ये सब कार्य प्रभावना के न कहलायेंगे।

अपने आचरण द्वारा अपनेमें व जनतामें धर्मप्रभावना—अब जरा अपनी भी करनी देखिये—यदि स्वयं जैन लोग अच्छे आचरण से रहने लगें, जैसे अभक्ष्य न खायें, रात्रि भोजन न करें, झूठ कभी न बोलें, दूसरे पुरुषों को न सतायें, और और भी जितने पापकार्य हैं उनसें बचे रहें, धनको दान में परोपकार में लगाते रहें तो इसमें भी प्रभावना बनती है और लोग सब कह उठेंगे कि धन्य हैं ये जैन शासन के भक्त लोग, जिनका ऐसा पवित्र आचरण हैं, ये कभी असत्य बोलते नहीं, दूसरों को सताते नहीं, पुण्योदय से परिग्रह जुड़ जाय, वैभव मिल जाय तो सबके उपकार में लगाते हैं। धन्य है यह जैन शासन। इसमें ऐसी ही शिक्षा बसी है कि लोग अच्छे कार्य करें। तो आप अपने आप अच्छे आचरण से रहें, यह भी प्रभावना अङ्ग है।

धर्मप्रभावनाके लिए अपने सदाचारकी व ज्ञानके प्रसारकी आवश्यकता—अब न तो खुद अच्छे आचरणसे रहें और न जनतामें ज्ञानका प्रचार करें, जहां ये दोनों ही कार्य नहीं हैं वहां प्रभावना नहीं हैं। यदि जैन शासनकी प्रभावना करना है, कल्याणके मार्गकी प्रभावना करना है तो ज्ञान का प्रसार कीजिए और अपने आपको अच्छे आचरणमें रखिये—यदि ये दो बातें हो सकें तो प्रभावना बनेगी। दोनों ही प्रभावनाके उपायोंमें ज्ञान प्रकाश का मूल आधार जहां ज्ञानकी बात मिले और समझमें आये उपदेश द्वारा, विद्वावों द्वारा ज्ञानका प्रचार होने पर जब समझमें आयगा जनताके कि अहो सत्य है, मैं देहसे न्यारा ज्ञानमय आत्मा हूं। मेरा मैं ही सर्वस्व हूं, मैं खुदके ज्ञान स्वरूपको, अवस्थावोंको करता रहता हूं, और इस ही ज्ञान के फल को भोगता रहता हूँ। अन्य किसी पदार्थ पर मेरा अधिकार नहीं है। अहो इस प्रकाशने मोह ही मिटाया और आत्माको व्याकुलतासे रहित कर दिया। यह बात जब ध्यानमें आयगी तो वे जैन शासनकी अनुमोदना करने लगेंगे। जैन शासन कोई सम्प्रदाय का नाम नहीं है। किन्तु जो आत्मा रागद्वेषको जीतकर जिन कहलाने लगे उसके द्वारा कहा गया जो मार्ग है उसका नाम जैन धर्म है। यों तो आप कोई भी शब्द रख लें उसीमें लोग पक्ष मान लेंगे। जैसे मानों धर्मका निष्पक्ष धर्म कह दिया हो वह भी लोग सम्प्रदायमें घसीटने लगेंगे। ये निष्पक्ष धर्मके मानने वाले हैं। तो यों तो कोई भी नाम रखकर सम्प्रदाय बनाया जा सकता है, किन्तु भाव देखना चाहिए कि जैन धर्मका मूल अर्थ क्या है? रागद्वेष मोह पर विजय पाने वाले सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया मार्ग जैन धर्म कहलाता है। सो ज्ञानके प्रसारमें आत्मदृष्टि बनना मूल आधार है, उसी से ही प्रभावना बनती है और जो लोग शुद्ध आचरणसे चलने लगें तो उससे भी आत्मस्वभावकी दृष्टि बनती है। जब जैनोंका आदर्श चरित्र देखें कोई कि इनका बोल कितना हितमित प्रिय है, इनकी चेष्टा सर्व प्राणियोंके लिए हितकारी है। इनकी दृष्टि कभी खोटी नहीं बनती है। ये व्रत, तप, नियम के बड़े सावधान हैं। जो व्रत, तप, नियम लिया अहिंसाव्रत आदिक तो प्राण जाने पर भी ये व्रतको छोड़ते नहीं हैं। और ऐसा है ही करीब करीब

कि जो व्रत नियम लेते है वह मरते समय भी इसका विकल्प नहीं करता और कह देता है वह रोगी कि रात्रिको मुझे कुछ न पिलाना, तो लोग जानते नहीं क्या कि जो व्रत नियम लेते हैं लोग वे पूरी शक्तिसे निभाते हैं। तो इन सब आचरणोंको देखकर उनका अनुमान न बनता होगा क्या कि कौनसा ज्ञानप्रकाश इन्होंने पाया जो अशुभ कर्ममें नहीं लगते और शुभ बातों में ही चलते हैं। वह है आत्मज्ञान। इस आत्मज्ञानका प्रसार होना यह ही वास्तवमें प्रभावना कहलाती है।

रत्नत्रय धर्म व उसकी प्रारम्भिक आधारशिला—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूपोंमें आदर्शकी बात है। श्रद्धान ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि सर्वज्ञ वीतराग आत्मा ही देव हैं। जो अल्पज्ञ हो, जो रागसहित हो वह तो संसारी जीव है, देव कैसे हो सकता? ऐसा दृढ़ श्रद्धा देखकर जनता कहने लगेगी कि इन जैनोंका कितना दृढ़ श्रद्धान है। किसी भी मुसीबतमें ये देवका श्रद्धान नहीं छोड़ते और यदि खुद ही श्रद्धानसे डिगा रहे जीव तो वह अप्रभावना कर रहा है। जो वास्तविक जैन शासनका भक्त है उसका यह चिन्तन रहता है कि मेरे द्वारा कोई ऐसा अपकृत्य न हो जिससे जैन शासनकी प्रभावनामें आंच आये। श्रद्धान उनका दृढ़ होता। जो संवेग वैराग्यको बढ़ाये, जिनमें आत्माका ज्ञान मिले, विषय कषायोंसे विरक्त करायें वे वचन, वे ग्रन्थ शास्त्र हैं। ऐसे ही शास्त्रोंको ये जैन लोग मानते हैं। जिनमें विषय कषायोंकी बात लिखी हो, पोषण करायी गई हो, भगवान का रूप दिखाया गया हो खूब जैसा चाहे खावो जैसा चाहे प्रेम करो, जैसा चाहे रागद्वेष करो, भगवान का चरित्र ही ऐसा दिखाया गया हो तो वहां वीतरागताकी शिक्षा कहां से मिल सकती है। धन्य है यह जैन शासन जिसमें छोटेसे लेकर बड़े-बड़े शास्त्र तक सर्व जगह एक इस वीतरागता की प्रेरणा दी है। गुरु वे जो विषयोंकी आशा न रखें, निर्ग्रन्थ हों, दिगम्बर हों, ज्ञानध्यान तपमें लीन हों, ऐसे पवित्र आत्माको पुरुषको ये जैन लोग गुरु मानते हैं। गाँजा भाँग पीने वाले और और प्रकारके भेष रखने वाले, रागवृत्ति पोषने वाले पुरुषोंको गुरु नहीं मानते। इनकी श्रद्धा अटल हैं ऐसे ही श्रद्धा की बात जानकर जनता जैन शासनकी ही तो प्रशंसा करेगी। इससे अपना श्रद्धान पवित्र होना चाहिये। ज्ञान भी इस जैन शासनमें इन जैनोंका कितना विशुद्ध है। तत्त्वज्ञानमें वस्तुस्वरूप मूलमें बताया है कि प्रत्येक पदार्थ जो भी है वह अपने आप पूरा है। और जो है उसमें स्वयं यह सामर्थ्य है कि प्रति समय कोई न कोई अवस्था बनाये रहेंगे। भले ही अशुद्ध स्थितिमें परद्रव्यका निमित्त पाकर उसकी दशा बनती है, पर बनी तो खुदके परिणमन से। कैसा वस्तुस्वातंत्र्य बताया है जैन शासन में कि कोई किसी का मालिक नहीं, कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसीका भोक्ता नहीं। सुख दुःख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुःख की खान। सो ऐसे दुःखों से बचने का उपाय कैसा सत्यार्थ बताया है जैन शासनमें कि निजको निज परको पर जान। फिर दःचाका नहिं लेश निदान। निज आत्माको जान लो, यह मैं हूं। बाकी जीवोंको और समस्त पुद्गलादिकको जान लो कि ये सब पर हैं। परसे मेरा लेन देन? निज स्वयं परिपूर्ण है, दुःखका कहीं भी काम नहीं है। जहां ऐसा तत्त्वज्ञान जिन गुरु मुखसे मिला करता हो उन गुरुवों द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना होती है और ऐसे गुरुवोंकी ही श्रद्धा है जैनोंकी, यह जानकर भी प्रभावना चलती है। तो प्रभावनाका आधार है ज्ञानका प्रचार करना जिससे जीवोंको आत्माका ज्ञान मिले बस यह कहलाया प्रभावना।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनंतमति स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता॥ १९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च बज्रनामा च शेषयोर्लक्षतां गतौ॥ २०॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्गोंका पुनः स्मरण—सम्यक्त्वके जो ८ अङ्ग कहे गये हैं (१) निशंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपगूहन, (६) स्थितिकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना, ये ८ अङ्ग नहीं है। ऐसा अपना व्यवहार नहीं बन पाता। इससे उल्टा व्यवहार चलता है तो समझिये कि उसके सम्यक्त्व नहीं है। जैसे शरीरमें ८ अङ्ग हों तब ही वह शरीर सही कहलाता है ऐसे ही सम्यक्त्वके ८ अङ्ग हों तो वह सम्यक्त्व सही कहलाता है, पूर्ण है। इन श्लोकोंमें वह उदाहरण बतलाया गया कि जो इन अङ्गों में प्रसिद्ध हुए हैं।

निःशंकित अङ्गके पालनमें अंजनचोरका उदाहरण—निशंकित अंगमें अंजन चोर प्रसिद्ध हुआ है। एक अंजन नामक चोर था, उसमें कोई ऐसी कला थी कि वह आँखमें आँज ले तो उसका शरीर दूसरोंको न दिखे, पर वह चोर वेश्यामें आशक्त था। तो वेश्या एक हठ पर उतर गई कि तुम अगर रानीके गले का हार लावो तो हमारे घर आ सकोगे। तो उसने प्रयत्न किया और रानी का हार ले आया। हार लेकर जा रहा था अंजन चोर तो किसी को दिखे नहीं किन्तु हार तो नहीं छुप सकता था, उस पर तो अंजन न चलेगा। तो वह चमकता हुआ हार सबको नजर आये। पुलिसने उसका पीछा किया, वह भगा और भागते-भागते आखिर जब थक गया तो एक जगह उसने देखा कि मुनि बैठा हुआ ध्यान कर रहे थे सो उन्हींके आगे हार फेंककर वह आगे भग गया। अब उन मुनिराजका क्या हुआ यह तो आप प्रभावना अंगमें जानेंगे। वह थे वज्रकुमार मुनि। उनकी बात प्रभावना अंगमें बतायी जायेगी। अभी निशंकित अंगकी बात देखिये—अब वह अंजन चोर अकेला रह गया, उसे पुलिस न पकड़ सकी, वह आगे भाग गया। बनमें एक जगह उसने क्या देखा कि कोई सेठ आकाशगामी विद्या सिद्धकर रहा था। वृक्ष पर १०८ सूतका झूला डालकर उस पर बैठा हुआ था और नीचे तलवार, भाला, बल्लम आदि अनेक नुकेले अस्त्र खड़े थे। एक बार णमोकार मंत्र पढ़े और एक लर काटे, दूसरी बार णमोकार मंत्र पढ़े फिर दूसरी लर काटे। यों १०८ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कुल १०८ लरे काटने पर आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होनी थी, सो यह क्रिया वह सेठ कर रहा था, मगर नीचे रखे हुए नुकेले शस्त्रोंकी वजहसे उसको उस रस्सीके फन्दे काटनेकी हिम्मत न पड़ती थी, सो कभी झूला पर बैठे कभी पेड़ की डाल पर बैठे। यह दृश्य देखकर उस अंजन चोर ने पूछा—भाई यह क्या कर रहे हो? तो उसने बताया कि हम आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहे हैं। तो अंजन चोर बोला—आप तो यह काम हमे दे दीजिए।··· ठीक है ले लो। पर हमें कैसे कैसे क्या-क्या करना पड़ेगा?··· एक मंत्र है णमोकारमत्र उसका उच्चारण करना होगा और प्रत्येक बार उच्चारण करके एक-एक काटना होगा। अन्तिम लर कटने पर वह विद्या सिद्ध हो जायगी।··· अच्छा तो मंत्र कौन सा है?··· णमो अरिहंताणं,

णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमोलोएसव्वसाहूणं।··· अच्छा तो ठीक है, इस मंत्र को पढ़कर हम वह विद्या सिद्ध करेंगे। आखिर मंत्र पर सच्ची श्रद्धा रखकर और निशक होकर उस मंत्रकी आराधना करना शुरू कर दिया। एक बार मंत्र पढ़े और एक लर काटे, यही क्रिया चालू रही। थोड़ी ही देरमें वह मंत्र तो सही सही याद न रख सका, पर श्रद्धा सही बनी रही, सो बोलने लगा—आणं ताणं कछू न जाणं, सेठ वचन परमाणं। सो आणं ताणं बोलता जाय और रस्सी की एक एक लर काटता जाय। जब सारी रस्सी कट गई सिर्फ एक लर रह गई, और वहां णमोकार मंत्र की आराधना किया तो अन्तिम लर के कटते ही आकाशगामी विद्याने उसे झेल लिया, और प्रकट होकर कहने लगी विद्या कि तुम जो चाहो सो आज्ञा करो हम करने को तैयार हैं? तो वहां उस अंजन चोरने कहा कि हमे तो जिस मंत्र की वजह से यह विद्या सिध्द हुई उसके शासनके आयतनोंके दर्शन करावो। आखिर उस विद्याने अंजन चोरको अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वंदना कराया। अंजन चोरको आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई। तो देखिये यह है निशंकित अंगका अनूठा उदाहरण। अंजन चोरको णमोकार मंत्र पर दृढ़ श्रद्धान था और उसे किसी प्रकारका रंच भी भय न था।

निःकांक्षित व निर्विचिकित्सत अंगके पालनमें प्रसिद्ध अनन्तमती व उद्यायनराजाका उदाहरण—इस णमोकार मंत्रका अचिन्त्य माहात्म्य है। इसकी श्रद्धा होने पर पाठ करनेसे और विशेष भी नहीं तो भूत प्रेतादिकका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता यह तो निश्चित ही है और और भी कितनी ही बाधायें विनशती हैं। इस णमोकार मंत्रका चिन्तवन करनेसे कितने ही आधि व्याधि रोग नश जाया करते हैं। कितने ही पुराणपुरुष ऐसे हुए जो कि इस णमोकार मंत्रके दृढ़ श्रद्धानके बल पर तिर गए। अनन्तमती एक महापुरुषकी पुत्री थी। उसने अनेकों वर्ष हरण आदि संकटोंमें भी अपने आपको शील व तपश्चरणमें ही लगाया, उपसर्ग आनेपर भी उसने अपने दृढ़ श्रद्धानको न छोड़ा, जिसका फल यह हुआ कि उसकी भवमें देव रक्षा करते रहें। कितने ही लोगोंने उसे अनेक प्रकार के लालच दिये मगर उसे किसी तरहकी विषयाकांक्षा नहीं उत्पन्न हुई। यह घटना सम्यक्त्वके निःकांक्षित नामक दूसरे अंगमें बहुत प्रसिद्ध हुई। तीसरे अंगमें उद्दायन राजा बहुत प्रसिद्ध हुए। तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा अंग। मुनि, साधुवोंकी सेवा करते हुए में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा है। उद्दायन राजा साधु, मुनि तथा साधर्मीजनों का बड़ा सेवक था। उनकी सेवा करनेमें रंच भी घृणा न करता था। उसकी चर्चा स्वर्गोंमें देव भी किया करते थे। सो एक बार एक देवके मनमें आया कि उद्दायन राजाकी परीक्षा करना चाहिए कि जैसी बात प्रसिद्ध है वैसा है अथवा नहीं, सो एक मुनिका भेष धरकर चल दिया परीक्षाके लिए। राजा उद्दायन तथा उसकी रानी दोनोंने चर्या के समय उन्हें पड़गाह लिया और विधि पूर्वक आहार दिया। आहार हुए बाद उस मुनिने कय कर दिया, उसका सारा शरीर कय से सन गया, वहां उद्दायन राजा तथा उसकी रानी इन दोनोंने बिना किसी प्रकारकी घृणा किये उनका सारा शरीर पोंछ कय साफ किया। बस क्या था वह परीक्षामें सफल हुए। वह देव आखिर परीक्षा करने ही तो आया था, सो वह यही कहकर गया कि धन्य है तुम्हारे श्रद्धानको। हमने जैसी तुम्हारी प्रशंसा स्वर्गोंमें सुनी था। सचमुच वैसा ही देखनेको मिला। आखिर वह देव राजा उद्दायनसे क्षमा याचना करके स्वर्गोंमें पहुँचा और वहां

सभामें पहुँचकर बीती हुई सारी घटना सुनायी और कहा कि सचमुच राजा उद्दायन साधुसंतोंका परमभक्त है, वह उनकी सेवा करते हुए में रंच भी ग्लानि नहीं करता। तो यह सम्यक्त्वका तीसरा अंग हुआ।

आत्माके सहज स्व—अष्ट अंगों सहित जिनके सम्यग्दर्शन होता है उनका ही सम्यक्त्व प्रशंसनीय है और वह ही मोक्षमार्गमें आगे बढ़ सकता है। मोक्षका मार्ग अर्थात् उपाय संसारके संकटोंसे छूटनेके उपायका मूल सम्यक्त्व है। किसे छूटना है, क्यों छूटना है, इस बातका जिनको परिचय नहीं, उनका मोक्ष कहना केवल शब्द मात्र है। छूटना किसको है? यह जो मैं आत्मा अपने स्वरूपास्तित्वमात्र हूँ पर अनादिसे कर्म सम्बंध और शरीर सम्बंध चले आ रहे हैं जिससे हमारी विभाव पर्यायें चल रही हैं। आकारकी भी विभाव पर्याय और भावोंकी भी विभाव पर्याय और उस अवस्था में मैं दुःखी रहता हूं। यह दुःख मेरा स्वरूप नहीं है। यह व्यर्थ ही लाद लिया गया है। इस दुःखसे मुझे छूटना चाहिए। किसे छूटना चाहिए? जो अपना स्वरूपास्तित्वमात्र है अर्थात स्वरूपतः यह अन्य पदार्थसे मुक्त ही है इसलिए यह पर्यायरूपमें भी मुक्त हो सकता है अर्थात सांसारिक अवस्थावोंसे मुक्त बन सकता है।

वस्तुके साधारण गुणोंसे वस्तुकी व्यवस्थितता—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वको लिए हुए है अन्यथा सत् ही नहीं रह सकता। यदि कोई पदार्थ दूसरेसे सत्त्व उधार ले तो वह सत् ही नहीं रह सकता। स्वयं सत् हैं सर्व पदार्थ। प्रत्येक जीव जो है वह पूरा है, स्वतन्त्र सत् है। प्रत्येक अणु अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वसे सत् है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य प्रत्येक कालद्रव्य ये सभी अपने स्वरूपास्तित्त्वको लिए हुए हैं। मेरा स्वरूप है चेतन। मैं अस्तित्त्वसे सम्पन्न हूं और अपने ही साधारण गुणोंसे देख लो तो सारी व्यवस्था मेरी मुझमें बनी हुई हैं, जैसे कि सर्व पदार्थोंकी व्यवस्था उनकी उनमें बनी हुई है। मैं हूं अपने स्वरूपसे हूं, पररूपसे नहीं हूं, यह वस्तुत्व गुण हैं कहीं मैं सर्वात्मक नहीं हो गया, किन्तु अपनेही स्वरूपसे हूं परस्वरूपसे नहीं हूं। यहां स्याद्वादकी भी परख करना। कुछ थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे सुननेकी बात है। मैं स्वरूपसे हूं, पर रूप से नहीं हूं, यह कहलाता है स्याद्वाद मैं मैं हूं पर नहीं हूं यह स्याद्वादका रूप नहीं है। फलित अर्थ है यह कि मैं मैं हूं मैं पर नही हूं, पर स्याद्वादका रूप यों ही नहीं हूँ। स्याद्वाद एक वस्तुमें प्रतिपक्ष धर्मका अवगाह है, अस्तित्व है। नास्तित्व है। मैं ही हूं और मैं ही नहीं हूं, दोनों बातें आती हैं। मैं स्वरूपसे हूं पररूपसे नहीं हूं, तो मुझमें अस्तित्व भी बसा है और नास्तित्व धर्म भी बसा हुआ है। उसकी अपेक्षा ये दोनों हैं। अब इस ही स्वरूपमें निरखते जाइये यह है, अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं, पर इतनेसे अभी सत् न कहलायेगा। है तो सत् मगर उसका परिचय नहीं बन पाया। इतना ही नहीं है कि वह है, वह निरन्तर परिणमता रहता है। ऐसा परिणमते रहनेकी बात न निरखी जाय तो यही तो नित्यन्त एकान्त है। और सर्वथा नित्य कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। जो है वह कोई न कोई अवस्थामें रहेगा और अवस्थायें एक ही किसी की नहीं रहती, चाहे शुद्ध द्रव्य भी हो और शुद्ध अवस्था ही निरन्तर चल रही है सिद्धमें, धर्मादिक द्रव्योंमें, तो भले ही सिद्ध अवस्था चल रही है पर प्रतिक्षणकी शुद्ध अवस्था उस क्षणकी शुद्ध अवस्था है। वह अवस्था अगले क्षणकी नहीं है। तो यों सत्त्वका परिचय नहीं बना, परिणमता रहता है तो किसी रूप परिणमता रहे। जो चाहे जो कुछ बन जाय। फिर तो एक कुछ ईश्वरसा रह गया कि किसी रूप बना

रहे। सो नहीं है सत्। अपने रूपमें परिणमेगा, पररूपसे न परिणमेगा, यह व्यवस्था अगुरुलघुत्व करता है। अपने आपमें निहारते जाइये मैं हूं, अपने स्वरूपसे हूं, पररूपसे नहीं हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूं, अपने स्वरूपसे परिणमता हूं, पररूपसे नहीं परिणमता। इतना सब कुछ कहने सुनने बताने के बाद भी कुछ अभी एक वस्तु सो सामने नहीं आयी। कैसे आये? जब तक प्रदेशात्मक रूपसे वस्तुको न समझा जाय तब तक सामने रहेगा क्या? यह तो फिर एक तरह की कल्पना भर रह जायगी। तो प्रदेशवत्व गुणसे वस्तुका सीधा स्पष्ट परिचय हो जाता है। प्रदेशवान है सर्व पदार्थ। चाहे एक प्रदेश हो वह भी प्रदेशवत्व सम्पन्न है, चाहे बहुप्रदेशी हो। इतने तक तो वस्तुका परिचय बना, लेकिन एक विशेषता यह बतायी जा रही है कि ज्ञेय सत् ही होता है, असत् नहीं होता। जो असत् है वह ज्ञेय कहां से हो? ज्ञानमें ज्ञेयाकार कहां से होगा? आकार (प्रदेशत्वगुण)

प्रमेयत्व गुणकी सार्थकताके विषयमें चर्चा—प्रमेयत्वगुणके विषयमें लोग कभी शंका करते हैं कि वस्तु है जान गये, पर उस वस्तुमें प्रमेयत्व गुण माननेकी क्या आवश्यकता है? आवश्यकता क्या? यही तो धर्म है कि जो सत् है सो ही प्रमेय होता, असत् प्रमेय नहीं होता। जब कभी किसी असत्के बारेमें बात करते हैं, जैसे गधेकी सींग, खरगोशके सींग, बंध्याका पुत्र, यों बात तो करते हैं ना, और हैं असत्—मगर वहां पर भी सर्वथा असत् की बात है ही नहीं। कुछ है। बंध्या है कि नहीं, पुत्र भी आदमियोंके होते कि नहीं, अब उनका एक मेलजोल करके बात कही जा रही है। जो असत् है वह ज्ञेयाकार रूपमें नहीं आ सकता। गधेके सींग नहीं होते पर गधे और सींग ये दोनों कहीं तो होते हैं। गधे भी होते हैं और सींग भी होते। अगर ये कहीं पाये न जाते तो ये शब्द कहां से निकलते? गधे भी होते, सींग भी होते तब ही तो उसकी बात करते हैं। पर गधेमें सींग यह बात तो असत् रूपसे कही जा रही है? शब्द जितने हैं उनका वाच्य है। भले ही कोई निषेध रूपसे रहे। जैसे एक असत् शब्द ही लो यह असत् जब कुछ है ही नहीं तो यह शब्द कहांसे आया? तो सत् तो है, उस सत्के निषेध रूपमें कह रहें हैं। तो वस्तुमें प्रमेयत्व गुण होता है इसके मायने है कि सत् ही प्रमेय होता है, असत् प्रमेय नहीं होता।

आत्मस्वरूपपरिचयके सम्बन्धमें प्रथम साधारण ज्ञातव्य—अपने आपके स्वरूपके परिचय की बात कही जा रही है। ऐसा यह मैं प्रदेशवान अखण्ड अपने स्वरूपास्तित्वमय निरन्तर परिणमता रहने वाला एक चेतन पदार्थ हूं। इसका किसी भी अन्य सत्के साथ क्या सम्बंध है? भले प्रकार निरखिये अपने पर कृपा करते हुए, कल्याणबुद्धि रखते हुए अपनेको संकटोंसे बचानेके उद्देश्यसे सब मनन करते हुए निरखिये तो सही कि यह मैं जो स्वयं सत् हूं इस सत्का किसी अन्य सत्के साथ संम्बंध क्या कि वह मेरा कुछ कहलाने लगे। भलेही निमित्त नैमित्तिक योगसे कर्म साथ लगे। शरीर साथ है तिसपर भी एक सत्का दूसरा सत् बन तो नहीं सकता। तो मेरा जगतके किसी भी पदार्थके साथ स्वामित्व सम्बंध नहीं है, और मैं किसीको परिणमा दूं, ऐसा भी कर्तृत्वसम्बंध नहीं है। निमित्त नैमित्तिक योगसे होता क्या है कि योग्य निमित्तके सान्निध्यमें उपादान अपनेमें अपनी कला प्रकट कर लेता है। तो वस्तुतः वह प्रभाव उपादानका है, पर उपादान अपने इस प्रभावको इस निमित्त सन्निधानके

बिना प्रकट नहीं कर पाता, जैसा जो प्रभाव हो, तब उसके निमित्त का प्रभाव है यह ऐसा आरोप किया जाता है, पर यह भी नहीं है कि निमित्त सन्निधानके बिना उपादानमें विकार होता है।

निमित्तनैमित्तिकभावप्रभावमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यका स्पष्ट दर्शन—बात यह कही जा रही है कि प्रत्येक वस्तु अपने आपमें अपना परिणमन करता चला जा रहा है। जैसे आप किसी सड़कसे चले जा रहे हैं, सड़क पर कोई वृक्ष है उसके नीचेसे भी जा रहे हैं तो आप छाया रूप बने। आपको कुछ शीतलता भी आयी, आगे बढ़े, धूप मिली, गर्मी मिली, छाया मिली, यह सब बात आपकी आपमें ही होती चली आ रही है मगर उस उस निमित्त सन्निधानमें आपका वह ठंड गर्मी आदिकरूप वहां परिणमन चलता जा रहा है। हां आपके शरीरके परिणमनको वृक्षने अपनी जगहसे हटकर आपमें लगकर नहीं किया। पर उस सन्निधान बिना भी बात नहीं बनी, पर परिणमन देखो सबका स्वरूप अपने-अपनेमें है परिणमन परिणमन अपने अपने में है, वृक्ष अपनेमें परिणम रहा, यह मनुष्य शरीर अपनेमें परिणम रहा और निमित्त नैमित्तिक योग भी चल रहा। जिसे कह सकते कि निमित्त नैमित्तिक योग और वस्तुस्वातंत्र्यमें दोनों एक साथ रहें हैं। रहो फिर भी वस्तुके स्वरूपको देखो वह अपने द्वारा अपनेमें अपने लिए अपनेसे परिणम रहा है। किस योगमें परिणम रहा, वह भी एक चर्चा है, पर केंवल एक वस्तु को निरख करके तो देखिये उसका सर्वकुछ अपने आपमें चल रहा है। जब मैं किसी परपदार्थको कुछ परिणमाता भी नहीं, किसी का मैं कुछ करने वाला भी नहीं। भले ही आप अपने बच्चेकी बहुत बहुत सेवा करें और उसे देखकर अपना महत्त्व अनुभव करें, लेकिन वहां क्या है कि उस पुत्रका आपसे अधिक पुण्य है। जिस पुण्यके निमित्तसे आपको नौकरकी तरह बनकर सेवा करनी पड़ती है, पर करने वाला कौन किसका है? तो करने का भी सम्बंध नहीं है और परमार्थतः भोगनेका भी सम्बंध नहीं है। यह जीव भोगता किसको है? अपने अपके परिणमन को भोगता है। परिणमन मुख्य है ज्ञान परिणमन। जैसा ज्ञान होता है वैसे ज्ञानको भोगता है और उस ही के अनुरूप दुःख सुखका अनुभव चलता है। किसी बाहरी पदार्थसे दुःख आता है क्या? आ ही नहीं सकता। बाहरी पदार्थके बारेमें कल्पनायें करते हैं, उस ज्ञानकी एक ऐसी दशा बनी है कि अपने आपके परिणमनमें दुःखका अनुभव चल रहा है। किसी अन्यसे मुझमें सुख आता क्या? सुख भी नहीं आता, किन्तु अपने आपके ही ज्ञानको इस दिशामें बढ़ाया जा रहा कि दूष्ट बुद्धिकी कल्पनायें बना बनाकर अपनेको सुखका अनुभव करता है, किन्तु उस समय वे बाह्यपदार्थ, नोकर्म विषयभूत हैं इसलिए उनका नाम लदता है कि मैंने इसे भोगा, मैंने इसका सुख पाया।

उपादान, निमित्त व आश्रयभूत कारणके विषयमें प्रकाश—बात यहां यों जानना कि जितने भी दुःख सुख आदिके परिणमन हो रहे हैं उनमें तीन प्रकारके कारणोंकी बात समझना है—(१) उपादान कारण, (२) निमित्त कारण और (३) आश्रयभूत कारण। जैसे किसीको देखकर सुख हुआ तो उस सुख रूप कार्यका उस सुखानुभव का उपादान कौन? यह ही जीव, जो सुखरूप परिणमा। और निमित्त कारण क्या? साता वेदनीयका उदय आदिक। यहां इतनी सावधानी रखना कि जगतमें ये जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं स्त्री पुत्र मित्र धन वैभव आदिक ये मेरी परिणतिमें निमित्त कारण नहीं कहलाते।

निमित्त कारण तो केवल कर्मकी दशा है। यह अन्तर डालें तो बहुत सी समस्यायें सुलझ जायेंगी। हमारी स्थितिमें, दशामें केवल कर्म दशा निमित्त कारण होती है। जगतके ये बाह्य पदार्थ मेरी दशामें, अवस्थामें निमित्त कारण नहीं होते, क्योंकि इसका कारण क्या है कि निमित्त कारण वे कहलाते हैं कि जिनके कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो। होता तो है अत्यन्ताभाव वाला भिन्न पदार्थ। मगर जिसको जिस कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंधका अर्थ क्या? जिसके होनेपर विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो, यह नियम जहां बना हो उसे कहते हैं निमित्त कारण। ये जगतके बाहरी पदार्थ ये निमित्त कारण नहीं हैं, क्योंकि इनके होने पर विकार हों और न होने पर विकार न हों, ऐसा निमित्त पाया जाता। घर गृहस्थी छोड़कर साधु हो गया कोई और कल्पनायें कर करके विकार कर रहा, सुख हो रहा, दुःख हो रहा। सामने चीज नहीं है, पर चल रहा है। एक बात और समझें। जैसे एक दृष्टान्त दिया जाता है कि वेश्यामरी, तो उसको जलानेके लिए लोग श्मशान लिए जा रहे थे। उसको जब किसी साधुने देखा तो उसके ये भाव हुए कि देखो इस बेचारीने बड़ा दुर्लभ मानव जीवन पाकर व्यर्थ ही खो दिया, एक कामी पुरुष जो उसमें आसक्त था, देखा तो उसके ये भाव हुए कि यह वेश्या यदि कुछ दिन और जीवित रहती तो मुझे इससे और भी सुख मिलता, एक कुत्तेने उस वेश्याके मृतक शरीर को देखा तो उसके ये भाव बने कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जलानेके लिए ले जा रहे, यदि इसे यों ही छोड़ देते तो हमारा कुछ दिनों का भोजन बनता। अब देखिये अगर वह वेश्या शरीर विकारभावका निमित्त होता तो सबके एक सा ही विकारभाव होना चाहिए था। यहां फर्क क्यों आया? फर्क यों आया कि मुनिराजका तो निमित्त कारण और तरह का था, कषायोंका क्षयोपशम, ज्ञानावरणका क्षयोपशम जिसके कारण वैराग्यमय वातावरण बना। तो उनको निमित्त कारण कर्मोंका क्षयोपशम रूप था इसलिए उसके ऐसे ही परिणाम हुए देखा वेश्याको और उसके आश्रयभूत कारण करके ही समझा गया मगर निमित्त कारण इसका और प्रकारका है। तो कामी पुरुषका निमित्त कारण और प्रकारका है। उसके है पुरुषवेदका उदय, और उसकी जो जो भी चीजें, वे सब कर्मदशायें उसके लिए निमित्त कारण थीं तब उसके अनुरूप उसका भाव बना और कुत्ता आदिकका क्या निमित्त कारण था? असाता वेदनीयका उदय, क्षुधा वेदनीयका उदय। तो दशा थी कर्म की इसलिए उसके अनुरूपभाव बने और तीनोंके लिए आश्रयभूत कारण वेश्या रही। तो ये जगत के जितने बाह्य पदार्थ हैं इनको भी हम रूढ़िसे निमित्त बोलते हैं और शास्त्रोंमें भी निमित्त कहते हैं, पर अर्थ यों समझना चाहिए कि यहां आश्रयभूत कारण तो निमित्त शब्दसे कहा है या वास्तविक कारणको निमित्त रूपसे कहा है?

आश्रयभूत कारणके सद्भाव असद्भाव आदिसे सम्बन्धित कुछ तथ्योंका प्रकाश—अब आश्रयभूत कारण की बात देखिये—विकार होते हैं जीवमें, उस प्रकारके मोहनीयकर्म के उदयका निमित्त पाकर। किन्तु यदि कोई विवेकी है और अपने उपयोगको आत्माके अनुभवकी ओर लिये जा रहा है या कोई जाप सामायिक आदिक धार्मिक कार्योंमें चल रहा है तो उदय तो बराबर निरन्तर चल रहा है मगर आश्रयभूत कारण उसके लिए धन वैभव मित्रादिक नहीं बन रहे, क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है। तो आश्रयभूत कारण न होनेसे विकार तो होंगे मगर वे अव्यक्त होंगे और आश्रयभूत कारण उपयोगमें

लिया जाय तो वह उपयोग व्यक्त हो जायगा। तो यहां यह बात जानना कि जो यह कहने की एक आदत है कि निमित्त कारण कुछ नहीं है, उसकी आवश्यकता क्या? देखो बिना निमित्तके भी कार्य हो गया। तो वास्तविक दृष्टिसे कथन करें तो यह बात नहीं कही जा सकती। होता क्या है कि निमित्तको तो झुठलाते हैं और उदाहरण देते हैं आश्रयभूत कारणोंका। देखो वह वेश्या सामने आयी और मुनि महाराजके विकार न जगा तो निमित्त तो कुछ न रहा। और ये बाहरी समस्त पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाते हैं। ये निमित्त कारण नहीं कहलाते। इन्हें नोकर्म भी कहते हैं। इनका आश्रय करके इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको पाकर कर्म अपनेमें एक विशेष रूपसे प्रतिफलित होते हैं।

निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयकी प्रयोजकता—यह बात चल रही है एक आत्मस्वरूपकी इस निमित्तनैमित्तिककी चर्चासे आपको आध्यात्मिक लाभ क्या होता है? ये जो विकार जगे ये मेरे स्वभावसे नही जगे। ये निमित्त पाकर जगे, और निमित्त पाना भी किस तरहका होता इस विकारके प्रसंगमें कि उन कर्म प्रकृतियोंमें स्वयं अनुभाग पड़ा हुआ है। कबसे पड़ा पड़ा है? जबसे बंधा हुआ था। बंधके कालमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग हुआ है। सो जब कर्मोदयवश या उदीरणावश आत्मासे निकलते है तो जैसे किसी दुष्टको घरमें बसा लिया जाय तो जब तक वह घर में रहेगा तब तक आप पर उपद्रव न करेगा और जब वह मौका पायेगा घरसे बाहर निकलनेका तो वह कुछ भी दुष्टताका व्यवहार कर सकता है। यह करीब-करीब ऐसी बात है, ऐसे ही ये कर्म जब तक एक सत्त्वमें पड़े है तब तक इनका फल नहीं भोगनेमें आता, ये कर्म न निकलते और सत्तामें पड़े रहते तब तो अच्छी बात होती। हमको दुःख ही न होता। पड़े रहेंगे सत्तामें, पर ऐसा होता कहां है? जो आ रहा सो जायगा। तो जब वे कर्म विदा होते हैं तो उनका अनुभाग प्रस्फुटित होता है, फूटता है याने उनमें विकृति जो अनुभाग है वह एकदम फूल जाता है, बिगाड़ हो जाता। और उसका प्रतिफलन चूंकि चेतना है आत्मा, इस उपयोग भूमिमें आता है, आक्रान्त हो गया यह और उस समय यह विचक गया, स्वभावसे हट गया, उपयोग बदल गया, परकी ओर चला गया, यों दुःखी होता है। तो जब यह ज्ञानमें आयगा कि यह तो प्रतिफलन है तो यह कर्मके उदय का प्रतिफलन है। मेरे स्वभावमें कष्ट नहीं, मेरे स्वभावमें विकार नहीं। मैं तो अपने स्वरूपास्तित्वसे अपने चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। इसका जिस ज्ञानी सतने परिचय पाया उसको जगतसे विविक्तता आयी।

अन्तस्तत्त्वकी रुचिका प्रभाव—मैं मैं हूं। ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं है। कोई मुझमें परिणमन करता नहीं है। निमित्त नैमित्तिक योग है। वही तो संसार है, वही तो सारी व्यवस्थायें चल रही हैं। निमित्त नैमित्तिक योग समझने से भी लाभ तो मिला, तथ्य समझे तो सही। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अपने स्वभावरूप रहूंगा, मैं इन प्रतिफलनोंमें उपयुक्त न होऊंगा। ऐसा जानने वाला अंतस्तत्त्वका रुचिया संत अपनी ओर आता है। आऊं, उतरूं, रमलूं। ये इसमें स्थितियां बनती हैं। कहां से आऊं? जहां भटक गये वहां से लौटकर आऊं। कहां भटक गये थे? जगतके इन सर्व बाह्य पदार्थोंमें, वहां से लौटकर आऊं। उतरूं जो मेरा स्वरूप है, ज्ञानभाव है, मैं अपने ज्ञानस्वरूपमें उतरूं। ज्ञानस्वरूपको जानूं, रमलूं और इस ही ज्ञानस्वरूपमें मैं रम जाऊं। ये तीन बातें—ज्ञानमात्र,

ज्ञानघन और आनन्दमय इन तीन विशेषणोंके मननसे सम्बंध रखती हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं, इन इन रूप नहीं हूं। मात्र केवल ज्ञान हूं इन बाहरी पदार्थोंरूप नहीं। ज्ञानमात्र विशेषण द्वारा समस्त बाह्य पदार्थोंसे हटकर मैं अपनी ओर आऊं और फिर करने क्या लगा? ज्ञानघन विशेषणके माननसे इस अपने आपके स्वरूपमें उतरा मायने उस ज्ञानस्वरूपको ही जानने लगा, जानता रहा, इसीमें बर्तता रहा और आनन्दमय वह दशा कहलाती है जहां ज्ञानघनका भी विचार नहीं, मनन नहीं। भानहोकर उस विकल्पसे हट गया, वहां आनन्द प्रकट होता है, वही रमण होता है। तो आनन्दमय इस विशेषणके मननके साथ यह निर्विकल्प होकर अपनेमें रमता है, ऐसी अपने आपमें अपनी क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ यह ज्ञानी संत प्रसन्न रहा करता है। उस ही सम्यक्त्वकी बात यहां चल रही है। उस सम्यक्त्वके ८ अंग बताये जा रहे हैं उसमें किस अंगमें कौन प्रसिद्ध हुआ उनके सम्बंधमें यह श्लोक चल रहा है।

स्वभावविमुख व परभावोन्मुख मोही जीवोंके जीवनकी व्यर्थता—जीवनमें रत्नत्रय नहीं पाया तो यह जीवन भी बीते हुए अनन्त भवोंकी तरह व्यर्थ है। मानो लोकके वैभव कितने भी मिल गए, बड़े राजपाट मिल गए, बहुत बडे धनी हो गए, किन्तु एक अपने आपका पता न पा सके, फिर यह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने आप का कुछ भी भाना करके दुःखी रहा करता हैं। मैं कौन हूं इसका परिचय होना बहुत जरूरी है। मैं हूं, स्वयं हूं, और चैतन्यस्वरूप हूं। मैं जो कुछ अपने आपमें हूं सो केवल प्रतिभास मात्र हूं, उसमें विकार का काम नहीं। स्वभाव अविकार है, स्वभाव केवल जाननेका है, कोई कष्ट नहीं। मेरा स्वभाव परिपूर्ण है—अधूरा नहीं हूं मैं जो कि कुछ करनेको पड़ा हो अपनेमें जिससे कि मैं पूरा बनूं, ऐसा कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वरूपसे पूरा हूं और जब स्वयं मात्र जाननहार हूं, ऐसा मेरा निजका स्वरूप है, पर अनादिकालसे कर्मबंधनके कारण कर्मका विपाक आक्रमण करता है उससे दब जानेके कारण मैं अपने को न जान सकूं और बाहरमें लगा रहूं तो यह तो अपने जीवन को खोना है। संसारका सुख केवल कल्पनाका सुख है, वास्तविक सुख नहीं है, तब ही तो संसार का सुख भोगकर भी यह जीव तृप्त नहीं हो पाता, बल्कि बादमें पछताता है यदि संसारमें वास्तविक आनन्द होता तो यह तृप्त रहता और सदा रहता, कभी व्याकुल न होता। तो संसारके ऐसे उतार चढ़ाव हैं कि कभी सुख कभी दुःख, कभी लोगों की दृष्टिमें बड़ा ऊँचा, कभी अत्यन्त गिरा हुआ ये सब नटखट चलते हैं। तो इन बाहरी पदार्थोंके लगावसे लाभ क्या है? लाभ है अपने आपकी समझमें। मर गये, इस भवसे गये, यह अकेला गया, इसके साथ कुछ जाता है क्या। फिर क्यों इन बाहरी पदार्थोंमें इतनी आसक्ति बनाते मेरा मैं हूं, मेरा मैं शरण हूं, मेरा मैं महान हूं। किसकी छायामें में जाऊं? भगवानकी भक्तिकी छायामें जाने का अर्थ है अपने आपके स्वरूपकी छायामें जाना, पर दुनियाके लोगोंकी छायामें जानेका क्या अर्थ निकल सकेगा? वह सब विडम्बना है। तो एक बार हिम्मत करके जिसे कहते कि एक झिटका देकर इन सबसे निराला ज्ञानघन यह मैं आत्मा हूं, इसकी दृष्टि एक बार तो पालें। आपके पड़ोसी के लिए आपके बच्चे पर हैं। और कदाचित मान लो आप इस भवमें न होते, किसी और जगह होते तो ये आपके कुछ लगते थे क्या? कल्पनामें भी कुछ न थे। तो यह सब व्यर्थकी माया है। ये व्यर्थके झुकाव, व्यर्थके लगाव खुद को परेशान कर डालते हैं। इन सुखोंसे तो दुःख अच्छा है जिसमें

एक फैसला बना हुआ है, पर इस सांसारिक सुखमें तो धोखा है। क्षोभ है, पापका ही बंध है। तो इससे उपेक्षा करके कुछ अपने आत्माके ज्ञानके अभिमुख होना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी निःशंकता, निःकांक्षितता व निर्विचिकित्सताका स्मरण—जिनको आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ उन्हें कहते हैं सम्यग्दृष्टि जीव। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता है। क्या होगा मेरा? यह उसको शंका नहीं रहती। सब मालूम है उसे कि मेरा क्या होगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूं और ज्ञानका परिणमन करता रहूंगा। यह मेरा होगा। पूरा तो पता है ज्ञानीको, वह घबड़ायगा क्यों? वह बाहरी चीजोंको तो अपनी कुछ समझता ही नहीं है। वह जानता है कि ये तो सब बाहरके परिणमन हैं। ज्ञानीको पूरा पता है कि मेरा क्या होगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानका परिणमन होगा, बस यही चलता रहेगा। ज्ञानीको शंका नहीं रहती। ज्ञानीको किसी प्रकारका भय नहीं रहता। यह बात सब निशंकित अंगमें कही गई है। और उसमें प्रसिद्ध हुआ अंजन चोर। उसकी भी बात आप सब जानते हैं। ज्ञानी जीवको बाह्य पदार्थोंमें इच्छा नहीं रहती, इसका नाम है निःकांक्षित गुण। धर्म धारण करके तो इच्छा रहती ही नहीं है किसी सांसारिक सुख पानेकी। कभी अपने आप पर तीव्र पापकर्मका उदय आ जाय और बड़ी विपत्तिका सामना करना पड़े तो ज्ञानीजीव उस खोटी दशाके बीच भी अपने ज्ञानको, अपने मन को नहीं गिराता। वहां साहस बनाता। आत्माकी शक्ति घटाकर वह दुःखी नहीं होता। इसे कहते हैं सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सित अंग।

सम्यक्त्वके अमूढ़दृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानीकी अमूढ़दृष्टिका दिग्दर्शन—चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि अंग, मुग्ध न होना। चाहे खोटे तापसी जैसा चाहे अपने आपको देव मानने वाले लोग कैसा ही अपना प्रभाव दिखायें किन्तु वह ज्ञानी जीव उस चमत्कारमें मुग्ध नहीं हो जाता। ऐसी सम्यग्दृष्टिको शुद्ध श्रद्धा है। एक बार रेवती रानी की बड़ी प्रसिद्धि थी कि वह अपनी श्रद्धापर अटल है, वह यहां वहां की देखी सुनी बातों पर विश्वास नहीं करती किन्तु जो शास्त्रोंमें लिखा है उस पर उसकी श्रद्धा थी। यह बात किसी एक विद्यावान क्षुल्लकने या किसीने सुना तो उसने उस रेवती रानीकी परीक्षाके लिए अपने विद्याबलसे कई देवताओंके रूप रखा और उनका बड़ा चमत्कार दिखाया। लोगों की बड़ी भीड़ लगने लगी उनका वह चमत्कार देखकर, पर रेवती रानी उस चमत्कारसे आकर्षित न हुई। ऐसी ही कई घटनायें विद्याके बलसे दिखाया। एक बार तो ऐसी घटना दिखायी कि जहां समवशरण की रचना थी, वहां मानो कोई नया तीर्थंकर उत्पन्न हुआ हो, ऐसा दृश्य दिखाया। तब वहां लोगोंने रेवतीरानी से कहा कि अब तो तीर्थंकर महाराज समवशरणमें विराजे हैं, उनके दर्शन करने चलो, तो उसने कहा कि २४ तीर्थंकर तो हो चुके अब २५वां नया कोई तीर्थंकर न होगा, यह तो किसी मायाजालका रूपक है। वह नहीं गयी। तबउस भेषधारीने अपना बनावटी रूप छोड़कर सही रूप प्रकट किया और रेवती रानी की भारी प्रशंसा की। अमूढ़दृष्टि अंगकी मुख्यता है अपने आपके स्वरूपके बारेमें बेहोश न होना और विशुद्ध किसी घटना को देखकर उसमें आकर्षित न होना। यह कला ज्ञानीमें पायी जाती है क्योंकि उसे अपने बारेमें परिचय मिल चुका है।

सम्यक्त्वके उपगूहन अङ्गमें पालनमें प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठकी जिनशासन भक्तिका

दिग्दर्शन—ज्ञानीके सम्यक्त्वका ५ वां अङ्ग है उपगूहन अङ्ग। किसी धर्मात्मासे चाहे वह भेष वाला ही धर्मात्मा हो कोई बात दोषकी बने तो उसको जगतमें प्रकट न होने देना। आपके लिए सोचना होगा कि यह कोई बुद्धिमानी है क्या किसीसे कोई दोष बन गया तो उसे दण्ड दिया जाय? हां यह भी एक न्याय है पर सम्यग्दृष्टि की मंसा है कि यह जैनशासन जो अनादिसे चला आ रहा है, जिसका आलम्बन लेकर भव्य जीव संसारसे तिरते हैं, लोगोंकी दृष्टिमें यह न आये कि यह जैनशासन भी मलिन शासन है। उस शासनमें कलंक न आये। क्या किसी पुरुषका नियम लेना आलम्बनसे रहित हो जायगा, इसलिए वह उपगूहन अंगका आदर करता है। इस अंगमें जिनेन्द्र भक्त नामका सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसका चैत्यालय था, जिसमें बड़ा कीमती छत्र लगा था, बड़ी कीमती मणि चढ़ी थी। एक बार किसी चोरके मनमें आया कि इस छत्रको चुराना चाहिए पर वहां बड़ी व्यवस्था थी, कैसे चुरा सके? तो उसने कोई ब्रह्मचारी या क्षुल्लकका रूप रख लिया और बड़े ही निरारम्भ, निष्परिग्रह रूपसे उस चैत्यालयमें रहने लगा। सेठको भी उस पर क्षुल्लकपर बड़ा विश्वास हो गया। और विश्वास हो जाना सम्भव ही था क्योंकि धर्मात्माका सच्चा रूप उसके अलावा और कौन हो सकता था? सो एक दिन वह सेठ कहीं बाहर जाने वाला था किसी व्यापार सम्बन्धी कार्यसे, तो उसने उस क्षुल्लकसे कहा कि मैं एक दिनके लिए बाहर जाऊंगा, आप इस चैत्यालय की देखरेख रखना। ठीक है वह तो चाहता ही था कि कब मौका मिले और मैं छत्र चुराऊं। आखिर वह सेठ तो चला गया। इधर क्या घटना घटी कि मौका पाकर वह क्षुल्लक मंदिरके अन्दरसे छत्र चुराकर भगा। अब छत्रमें मणिकी चमक होनेसे उस नगरके रक्षक सिपाहियोंने उसे देख लिया और चोर समझकर उसका पीछा किया। वह चोर भगता हुआ चला जा रहा था और सिपाही उसका पीछा किये थे। इसी बीच उधरसे वह सेठ अपने घरके लिए वापिस हो रहा था। रास्तेमें उसने देखा कि वह चोर उसके ही मंदिरका छत्र लिए हुए जा रहा था और सिपाहियों ने उसको पकड़ लिया था। यह दृश्य देखकर सेठने सारा रहस्य जान लिया, पर इस दृष्टिसे कि इससे तो हमारे धर्मकी अप्रभावना होगी, यहां धर्मकी रक्षा करना चाहिए। सो इस भावनासे प्रेरित होकर सेठ बोला सिपाहियोंसे कि आप लोग इन्हे छोड़दे, यह छत्र मेरा है और मैंने ही इनसे मंगाया था। बस छोड़ दिया सिपाहियोंने। यह है उपगूहन अंगका सच्चा उदाहरण। यहां लोगोंको एक शंका हो सकती कि यह तो सरासर झूठ बोलना हुआ। तो ठीक है, यहां झूठ बोलकर उस चोरको बचाने का भाव न था बल्कि धर्म शासनको अप्रभावनासे बचानेका भाव था, इसलिए वह झूठ बोलना भी उस ज्ञानी पुरुषके लिए उस स्थिति में गुण हो गया। यह भी एक सम्यग्दर्शन का अंग है। आज जैन शासन के मानने वालोंका चरित्र ऊंचा न रहा इस कारण जैनधर्मकी अप्रभावना चल रही है। ऐसी स्थिति में किसी के मुखसे कैसे निकल सकेगा कि ये जैनी हैं, ये धर्मात्मा है, ये कभी झूठ नहीं बोलते, ये कभी चोरी नहीं करते ये रात्रि भोजन नहीं करते, ये बड़े सदाचारी हैं, ऐसा अब लोग कैसे बोल सकते क्योंकि कुछ संख्यामें इनका चारित्र स्वयं गिर रहा है। हां कभी एक ऐसा जमाना था कि लोग जैनियोंको बड़ी अच्छी दृष्टिसे देखते थे और जैन धर्मकी भी बड़ी प्रशंसा करते थे। पर आज बात नहीं देखनेमें आती। तो इस जैन शासनको विशुद्ध रखना यह अपने आचरण पर निर्भर है।

सम्यक्त्वके स्थितिकरण अङ्गमें प्रसिद्ध श्री वारिसेण मुनिराज का करुणा—सम्यग्दर्शनका छठा अंग है स्थितिकरण। किसी धर्मात्माको धर्मसे चिगते हुए में उसे स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है। इसमें वारिसेण नामक मुनि अधिक प्रसिद्ध हुए। वारिसेण महाराज जब पुष्पडालके यहांसे आहार लेकर जंगलकी ओर चले तो पुष्पडाल उन्हें कुछ दूर पहुंचाने गए। जब कोई एक दो मील जगह तय कर गये तो पुष्प डालने सोचा कि हम कैसे इनसे कहें कि अब मुझे घर जाने की आज्ञा दे दीजिए, इस संकोचसे न कहा, उधर वारिसेण महाराजने भी पुष्पडाल को घर लौटने कि लिए न कहा। यद्यपि पुष्पडालने कई बाते ऐसी कहीं कि जिनमें यह संकेत था कि अब मैं काफी दूर आ गया हूं, घर वापस लौटनेकी आज्ञा दे दीजिए, पर वारिसेणने नहीं कहा। क्या कहा था पुष्प-डालने महाराज यह वही तालाब है जहां हम तुम बचपनमें नहाने आया करते थे, यह नगरसे कोई दो मील पड़ता है, यह वही बगीचा है जहां हम आप घूमने आया करते थे, यह नगर से कोई तीन मील पड़ता है···, वारिसेण महाराजने कुछ न कहा। आखिर जंगल पंहुचे, पुष्पडालके भाव भी कुछ विरक्तिकी और बढ़े ओर वहीं मुनि हो गये। अब मुनि तो हो गये पर उन्हें अपनी स्त्रीका याद बराबर बना रहा। यद्यपि उनकी श्रीमति जी थी कानी, पर राग उसके प्रति बराबर बना रहा। जब वारिसेण महाराजने पुष्पडाल मुनिको विचलित होते हुए देखा तो क्या उपाय किया कि अपने घर माँ के पास खबर भेज दिया कि कलके दिन हम घर आ रहे हैं, आप सभी रानियोंको सजाकर रखना। यद्यपि वारिसेणकी माँ को बड़ा आश्चर्य हुआ अपने बेटेकी उस करतूत पर, पर समझा कि इसमें कोई रहस्य छिपा होगा। खैर उस माता ने दो सिंहासन सजाये—एक तो स्वर्णका और एक काठका। सोचा कि अगर हमारा बेटा विचलित हो रहा होगा तो स्वर्णके सिहांसन पर बैठेगा नहीं तो काठके सिंहासन पर। खैर वारिसेण तथा पुष्पडाल जब घर पंहुचे तो क्या देखा कि बड़ा ठाठ, अनेक सुन्दर रानियां बड़ा वैभव···। यह सब ठाठ देखकर पुष्पडालका चित्त पलट गया सोचा ओह धिक्कार है मुझे जो एक कानी स्त्रीका ध्यान नहीं छोड़ पाता, यहां तो इतनी इतनी सुन्दर रानियोंको तथा इतने विशाल वैभवको त्यागकर ये वारिसेण महाराज मुनि हुए। बस पुष्पडाल मुनिका मोह गल गया और अपने धर्ममें स्थिर हो गये। यह है धर्म में स्थिर करनेका सुन्दर उदाहरण।

सम्यक्त्वके वात्सल्य अङ्गमें प्रसिद्ध श्री विष्णु मुनिकी करुणा—सम्यक्त्व का ७वां अंग है वात्सल्य अंग। इस अंगकी तो बड़ी कथा है। रक्षाबंधन पर्व जो आज चल रहा है उसकी कहानी आप सब जानते ही हैं। वात्सल्यके मायने है प्रेम। जब श्री अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियोंपर विकट उपसर्ग हो रहा था बालि आदिक मन्त्रियोंने ७ दिन का राज्य पाकर उन मुनिराजोंको बेड़कर एक बाड़ेके अन्दर बन्द कर दिया था और उसके अन्दर लकड़ियोंमें आग लगा दिया था। अब मुनियोंके ऊपर आये हुए इस घोर उपसर्गका निवारण कैसे हो यह किसी की समझमें न आ रहा था। आखिर यह घोर उपसर्ग देखकर श्रवण नक्षत्र कम्पित हुआ, देखा कि किसी मुनि का हाय शब्द निकला, जान लिया सब वृतान्त। उनसे किसी विद्याधरी क्षुल्लकने पूछा—महाराज क्या मामला है जो रात्रिको हाय शब्द निकला? तो वहां बताया कि इस समय हस्तिनापुरमें ७०० मुनिराजों पर घोर उपसर्ग है।··· तो महाराज इसके निवारण करने का क्या उपाय है?··· जावो, विष्णुकुमार मुनिश्वर अमुक जंगलमें तप

कर रहे हैं वहां जाकर घटना बतावो वे ऋद्धिबलसे सब उपाय सोच लेंगे और संकट टाल सकेंगे। सो वह क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनिके पास पहुंचे और सारी घटना बताया तो विष्णुकुमार मुनिने पूछा—इस उपसर्गके निवारण का क्या उपाय किया जा सकता है? तो क्षुल्लकजी ने बताया कि आपको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है, उसके बल पर आप उन मुनियोंका संकट निवारण कर सकते हैं। यह बात सुनकर विष्णुकुमार मुनिको महान आश्चर्य हुआ कि हमें विक्रिया ऋद्धि कैसे सिद्ध है, हमें तो इसका कुछ पता ही नहीं आखिर इसका पता लगाने के लिए जो उन्होंने हाथ उठाया तो उनका हाथ लवणसमुद्र पर्यन्त बढ़ गया। अब तो उन्हें पुर्ण विश्वास हो गया कि हमें विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है। अब क्या था, विष्णुकुमार मुनि तुरन्त ही अपना मुनि पद छोड़कर एक ५२ अंगुल वाला बोनारूप रखकर वहां पंहुचे जहां कि मुनियोंपर वह उपसर्ग आया हुआ था। वहां जाकर देखा कि बलिराजा उन मुनियोंको जलते हुए देख देखकर बड़ा खुश हो रहा था, उस समय बडे बडे पंडित बुलवाकर मंत्रेच्चारण करवाकर यज्ञ जैसा कर रहा था उसकी खुशीमें सभी को मन चाहा दान दिया जा रहा था। आखिर ७ दिन को मांगा हुआ राज्य उसे मिल गया था, वह उस समय मनमाने कार्य कर सकता था, आखिर जब मुफ्त ही उसे मिला था तो उसमें कंजूसीकी क्या जरूरत? सो वहां राजा बलिने विष्णुकुमार से कहा कि आप भी कुछ मांगिये तो वहां विष्णुकुमारने तीन पग भूमि मांगा। उस समय राजा बलि बड़े आश्चर्यमें पड़ा कि एक तो यह वैसे भी कद का बौना और फिर तीन पग भूमि मांगता, इतनेसे इसे क्या होगा, सो कहौ—अरे इतने से क्या होगा, कोई बड़ी चींज मांग लो या भूमि ही मांगना है तो काफी सी मांग लो, तो वहां विष्णुकुमार बोले राजन् मुझे इससे अधिक न चाहिए। ··· अच्छा तो आप तीन पग भूमि जहां चाहे ले लीजिए, दे दूंगा यह मैं संकल्प करता हूँ। तो वहां विष्णुकुमार मुनिने अपना एक पग उठाया तो विक्रियासे वह पग इतना अधिक बढ़ गया कि एक पगसे खड़े होकर दूसरे पगसे सारा मनुष्यलोक घेर लिया फिर दूसरा पग घुमाया तो मानुषोत्तर पर्वत घेर डाला। अब तीसरा पग रखने को जगह न मिली तो बलिसे कहा—बताइये अब मैं तीसरे पग की भूमि कहां नापूं? तो उस समय वह राजा बलि अत्यन्त शर्मिन्दा हुआ और विष्णुकुमार के चरणोंमें लोटकर क्षमा याचना किया और विष्णुकुमार के कहे अनुसार मुनिराजोंका वह घोर उपसर्ग दूर किया। सारे मुनिराजोंको उस बाड़ेसे निकाला गया, उस समय उनकी क्या हालत थी सो तो ध्यान दो। उन मुनिराजोंके सारे अंग अग्निसे झुलस गये थे, अग्निके धूमसे कंठ अवरुद्ध हो गये थे, उनका सारा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था मगर उपसर्ग दूर हो चुका था, अब उन्हें कैसे जीवित रखा जाय इसका उपाय क्या किया लोगोंने कि जब वे चर्या को निकले तो उन्हें आहारमें सिवइयां दिया था ताकि उनके कंठ में आहार लेते हुए में कष्ट न पहुंचे। तभीसे रक्षाबंधन पर्व चला और उसमें सिवइयां बनने की प्रथा चली। वह प्रथा आज भी चली आ रही है। तो विष्णु कुमार मुनिने वात्सल्य अंगकी पूर्ति की, पश्चात् फिर दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे।

सम्यक्त्वके प्रभावनाङ्गके पालनका एक उदाहरण—सम्यक्त्वका ८ वां अंग है प्रभावना। इस अंग में प्रसिद्ध हुए हैं बज्रकुमार। इनके दो रानियां थी, एक थी वैष्णवमतके मानने वाली और एक थी जैन धर्मके मानने वाली। दोनोंने अपना-अपना रथ निकालनेके लिए होड़ मचायी। एकने

कहा—पहले हम निकालेंगी, दूसरी ने कहा हम पहले निकालेंगी। इसी प्रसंगको लेकर दोनों रानियां अनशन करके बैठ गईं तो वहां बज्रकुमारने अपने चमत्कार बलसे वैष्णवमतको मानने वाली रानीका विचार बदल दिया और जैनरथ पहले निकला, जैन धर्मकी प्रभावना हुई। वास्तविक प्रभावना तो ज्ञानकी प्रभावना को कहते हैं। बाहरी शो दिखा देना यह कोई प्रभावना नहीं हैं। जनताके मनमें आ जाय कि ये लोग बड़े सम्पन्न हैं, अपने धर्मकी प्रभावनाके लिए बहुत कुछ धन लुटानेको तैयार हैं।

इस प्रकार की बात मनमें रखकर बाहरी आडम्बरका प्रदर्शन करके लोगोंको दिखाना यह कोई वास्तविक प्रभावना नहीं हैं। प्रभावना कहते हैं ज्ञान का प्रचार प्रसार करने को। सो ऐसे ८ अंगोंसे युक्त सम्यक्त्वको जो प्राप्त करता है वह पुरुष धन्य हैं जो संसारसंकटोंसे सदा के लिए पार हो गए।

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिं।
न हि मंत्रोऽक्षरोन्यूनो निहन्ति विषवेदनां॥ २१॥

अङ्गहीन सम्यक्त्वकी जन्मसंततिछेदनाशक्यताके कथनके प्रसंगमें प्रथम चार अङ्गोके स्वरूप का पुनः स्मरण—अभी सम्यग्दर्शनके ८ अंग बताये गये थे। उनके सम्बंधमें कह रहे हैं कि उन अंगोंमें से यदि कोई अंग कम है तो वह सम्यक्त्व जन्मसंततिको छेदनेमें समर्थ नहीं है। जैसे कि कोई अक्षर कम हो किसी मंत्रमें तो उस हीन अक्षर वाले मंत्रकी आराधनासे विषवेदनाको नहीं दूर कर सकते, ऐसे ही अंगहीन सम्यक्त्व जन्म संततिको नष्ट नहीं कर सकता। जिसके ८ अंग बराबर हों उस सम्यक्त्वसे संसार पार होगा। वे ८ अंग क्या हैं सो संक्षेपमें सुनो—(१) अपने आत्माके स्वरूपमें शंका न करना, किसी प्रकारका मरण आदिक भय न रखना, जिनवाणीके वचनोंमें संदेह न करना। (२) विषयभोगके साधनोंकी इच्छा न करना और कमसे कम इतना तो अवश्य ही करना कि धर्मधारण करनेके एवजमें विषयोंकी आकांक्षा न करना। जैसे महावीरजी क्षेत्रपर जाकर कोई कामना करे कि मेरे को अमुक कामकी सिद्धि हो या अन्य क्षेत्रपर चढ़ावा बोले या अपने ही नगरमें धर्म पूजा करे उसके एवजमें चाहें कि मेरा परिवार सुखी रहे या अमुक लाभ हो तो वे सब सम्यक्त्वसे विपरीत बातें हैं। उल्टी चाल चलनेसे सिद्धि नहीं होती। निष्पक्ष धर्मका ख्याल करके धर्म करना चाहिए। जो लोग महावीर जी, पद्मप्रभु या तिजारा आदिक जगहों पर कामना नहीं करते, नहीं जाते ऐसे लोग क्या दुःखमें रहते हैं? लोग धन की बात करते हैं। अन्य विदेशों में जो लोग कोइ देव नहीं मानते वे लोग भी तो करोड़पति, अरबपति आदिक बड़े सम्पन्न पाये जाते। तो बताओ प्रभुसे मांगनेसे उन्हें धन मिला क्या? अरे यह तो सब पूर्वकृत कर्मके उदयसे सब पुण्यसामग्री मिली है। आजकी बात आज है। अब परिणाम बिगड़ेंगे तो आगे कष्ट है, अपने परिणाम ठीक रखेंगे तो आगे आराम है। जरा अपनी वर्तमान बात सोचिये—यह संसार यह जन्ममरण दुःखका जाल है। इससे बचना अभीष्ट है, इससे बचना है। उसका उपाय क्या है? अपने अकेले स्वरूपको जानें उस ही में श्रद्धान बनावें कि यह मैं हूं और उस ही में रमण करें, अवश्य शान्ति मिलेगी। तो किसी प्रकारकी आकांक्षा न करना, धर्म धारण करके तो आकांक्षा करना ही नहीं। यह निःकांक्षित अंग है। कोई तीव्र कर्मोदय आये और बड़े संकट सामने आ जायें तो

उनसे घबड़ाना नहीं, चित्तको गिराना नहीं और सोचना कि क्या संकट है? ये बाहरी पदार्थ हैं, ये रहें न रहें, कैसे ही रहें, वे बाहर की बातें बाहर ही तो रहीं, उनसे मेरेमें क्या संकट है? अपने अमूर्त, सुरक्षित ज्ञानस्वरूपको निहारकर उसमें ही तृप्त रहना चित्तको गिराना नहीं यह निशंकित अंग है। और साधुजनोंकी सेवा करते हुए में ग्लानि न रखना यह है तीसरा निर्विचिकित्सत अंग। (४) अमूढ़दृष्टि। खोटे मार्ग को देखकर, खोटे मार्ग पर चलने वाले लोगोंका चमत्कार देखकर उसमें मुग्ध न होना, बात यथार्थ ही जानना कि लोकमें चमत्कार कितने ही दिखा लिए जाये पर उनसे पूरा न पड़ेगा। पूरू पड़ता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे।

अङ्गहीनसम्यक्त्वकी जन्मसंततिच्छेदाशक्यताके कथनके प्रसंगमें अन्तिम चार अङ्गोंके स्वरूप का पुनः स्मरण—५ वां है और उपगूहन। जैन शासनको उज्ज्वल बनाये रखनेके लिए किसी धर्मात्माके दोषोंका प्रसार न करना, नहीं तो लोग धर्ममार्गसे हट जायेंगे, यह कहकर कि यह सब ढकोसला है, जैन शासन कुछ नहीं हैं, सो उसकी रक्षा करनेके लिए निर्दोष बनाना उपगूहन अंग है। (६) स्थितिकरण—कोई धर्मसे चिग रहा हो किसी आपत्तिसे या उसकी चिन्तासे तो हर उपायोंसे उसको धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण है। (७) वात्सल्य—निष्कपट प्रेम। क्योंकि खुद भोगके साधनोंमें अनादर रख रहा इसलिए उससे कोई कपट नहीं हो सकता। ये चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके धारी हैं दूसरे पुरुष तो उनके गुणोंमें अनुराग जगता ही है। (८) आठवां है प्रभावना अंग—ज्ञानकी प्रभावना करना प्रभावना है। धर्म ज्ञान ही है, अन्य चेष्टावों का नाम धर्म नहीं। मंदिरमें आकर पूजा करके, हाथ जोड़कर, अनेक चेष्टायें करके यदि आपके इस ज्ञानस्वभावमें दृष्टि जगती है, इसका लक्ष्य बनता है। इस ज्ञानस्वभावमें रुचि जगती है तब तो आप समझिये कि धर्म कर रहे अन्यथा धर्म नहीं कर रहे। अब कोई पूछ सकता क्या इन मंदिरोंका आना छोड़ दिया जाय? तो यहां छोड़ने की बात नहीं कर रहे, क्योंकि धर्म करनेके ये साधन हैं। अगर इन साधनोंमें लगे रहेंगे तो ज्ञानकी वार्ता कभी मिलेगी और कभी अनुभव बनेगा तो आप धर्म करने लगेंगे, क्योंकि धर्म ही इस जीव का कल्याण कर सकने वाला है। दूसरा कोई मददगार नहीं। अब विशुद्ध ज्ञानस्वभावमय अपने को अनुभवना बस यही संकटोंको दूर रखना है। तो यों आठ अंग होते हैं। उनमें यदि कोई अंग कम हो जाय तो वह सम्यक्त्व जन्म परम्पराको नष्ट नहीं कर सकता।

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनां।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥ २२॥

लोकमूढतामें नदी समुद्रमें स्नान करनेमें धर्मकी मान्यता—अब इस प्रसंगमें उन मूढतावोंका वर्णन करेंगे जिन परिणामोंके रहते सम्यक्त्व होता नहीं। उन मूढ़तावोंमें यह प्रथम मूढ़ता है लोकमूढ़ता। इस शब्दसे अर्थ निकलता है कि दुनियाके लोग जहां बह रहे है, जिन-जिन अधर्म वृतियोंमें धर्मकी मान्यता कर रहे उन्हीं के पीछे खुद लग जाना और खुद भी वैसा मान लेना यह लोकमूढ़ता कहलाती है। जैसे लौकिकजन नदीमें स्नान करनेसे धर्म मानते हैं—जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा, सिंधु और और भी

ले लीजिए। ये सब बहुत दूर हों तो अपने ही गांवके पासका नाला ले लीजिए, जहां कहीं भी स्नान करनेमें धर्म मानना यह लोकमूढ़ता है। भला सोचिये नहाया गया शरीरमें धर्म मिलेगा क्या? जो शरीर खुद अपवित्र है। उसको कितना ही धोवो, क्या वहां धर्म बन जायगा? क्या पवित्रता बन जायगी? जैसे मलसे ही तो बनाया हुआ घड़ा हो और उसमें मल ही रखा हो और ऐसे घड़े को धोकर कोई पवित्रता लाना चाहे तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है। तो ऐसे ही देखिये—यह शरीर मल बीज है, मलयोनि है और झरते हुए मल का घर है। मलसे ही तो शरीर बना। क्या सोना चांदीसे शरीर बना? अरे माता पिताके रज वीर्यसे, और और भी ऐसे ही आहारादिकसे ये सब शरीर की रचनायें हुई। तो पहले तो इनका कारण ही देखिये-गन्दा है, और फिर यह बनेगा क्या? यह मल ही बनेगा। मलकी ही योनि है। मलका ही उत्पादक है, और निरन्तर मल ही झरता रहता है। इस शरीरमें कोईसा भी हिस्सा ऐसा तो बताओ जो कुछ लोक में भी ठीक माना जाता हो। लोग चाम, खून, मांस, हड्डी, चर्बी और जो जो कुछ भी अन्दर है वह सब अशुचि है। ऐसे अपवित्र देहको नदीमें नहलवाकर जो तृप्त हो जाता कि मैने धर्म कर लिया, यह उसकी कितनी विपरीत बात है। जिसको अपने अमूर्त अविकार ज्ञानस्वरूपकी तो खबर नहीं, देहमें ही आपा मान रहे हैं और धर्म होगा, मोक्ष मिलेगा, इस आशासे नदियोंमें स्नान करनेमें धर्म मानते है तो भला बतलावो धर्म मार्गसे कितने विपरीत ख्याल है?

शरीरकी अशुचिताका और चित्रण—यह शरीर तो इतना अपवित्र है कि जिस शरीर पर कोई चीज लेप दें तो वह चीज भी कुछ गंदी मानी जाती। जैसे फूलमाला पहिन ली और मालूम पड़ गया कि इसकी पहिनी हुई है तो फिर उस मालाको कोई पहिनता नहीं है। शरीर पर तेल लगा लिया, अधिक लग गया तो अब वह अधिक लगा हुआ तैल पोंछकर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं लगा सकता, किसी टपमें कोई स्नान कर ले तो उस स्नान किये हुए जलसे कोई दूसरा नहीं नहाना पसंद करता, शरीर पर किसीने चंदनका लेप किया हो तो उसे पोंछ कर कोई दूसरा नहीं लगाना पंसद करता। तो ऐसा अपवित्र यह शरीर है। और भी देखिये इस शरीरके मल। कानसे निकला हुआ मल मायने कनेऊ यह इतना गन्दा है कि कोई इसे छूना नहीं चाहता। अब उसके नीचे चलो तो मिली आँखं। आँख का कीचड़ कान के कनेऊसे भी अधिक गन्दा माना जाता। उसके नीचे है नाक। नाककी नाक उस आँखके कीचड़ से भी अधिक गंदी मानी जाती। और नीचे चलो तो मुखके कफ, लार आदिक उससे भी गंदे माने जाते, और नीचे चलो तो मलमूत्र और भी अधिक गंदे माने जाते। और फिर इस शरीरके भीतर देखते जाइये तो खून, मांस, मज्जा आदिक सब गंदी ही चीजें मिलेंगी। ऐसे इस महा अपवित्र शरीर पुतले को नहलवाकर मानना कि मैं धर्म कर रहा तो वह उनका कितना गलत ख्याल है।

देवादिविनयके लिए गृहस्थको नहाकर पूजा विधान करनेकी आवश्यकता होनेपर ज्ञानीकी रत्नत्रयभावमें ही धर्मत्वकी आस्था—गृहस्थीमें रहकर सामान्यतया नहाना सो तो ठीक है, यह कर्तव्य माना जाता। क्योंकि बिना नहाये मंदिर आकर पूजा पाठ करनेमें चित्त नहीं लगता। उसका कारण यह है कि जहां अनेक गंदी बातें करते रहते हैं अनेक पापके कार्य करते, भोग साधनोंके पाप करते, रागद्वेष मोहादिकके कितने ही पाप करते, तो समझिये कि जहां मन इतना अपवित्र हो गया है

वहां बिना नहाये धोये पूजा पाठ आदि धार्मिक कार्योंमें मन कैसे लग सकता है? इससे स्नान करना यह तो भगवानके विनयमें शामिल है। अब कोई स्नान कर लेनेको ही एक धर्म मान लें कि मैंने धर्म कर लिया तो यह तो उचित नहीं है ख्याल, पर भगवानकी पूजा पाठ आदि स्नान करके करना यह तो विनयमें शामिल है इसलिए गृहस्थीमें स्नान करना यह रोजका कर्त्तव्य है ताकि विनय पुर्वक और चित्तके समाधान पूर्वक धर्मसाधना कर सके, पर धर्म मानता तो आत्माके श्रद्धान ज्ञान और कर सके, पर धर्म मानना तो आत्माके श्रद्धान ज्ञान और आचरणमें हैं। दूसरा कोई धर्म नहीं है, मायने मोक्षका मार्ग अन्य नहीं है। सो यह लोकमूढ़ता के प्रकरणमें कह रहे हैं कि नदीमें स्नान करके धर्म मानना और उसके पर्व बनाना, उसका जलसा करना आदिक भीतर धर्मकी कल्पना करना यह तो लोकमूढ़ता कहलाती है। अरे आत्मन्! तू आत्मा है, अमूर्त है, कर्म उपाधिके वशसे तेरेमें विकार जगा है, तू अपवित्र बन रहा है तो अपने अमूर्त स्वरूपका ध्यान धर। अविकार स्वरूपसे रुचि कर तो ये तेरी बाह्य कल्पनायें, ये बाह्य विकार ये सब दूर हो जायेंगे। पर गन्दे शरीरको नहलाकर धर्म माननेकी बात बिल्कुल मूढ़ताकी है। जैसे रिवाज चलाना कि जब धुला कपड़ा किसे दूसरेसे छू गया तो वह कपड़ा अशुद्ध हो गया, उसे बदलकर दूसरा शुद्ध कपड़ा पहिनने पर शुद्धि बन पाती, ऐसा लोक व्यवहारमें मानते। तो ऐसा अपवित्र है यह शरीर कि जिसके छू जानेपर कपड़े तक अशुद्ध माने जाते। तो इसके नहानेमें धर्म मानना मूढ़ता है।

शरीरकी सजावटके अनुरागकी मूढ़ता—साथ ही एक बात और ध्यानमें रखें। इस शरीरसे प्रेम करना भी मूढ़ता है। इस शरीरको अनेक प्रकारके वस्त्रों तथा आभूषणोंसे सजाना और बड़ा खुश होना मैं कैसा सज गया, मैं कैसा शृंगारमें आ गया इससे मिथ्यात्व पुष्ट होता है। अरे यह शरीर सजानेके लिए नहीं मिला, किन्तु रत्नत्रय धर्मका पालन करनेके लिए मिला, ऐसा अपने चित्तमें निर्णय रखें। करना सब पड़ता हैं। बताओ कपड़े पहिनने पड़ते कि नहीं। कपड़े पहिनकर उनमें बड़ी छांट करना कि मेरी इस कटिंगकी कमीज हो, ऐसा कोट हो, ऐसे रंगका हो, नये फैशनका हो, उसको पहिनकर गौरव अनुभव करना कि मैं बहुत ठीक हूँ। यह सब मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाली बात है। लग रहा होगा ठीक-ठीक मगर उसके लगाव रागमें बड़े ऐब भरे हैं। हां शरीरको थोड़ा बहुत सजाकर रखना भी पड़ता, बाल बढ़ गये तो कटाना भी पड़ता, कपड़े साफ स्वच्छ पहनने पड़ते, शरीर की भी सफाई व्यवहारमें रखनी पड़ती, यों साधारण रूपसे जितनी सफाई चाहिए वह तो ठीक है, पर इस शरीरको भारी सजाना इसे देखकर खुश होना यह तो मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाली बात है। सात्विक ढंगसे रहना और धर्मधारणके लिए अपना उपयोग लगाना यह कर्त्तव्य होना चाहिए। और, धर्म क्या? ज्ञान ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वका ज्ञान होना यह धर्म है। जहां आत्मज्ञान नहीं वहां धर्म की गंध नहीं। उसका परिचय कीजिए। धन मिले, धन जुड़े इस बातको तो आप उदय पर छोड़िये। थोड़ा बहुत उद्यम तो करना ही पड़ेगा मगर उद्यसे क्या लाभ नहीं होता यदि पुण्यांदय नहीं है तो। सो अपने धर्मको सम्हालो उसके होते हुए पुण्य भी बनता है, उसके उदयमें साधन भी जुटते हैं, किन्तु कोई धर्मकी तो प्रभावना ही न करे और मात्र यह धन जोड़ लिया, इसको ऐसा कर दिया, इसी इसीमें ही अगर रात दिन चित्त उलझे तो समझो कि

उसका जीवन व्यर्थ ही गया। जीवन उसका सत्य है जो रत्नत्रय धर्मका पालन बनाये पर उसके खिलाफ लोक रीतियोंमें फंसा रहे तो वह तो लोकमूढ़ता स्पष्ट है।

व्यवहारमें लौकिक शुद्धियां करने पर भी ज्ञानीका रत्नत्रयभावसे आत्मशुद्धिका लक्ष्य—देखिये लौकिक पवित्रता भी करनी पड़ती है मगर उसमें आत्माका धर्म माना नहीं जा रहा। जब रह रहे हैं और अनेक अशुचि कार्य बन रहे हैं तो लौकिक शुचि चाहिए, पर उस लौकिक शुचिसे लोक व्यवहारमें ही एक मनकी समझावट बनती हैं और जब मन कुछ समाधानमें है तो धर्म कर सकता। एक बार कोई विद्वान 'गंगा स्नान' नामक विषयपर व्याख्यान दे रहा था। उससे जब अनेक कुछ दलीलें देते न बनी तो अन्तमें एक दलील यह पेशकी कि गंगा स्नान करनेसे शरीर हल्का हो जाता है। शरीरके हल्के होनेसे जब कोई पुरुष ध्यान करने बैठेगा तो उसका मन ध्यानमें लग जाता है। यों कितनी ही बातोंकी दलील पेश की जाय मगर यह समझो कि स्नान करना तो एक कर्त्तव्यमें शामिल हो गया, उससे कहीं धर्म नहीं हो जाता। जहां मोह ममताके प्रंसगोंके कारण बहुतसा बोझ लाद लिया तो उसका चित्त बदलनेके लिए कौनसा कार्य है ऐसा कि जिससे मुड़ जाय? तो वह है स्नान आप देख लीजिए—सब बैठे हैं, विधान होना है, पूजन होना है तो उस समय यदि आप स्नान करके आयेंगे तो आपके भावोंमें बड़ी विशुद्धि रहेगी और यदि स्नान नहीं किया है तो भावोंमें विशुद्धि न आयगी। स्नान करके एक मन समझावट बनी ओर उसके बाद धर्ममार्गमें लगे। तो लौकिक दृष्टिसे भी आवश्यकता तो है स्नानकी, पर उसको लोकमें ही आवश्यक समझना बस इतना अर्थ है लौकिक शुद्धिमें। लोकोत्तर शुद्धि, आत्मस्वरूपका ध्यान, मनन स्मरण, अनुभव ये लोकोत्तर शुद्धियां है। जहां जहां राग लगा द्वेष लगा, कषाय लगी है उन सबको दूर करना और अपने आपको विकाररहित अनुभव करना यह है लोकोत्तर शुद्धि।

संसरणरीतिको बदलकर मोक्षपद्धतिके मार्गपर लगनेका संदेश—थोड़ा सोचिये तो सही—जिस रंग ढंगसे संसारमें चले आये हैं, आज मनुष्यजीवनमें भी बनाये रहे जन्मे, बड़े हुए, धन कमानेकी कलायें सीखी, कमा रहे घरमें, मोहमें मुग्ध हो रहे बस इतना ही तो लक्ष्य है, ख्याल है, इससे आगेका ध्यान ही नहीं। जब कभी भगवानका नाम लेने लगते तो कहीं आत्मरुचिके कारण नहीं लेते किन्तु दुःखोंसे ऊबकर भगवानका नाम लेते बस यदि यही रफ्तार चलती रही तो बताओ इस जीवन में कल्याणका क्या उपाय किया? अब कुछ कदम उठाना चाहिए मोक्ष मार्गका, जिसका प्रथम उपाय है सम्यग्दर्शन लाभ। और उसके यत्नमें स्वाध्याय, अध्ययन सत्संगके तीन बातें चाहिए। सो कितनी ही उम्र हो जाय अपनेको इस कामके लिए बालक समझिये। अब हम शुरू करते हैं मोक्षमार्गकी पढ़ाई। एक प्रेक्टिकल तो ऐसे तत्त्वज्ञान द्वारा अपने आपमें ज्ञानकी वृत्ति करना और उसमें ही तृप्त रहना, बाह्य प्रसंगोंके लालच तृष्णा आदिसे दूर हो जाना, यह लक्ष्यमें बन जाय तो धर्म का मार्ग पा लेना कोई कठिन बात नहीं। वह तो अपनी चीज है। निजकी निजमें दुविधा ही क्या? कोई परकी चीज लेना चाहता हो तो उसमें कष्ट है। सो स्वाध्याय, सत्संग और अध्ययन द्वारा ज्ञानविकास कीजिए और उस ज्ञानमें तृप्त रहने का लक्ष्य बनाइये।

सम्यक्त्व और चारित्रसे आत्मशुद्धि—इस ग्रन्थमें सभीचीन धर्म कहने की प्रतिज्ञा की है। इसका नाम है रत्नकरण्ड। पूरा नाम इतना ही है, चूंकि इस रत्नकरण्डमें श्रावकाचारका अधिक वर्णन है इसलिए उस नामके आगे श्रावकाचार और बोलने लगते हैं। पूर्ण नाम है रत्नकरण्ड, याने यह ग्रन्थ स्वयं रत्नोंका पिटारा है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह ही धर्म है जिससे यह जीव संसारके दुःखों छूटकर मोक्षमें पंहुचते हैं। सम्यग्दर्शन क्या? आत्माका अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण जो स्वयं सहजस्वरूप है उस रूपमें अपना दर्शन करना, अपना परिचय करना, अपनेको मानना यह है सम्यग्दर्शन। मैं यह हूँ। अपने स्वरूपास्तित्व मात्रसे जो अपने में बात है उस ही को स्वीकार करने वाला पुरुष स्वयं आत्मचरणकी ओर बढ़ता है, विशुद्ध ज्ञान उसके बर्तता है और इस भीतरी प्रेरणाके कारण इसकी उस ओर ऐसी अभिमुखता होती है कि जो रूप लाद रखा है अनादिसे जो परिग्रह संग समागम लाद रखा है, जो आरम्भ परिग्रहकी समता करके बढ़ा रखा है उन सबमें हीनता, उनका त्याग, उनसे छुटकारा होता है। बस इस ही आरम्भ परिग्रहसे छुटकारा होनका नाम है अणुव्रत, महाव्रत आदिक। सो उन परिस्थितियोंमें रहकर यह जीव अपने स्वभावकी आराधनामें सफल होता है। जिसका व्यवहार धर्म ही गलत है, जो लोक मूढ़तामें रंगा हुआ है, जैसे नदीमें स्नान करना। स्नान कराना किसे? इस अशुचि शरीरको और उसमें एक सुना सुनी धर्म मानते हैं। धर्म क्या है? उसे मानना है यह बात नहीं बनती इसका वक्तव्य नहीं बनता किन्तु सुना सुनी धर्म होता है यह मान लिया। यद्यपि लौकिक शुद्धियां ८ हैं और वे की जाती हैं गृहस्थदशामें न करें तो मन पवित्र या पात्र नहीं रहता कि वह धर्म मार्गमें चले। लेकिन लौकिक शुद्धि तो साक्षात् हैं आत्माका दर्शन ज्ञान चारित्र यही है धर्म।

किन्हींकी लौकिक शुद्धि आवश्यक होकर भी लोकोत्तर शुद्धिमें ही धर्मत्व की मान्यता—लौकिक शुद्धियां ८ हैं—(१) कालशौच—समय गुजर गया तो अपने आप पवित्रता बन गई। जैसे किसी चटाई पर कोई महिला बैठी है, उस महिलाके तुरन्त उठनेके बाद उस समय चटाई पर कोई व्रती या मुनि बैठना पंसद नहीं करता और कुछ काल गुजरने पर फिर वही चटाई उनकी दृष्टिमें पवित्र बन जाती है। यह सब लोक व्यवहार है। व्यवहार रहते हुए व्यवहारके कार्य छोड़कर रहनेमें अनर्थ होगा। जितनी बाड़ बताया है शीन की बाड़, इनमें बचें और प्रवृत्तियां इनमें रहें, इन्हें करें, ये सब आत्माकी पात्रता बनाते हैं। एक संस्कार बनाते हैं और उस बीच सुरक्षित रहकर फिर अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि द्वारा अपने आप में रमनेका पौरुष होना यह है वह तीक्ष्ण शस्त्र, जिसके बलसे कर्मोंका क्षय होता है। (२) दूसरी शुद्धि है अग्नि शौच। बर्तनोंको आगसे तपा लिया, बस मन ने मान लिया कि अब बर्तन शुद्ध हो गये, वे व्रती साधुजनोंके या शोध वालेके वे बर्तन काम आने लगे। तो यह अग्नि शौच शुद्धि करनेसे एक मन की ग्लानि मिट गई। तब देखिये और ढंगका संस्कार बन जाता है। अगर कोई इसीको ही धर्म मानले ऐसी छुवाछूत ऐसी शुद्धि, ऐसा फलाना वह एक व्यवहारमें पवित्रता है उसके बिना भी गुजारा नहीं हैं कि हम आगे बढ़ सकें लेकिन वही है धर्म ऐसी मान्यता रखना गलत है, वह तो फिर वहीं अटक जायगा आगे न बढ़ सकेगा। तो लोकशुद्धि आवश्यक है जिनको उन्हें आवश्यक है, पर दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिये कि धर्म क्या चीज है, कहां हमें जाना है, कहां

हमें पहुंचना है और कहां हमें रमना है। (३) तीसरी शुद्धि भस्मशौच—राखसे शुद्ध कर लेना। जैसे जूठे बर्तनोंको राखसे मल लिया गया तो भस्म शुद्धि हो गई। अब उसे कोई पानीसे ही धो ले और उसमें ही खाने पीने लगे तो एक व्यवहारकी बाड़ बन जानेसे अन्य प्रकारकी स्वच्छंदता बढ़ने लगेगी। और मन भी गवाही देता है कि उसको राखसे मलकर शुद्ध कर लो। व्यवहारकी बात उपयोगी है मगर यही करते रहना यही धर्म है, यही ठीक है, उस शुद्ध शुद्धमें ही दृष्टि रहना और यह पता ही न रहना कि किसलिए हमें क्या करना था, तो वह आगे प्रगति नहीं कर सकता। लोकमूढ़ताकी बात कही जा रही है जो इन अनेक बातोंमें धर्म मानकर व्यवहारशुद्धि करना लोकमूढ़ता नहीं है। तब प्रकरण पाकर बतला रहे हैं कि व्यवहारशुद्धि आवश्यक होकर भी उस ही को कोई लक्ष्य मान ले तो वह तो वहीं रुक गया और उसका कुछ ठिकाना न रहा। (४) चौथी लौकिक शुद्धि है मृत्तिका शौच। अब इसीके अन्दर देख लीजिए। कोई शौच हो आया तो उसने हाथको साबुनसे धो लिया, दूसरे ने मिट्टीसे धो लिया, तीसरेने यों ही खाली पानीसे धो लिया, तो इनमें जिसने मिट्टीसे हाथ धोया उसका मन पूरा मान जायगा कि हमारे हाथ शुद्ध हो गए बाकीमें यह बात न बन पायगी। तो व्यवहारशुद्धि भी आवश्यक है, करना चाहिए पर उसको कोई यह मानले कि यही मेरा कर्त्तव्य है, यही मेरा धर्म है, इतने से ही वह संतुष्ट हो जाय तो यह आत्मकल्याण कराने वाली बात नहीं है।

लौकिकशुद्धिगत गोमयशुद्धिका प्रयोजन एवं लौकिक शुद्धिकी परिमत आवश्यकता—(५) एक शुद्धि है गोमयशुद्धि। मानलो किसी बच्चेने कहीं टट्टी कर दिया तो उस जगह की शुद्धि लोग गोबरसे करते हैं। अब देख लीजिए गोबर स्वयं पशुका विष्टा है और उससे लोग मनुष्यकी विष्टा वाली जगह को शुद्ध करते हैं और ऐसा करते हुए में लोगों का मन राजी रहता है और एक तरहसे उनकी वह शल्य भी मिट गई कि जो जगह खराब हो गई थी वह पवित्र हो गई। तो व्यवहारमें यह एक आवश्यक कार्य हो गया वाह्य शुद्धिका रखना, पर वास्तवमें आत्मकी शुद्धि तो आत्मदर्शन आत्मज्ञान ओर आत्मरमणसे है। इस जीवनमें अपनी भलाईका लक्ष्य होना चाहिए, दूसरे की भलाई हम कर नहीं सकते। वे परद्रव्य हैं, उनकी परिणति हम बना नहीं सकते, किन्तु जब तक राग है तब तक होगा सब कुछ, उपदेश भी किया जायगा, बोलचाल भी होगा और उसका आश्रय करके दूसरे लोग अपने कल्याणका काम भी बनायेंगे, यह सब कुछ होगा लेकिन अपने लिए तो कल्याणकारी दृढ़ भावना होना चाहिए। मुझे लोगोंको कुछ बताना है, मुझे अमुक बात का प्रचार करके रहना ही है, किसमें ? ··· इस माया जालमें और उस ही में रहे और अपनेमें मंदकषाय या आत्माभिमुखिताकी बात न निभा सके तो यह जीवन काहे के लिए? आसानीसे दूसरोंका कुछ हो जाय वह बात अलग है मगर दूसरोंके लिए कमर कसकर रहनेका अर्थ है कि अपनी और से सिथिल हो गये। अपने लिए जो दृढ़ रहेगा उसके ही वातावरण ऐसा बनेगा कि इसका आश्रय कर लोग भी कल्याणमार्गमें लगेंगे। मुख्य बात तो अपनी-अपनी विचारो। मानलो कोई १०० आदमी यह निर्णय कर लें कि हमें विधान समारोह आदिक करके खूब धर्म का प्रचार करना है और वे उसी उसी में जुटे रहें तो बतावो उससे वे खुद धर्मात्म बन गये क्या? एक भी नहीं धर्मात्मा बना और उनमेंसे अगर कोई दो चार लोग ही ऐसे हो जाये कि

जिनको आत्मदृष्टि, आत्मशान्ति, वही धुन, आत्मकल्याणकी भावना चले तो कमसे कम उन १०० में चार-पाँच लोग तो धर्मात्मा बने और उस बड़े बखेड़ेमें तो एक ही धर्मात्मा नहीं बन पाया। तो यह सोचना व्यर्थ है कि हम तो ढोल बाजोंसे धर्म का खूब प्रचार करेंगे। अगर यही बात सबके सब सोचलें और स्वयं कुछ धर्म न धारण करें, बाहर-बाहर के प्रचारमें लगे रहें तब तो यह समझो कि धर्म की रीति हट गई, किन्तु सहज ज्ञानस्वरूपका माहात्म्य जीवको समझमें आये यह है धर्म प्रचार। जिस जैन शासनके आश्रयसे संसार संकटोंसे छूट जाय वह बात लोगोंके चित्तमें आये तो परमार्थतः धर्मप्रचार वह है, पर जहां इतना पड़े हुए हैं, रह रहे हैं, फसें हैं वहां व्यवहारकी बातें भी सब करनी होती है तब जाकर वह पात्रता बनती है कि हम आगे भी बढ़ते हैं। तो व्यवहारमें शुद्धि भी बतायी गई है पर वास्तवमें आत्मशुद्धि तो आत्मस्मरणसे, आत्मध्यानसे होती है।

भूमिकानुसार बाह्यशुद्धिसे गुजरते हुए परमार्थशुद्धिमें विवेकीका प्रवेश—जैसे कहते हैं ना पूजा में "अपवित्रः पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोपि वा, यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः" और अगर ऐसा करने लगें कि सोकर उठें, चलें मंदिरमे ऐसे ही अभिषेक पूजन करलें, तब तो प्रमाद है, वहां तो अपवित्र या पवित्रकी बात निभ सकती है मगर जहां रातदिन के भोग साधनोंमें रह रहे, गंदे वातावरणमें रह रहे वहां यह अपवित्र या पवित्रकी बात न चलेगी। वहां तो पवित्र होकर, शुद्धि करके ही पूजन अभिषेकके लिए जाना चाहिए। जैसे स्नान करके शुद्ध हो गए, अब पहलेके संस्कार छोड़ दिये, ऐसा मनमें संकल्प आये, यह तो प्रभुकी विनय है कि स्नान करके प्रभुकी पूजा अभिषेक करने आये। तो यह बात सब लोगोंके लिए अनिवार्य रूपसे कही है, इसमें बेहोशी न रहनी चाहिए।

जलशुद्धि व वायुशुद्धिकी प्रयोग्यता—(६) एक जलशुद्धि भी है। कितनी ही चीजें जलसे भी शुद्ध हो जाती हैं। जैसे कीचड़ लग गया तो उसे जलसें धो दिया, शुद्ध हो गया, जलसे नहा लिया, शुद्ध हो गया। तो यह शरीरकी शुद्धि भी किसी हद तक ठीक है। शरीरकी शुद्धि हुए बिना मनमें पवित्रता न आयगी, मगर इससे आगे बढ़कर विचारो कि स्नान कर लेनेसे कहीं खून, मांस, हड्डी आदिमें तो कोई परिवर्तन नहीं हो गया, वे तो ज्योंके त्यों अपवित्र हैं, मगर धर्मभावनाकी उत्कृष्टता होनेसे इस शरीरकी अशुचितामें भी परिवर्तन हो जाता है। अरहंत प्रभुका शरीर स्फटिक मणिकी तरह निर्दोष हो जाता है मगर इसही बाहरी विकल्पमें रहकर कोई निर्णय बनाले कि हम शुद्ध हो गये तो वह शुद्ध नहीं है। शरीर अशुचि हैं। इस अशुचि शरीरको कितना ही नहलवाया जाय पर शुद्ध न होगा फिर भी धर्मायतनमें शुद्धि आवश्यक बताया है। अब कोई इस वाह्य शुद्धिको ही धर्म समझले तो यह उसकी लोकमूढ़ता है। उस लोकमूढ़ताका आधार है परभाव मूढ़ता, सभी भावोंका आधार है परभाव मूढ़ता, देवमूढ़ता या पाखंड मूढ़ता। सबका बीज है परभाव मूढ़ता। परपदार्थमें मुग्ध हो गए और जिन परका लगाव करके भाव बनाये गये उन भावोंमें मुग्ध हो गये, यह बात तीन मूढ़तावोंमें पायी जाती है। (७) एक शुद्धि है वायुशुद्धि—कितनी ही चीजें वायुसे शुद्ध होजाती हैं। जैसे काठका कमण्डल जो त्यागी लोग रखा करते, यद्यपि उसीसे शौच जाते, स्नान करते, लोगोंकी दृष्टिसे वह अपवित्र जैसा हो जाता फिर भी उसे राखसे मलने अथवा अग्निमें तपानेकी जरूरत नहीं रहती, वह वायुसे ही शुद्ध हो जाता है।

ज्ञानशुद्धिकी विशेषता—कितनी ही शुद्धियां ज्ञानसे, कल्पनासे हो जाती हैं। तो ये सब शुद्धि हैं। अशुद्धताका संकल्प मिट गया ऐसी शुद्धि, ये सब चलती हैं लेकिन इन बातोंमें और इससे बढ़कर नदी स्नान समुद्र स्नान, उनका पर्व मनाना, समारोह मनाना यह सब तो लोक मूढ़ता कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके लोकमूढ़ता नहीं पायी जाती। पहले यह ही ध्यान दें—बालूक ढेर लगाना और पर्वतसे गिरकर मरण करके धर्म मानना और और कितनी ही बातें, बच्चोंको तकलीफ हुई तो चलो किसी देवताको मनायें, जिसमें व्यन्तरपनेकी मान्यता की उसे मनायें, कोई जंत्र मंत्र करवायें, ये सब बातें लोकमूढ़तामें शामिल हैं। ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो कि मेरेको तो आत्मास्वरूपसे प्रयोजन है और आत्मस्वरूपका जिसके विकास हो और आत्मस्वरूपके विकासका जिसमें उपाय लिखा और आत्मस्वरूपके विकासमें जो प्रयत्न कर रहे हैं उनका प्रयोजन हैं, वे हुए देव, शास्त्र, गुरु और स्वयं हुआ अपना अंतस्तत्त्व। इसके अतिरिक्त मेरेको धार्मिक मामलेमें कोई दुःख नहीं है। हां दूकानमें बैठकर कुछ कमायी करनेसे मतलब है, ग्राहकोंसे मतलब है, लिखा पढ़ी करनी पड़ेगी, इन सबके बिना गृहस्थीमें रह कैसे सकेगे वे जिनमें इतनी हिम्मत नहीं हैं कि गृहस्थी त्यागकर निर्विकल्प होकर अपने रत्नत्रय धर्मकी आराधनामें सारे क्षण बितायें। जब गृहस्थीमें रहना पड़ रहा है तो गृहस्थोचित्त कार्य करने ही पड़ेंगे मगर सम्यग्दृाष्ट का चित्त सावधान हैं, वह जानता है कि मुझे वास्तवमें करना क्या है। मानलो यहां खूब धन कमाते चले गये, करोड़ो अरबोंका वैभव जोड़ लिया, फिर भी आखिर होगा क्या उसका? वह सब छोड़कर जाना पड़ेगा। ये सब बाहरी बातें हैं, मानलो परिजनोंसे खूब प्रीति की, आशक्ति की और उनके मोहमोहमें ही सारी जिन्दगी गुजार दिया, पर अन्तमें लाभ क्या मिलेगा इस जीवको सो तो बताओ? लाभकी तो बात दूर रहो, जीवनभर जो मोहवासना बढ़ाया उससे बिकट पाप बंधेगा, जिसके फलमें वह दुर्गतियोंमें जायगा। तो इस जगतमें जो कुछ भी समागम मिले हैं उनमें आसक्त होनसे इस जीवको इस समय भी हाथ कुछ नहीं लगता और आगे भी उससे कुछ हाथ न लगेगा। ये बाह्य समागम सुख शान्तिके आधार नहीं बल्कि ये सब दुःखरूप हैं। सुख शान्ति तो मिलती है अपने ज्ञानसे, किसी पर वस्तुसे नहीं। हाँ परवस्तु आश्रय भूत हैं। किसको उपयोगमें लेकर किस तरहका ज्ञान बनायें जिससे किस तरह का सुख अथवा दुःख मिले, यह सब उसके ज्ञानपर निर्भर है।

सांसारिक सुखोंकी क्षोभरूपता—संसारके सुखोंमे तो वस्तुतः दुःख ही बसा हुआ है, सुख के साथ क्षोभ बराबर चल रहा है। क्षोभ रागसे भी होता द्वेषमें भी होता। द्वेष में क्षोभका पता जल्दी पड़ जाता, रागमें क्षोभका स्पष्ट पता नहीं पड़ पाता मगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो सब पता पड़ जाता है। जैसे एक उदाहरण लो—मानलो कोई भोजन कर रहा है, तो उस समय वह सुखका अनुभव कर रहा है, पर बताओ उस सुखकी स्थितिमें उसे क्षोभ है कि नहीं? है, क्योंकि वह एक कौर मुखमें रखे है, दूसरा हाथसे तोड़ रहा है और तीसरे कौरके लिए उसके विकल्प बन रहा कि इस कौरके बाद मुझे अमुक चीज खाना है। तो वहां आकुलता बिना खाने का सुख भी नहीं मिल रहा। तो ऐसे ही समझ लो कि संसारके सारे सुख क्षोभसे, आकुलतासे, दुःखसे भरे हुए हैं। अब यदि इन बाहरी पदार्थों को आश्रय बनाकर हम सुख मौजके लिए ही अपने जीवनका निर्णय बनायें तो यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं

है। बाहरी पदार्थोंको अपने मनके अनुकूल परिणमाना, मनचाही व्यवस्था बनाना यह मेरे आत्माके आधीन बात नहीं है। ये सब बातें पुण्य पापके उदयके अनुसार चलती हैं। तो अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि करना, उसकी धुन बनाना, उसका संस्कार बनाना, उसे ही ध्यानमें रखना, यह बात आपके आधीन है। यद्यपि यह बात कठिन लग रही है इस कारण पराधीनसा चल रहा यह काम, क्योंकि कर्मके उदय, कर्मके संस्कार ऐसे बसे हैं कि वह काम बड़ा कठिन जंच रहा किन्तु किस पदार्थके आधीन है वह दृष्टि सो तो बताओ? कोई विधिरूप अन्य पदार्थके आधीन हो आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान, आत्ममनन तो बताओ? केवल अपनेको करना है, अपनेमें अपनेसे होना है, भले ही आज वह मुस्किल है विषय वासनाओंका संस्कार होनेसे, पर उसके छोड़नेका यतन तो कीजिए। वह यत्न है ज्ञानदृष्टि। ज्ञानका सही स्वरूप क्या है वह अपने उपयोगमें समाया रहना चाहिए। विकृत रूपकी बात नहीं कह रहे, नैमित्तिक रूपकी बात नहीं कह रहे, मगर अपनी दृष्टि कहां लगाना, किसका ध्यान करना, इसको सोचना चाहिए।

ज्ञानबलसे निज स्वरूपास्तित्त्वके ग्रहणकी संभवता—भले ही आज आत्मा प्रकट रूपसे अकेला नहीं है, यह तीन प्रकारके पदार्थोंका मेल है और उसीसे यह पर्याय हुई है। इतना होनेपर भी सत्त्व तो सबका न्यारा-न्यारा है। मिले हुए इस ढ़ंगमें भी हम ज्ञान द्वारा केवल अपने सत्त्वको जान नहीं सकते क्या? दूधमें घी प्रकट नहीं है आंखों से नहीं दिख सकता, अंगुलीसे उठाकर नहीं बता सकते कि यह है घी, यहां है घी, मगर उसकी चिकनाई देखकर ज्ञानके बलसे आप निशंक कह बैठते हैं कि इस किलोभर दूधमें एक छटांक घी है। तो ज्ञानमें वह कला है कि जो बात सामने प्रकट नहीं है उस बात को भी यह ज्ञान पकड़कर, खींचकर निकाल लेता है। आज हम किस स्थितिमें हैं इस ढगकी बात चल रही है। जो दशा आज हम आपकी चल रही वह तो चल ही रही, उसे मना तो नहीं किया जा सकता। विकार चल रहे, विभाव बन रहे, पर ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि इस विकृत अवस्थामें भी हम स्वरूपास्तित्त्वको ज्ञानमें लेकर ज्ञान द्वारा परके स्वरूपास्तित्त्वसे पृथक् हो सकते हैं। जो चैतन्य अस्तित्त्वसे रचा है वह है जीव और जो पुद्गलके अस्तित्त्वसे रचा है वह है पुद्गल। हम यहां भेद कर लेते हैं तो इस ही ज्ञानदृष्टि को और सूक्ष्म करके हम अपने स्वरूपास्तित्त्वको समझें। अगर इस हालतमें हम केवलीको जान सकें और उस केवलीकी धुन बना सकें तो हम कभी केवल बन जायेंगे। पर इस हालतमें करना सब है। क्या क्या नहीं करना होता? चरणानुयोग शास्त्रमें जो बताया है उसको किए बिना गुजारा नहीं है, कोई कर ही नहीं सकता गुजारा, मगर ऐसे चरणानुयोगके अनुसार व्रत विधानके करने पर उनसे ही गुजारा होता। हम किसके बल पर आगे बढ़ रहे हैं वह है ज्ञानबल, ज्ञानदृष्टि। स्वरूपास्तित्त्व मात्रसे जो बात है उसका चलना, उसकी धुन, उसे ही अपनाना यह मैं हूँ, इस प्रकारके भीतरके ज्ञानको बसानेका माहात्म्य है कि हम आगे बढ़ते हैं। तो यही एक अपना कर्त्तव्य है कि व्यवहारचारित्र चरणानुयोगकी बातें, उनके अनुसार अपना जीवन गुजारते हुए भीतर में ज्ञानकी मुख्यता रखें। अपना ज्ञान बढ़ायें अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करें उसका ही बार-बार अनुभव करें तो ये सारे रागद्वेषादिक विकार मेरेसे दूर हो जायेंगे।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥ २३॥

आत्मकल्याणका सम्यक्त्वसे प्रारम्भ—इस जीवकी भलाई का प्रारम्भ सम्यक्त्वसे होता है। सम्यक्त्वमें आत्माके सहज स्वरूपका आत्मरूपसे अनुभव होता है। मैं क्या हूँ इसका उत्तर सम्यग्दृष्टिके यह है कि मैं सहज चैतन्य स्वभावमात्र हूँ। त्रिकाल अविनाशी अमूर्त ऐसे सहज चैतन्यस्वभावमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव होना यह है सम्यग्दृष्टि का परिणाम और मिथ्यादृष्टि सहज आत्मस्वरूपके विपरीत परभावमें या एक पदार्थमें यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकारका सम्वेदन करते हैं। यहाँ हम आप जितने लोग बैठे हैं ये सब प्रत्येक तीन चीजोंके पिण्ड हैं, तीनका समुदाय है—(१) जीव (२) शरीर और (३) कर्म। शरीर को तो स्पष्ट जान ही रहे हैं जिसमें ये सब बाधायें आ रहीं। और जीव भी अपने आप जान रहे, और आपके भीतर जो अनुभव चलते हैं उन्हें भी आप समझते हैं, और जीव जब ज्ञानस्वरूप है तो उसमें विकारका काम क्यों होता है? और हो तो रहा, तो उससे सिद्ध है कि जीवके साथ कोई एक चीज और लगी है जिसका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष विकार चलते हैं। तो यह तीन चीजोंका पिण्डोला है। अब कल्याण इसमें है कि यह तीन चीजोंका पिण्डोला न रहे और केवल आत्मा ही आत्मा रहे! जीव, शरीर और कर्म ये तीनों पृथक्-पृथक् हो जायें। ऐसी स्थितिमें कल्याण है और सिद्ध भगवान कहते भी उसे हैं कि जहाँ केवल वही वही एक जीव अकेला रह जाय। तो एक बहुत मोटी सी बात यह है कि अपनेको अकेला अनुभव करें। मिला हुआ या समागम वाला अनुभव करना ये तो सब धोखेकी बातें हैं। अपनेको अकेला अनुभव कीजिए, अकेला निरखिये, अकेलेमें ही शान्त होइये। यह प्रकृति बनाइये और फिर परमार्थ अकेलापन भी निरखिये। मैं अमूर्त चैतन्यमात्र हूँ। यह इतना ही रहे, इसमें अन्य रागादिक विकार न आयें इसीको कहते हैं परमात्मस्वरूपका होना।

केवल सहजस्वरूपमात्रकी वृत्तिमें परमात्मत्व—आत्मा परमात्मा होता है। परमात्मा होनेके लिए आत्मामें कुछ चिपकाया नहीं जाता, किन्तु यह आत्मा केवल अकेला रह जाय बस इसीको कहते हैं परमात्मा हो जाना। कितना सुगम उपाय है भगवन्त होनेका, कितना सुगम सरल उपाय है जो मैं हूँ, एक अकेला सो यह ही मैं रह जाऊं, इसीको कहते हैं सिद्धभगवान होना। सो सिद्ध प्रभु होनेके लिए नई चीज आत्मामें नहीं लगाना है किन्तु आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप वाला है, इसको ढाकने जो वाले विकार हैं, कर्म हैं इनको दूर करना है, भगवान अपने आप प्रकट होगा, जैसे पाषाणकी मूर्ति बनाना है। मानो बाहुबलिकी मूर्ति बनवाया तो उसे मूर्तिको बनानेके लिए कोई नई चीज नहीं चिपकाना है उस पाषाणमें किन्तु मूर्ति का आवरण करने वाले जो अगल-बगलके पत्थर हैं उनको छेनी हथौड़ेसे हटाना है ऐसा ही किया जाता है मूर्ति बनाने के लिए केवल हटाया-हटाया ही जाता है चिपकाया कुछ नहीं जाता और उस हटानेके साधनसे हटते-हटते जब परभाव सब हट गये तो वह मूर्ति जो थी, जो वहांके अंग थे, जो वहांके पाषाण थे बस वे प्रकट हो गए। इसी तरहसे आत्माको परमात्मा होनेके लिए कोई नई चीज आत्मामें नहीं चिपकानी है किन्तु इस आत्माका आवरण करने वाले विषय कषाय कर्म आदिक

इनको हटाने-हटानेका ही काम है। हट-हटाकर सब हट जायेंगे तो वह स्वरूप जो था वह सब प्रकट हो गया।

स्वयंमें स्वयंको निहारनेका अनुरोध—भैया, अपनी दृष्टि कीजिए। मेरा मैं जिम्मेदार। मेरा मुझसे ही उत्थान, मैं ही अपनेको पतनमें ले जाता, इन सब बातोंमें निमित्त तो है, पर निमित्त परिणमाता नहीं हैं, पर उसके सान्निध्यमें विकार रूप परिणमन हो जाता है, तो मतलब अपना खुद जिम्मेदार है यह जीव। इसका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं है। खुदके लिए खुद ही महान है यह जीव। खुदका उत्थान करने वाला खुद है यह जीव। सो अपनेमें ही अपना सब कुछ निहारें। व्यर्थमें परद्रव्योंमें मोहभाव करके, लगाव करके, इस भवमें भी अपनेको दुःखी बना रहे हैं और आगे भी अपनेको दुःखी बनायेंगे। मोह करना कितना बेकार है। इससे पहले भवमें भी तो कुछ मिला होगा ना? वहां भी मोह किया था। पर क्या है वहां का आज साथ सो तो बताओ? जैसे पूर्वभवकी कुछ भी चीज आज आपके पास नहीं है इसी तरह इस भवकी भी बात संगति संग समागम आँखें मिच जानेपर क्या रहेगा साथ? कुछ नहीं। सब भिन्न द्रव्य हैं, पर उनमें लगाव ममता कर करके अपनेको कष्टमें डाला जा रहा है।

मूढ़तामें स्वयंकी सुधका अभाव—कभी राजा भोजका जमाना था वह कवीश्वरोंको एक-एक काव्य पर लाखोंका इनाम दे देता था। यह बात खूब फैल चुकी थी। तो एक बार चार देहातियोंने सोचा कि हम लोग भी कोई कविता बनाकर ले जायें और राजासे मनमाना इनाम पायें। अब वे पढ़े लिखे तो थे नहीं, गंवार थे। वे कविता बनाना क्या जानें, पर इनामके लालचमें चल दिये राजा भोजके पास। रास्तेमें जाते हुए चारों लोगोंने देखा कि एक जगह एक बुढ़िया रहटामें सूत कात रही थी और वह रहटा चनर-मनरकी आवाज करता हुआ भन्ना रहा था। सो वह दृश्य देखकर एक देहाती बोला मेरी कविता तो बन गई।··· सुनावो। चनर-मनर रहटा भन्नाव।··· बहुत ठीक। कुछ आगे बढ़ने पर क्या देखा कि एक तेलीका बैल खली भुस खा रहा था। तो उस दृश्यको देखकर दूसरा देहाती बोला—मेरी भी कविता बन गई। अच्छा सुनावो।··· तेलीका बैल खली भुस खाय।··· बहुत ठीक। कुछ और आगे बढ़ने पर क्या देखा कि कोई धुनिया अपने कंधे पर एक पींजना रखे हुए चला आ रहा था। वह पींजना बिल्कुल धनुषबाण जैसा लग रहा था, सो उसे देखकर तीसरा देहाती बोला—वहांसे आ गये तरकस बंद। अब तीनकी कविता तो बन गई, चौथेसे न बन पायी। उससे भी कविता बनानेको कहा पर उससे बनी नहीं। तो तीन देहाती बोले—हम लोगोंको जो इनाम मिलेगा उसेमें तुम्हारा हिस्सा न लगेगा, हम तीनों बांट लेंगे। तो वह चौथा देहाती बोला—हम इस तरहसे पहलेसे कविता न बनाकर रखेंगे। उसी मौके पर सहसा ही जो कविता बन जायगी उसीको सुना देगे। ठीक है। अब चौथे देहातीने क्या कविता बनायी सो जो हम कविताका चौथा चरण बोलें उसे चौथेकी कविता जानना। सो जब राजा भोजके दरबारमें वे पहुंचे तो द्वारपालसे बोले जावो राजा को खबर कर दो कि आज चार महाकवीश्वर आये हैं अपनी-अपनी कवितायें सुनानेके लिए। द्वारपालने राजाको खबर दिया तो राजाने आदर सहित उन्हें बुलवाया। और और भी अनेक विद्वान कवि वहां आये। सभीने अपनी-अपनी कवितायें सुनायीं। जब उन चारों देहातियोंका कविता सुनानेका नम्बर आया तो चारों खड़े हो गये

और बारी-बारीसे बोलने लगे, अब यहां ध्यान देना कि चौथे देहातीने अपनी क्या कविता सुनायी थी। ··· चनर-मनर रहटा भन्नाय। तेलीका बैल खली भुस खाय। वहांसे आ गए तरकस बंद। राजा भोज है मूसरचंद॥ अब इस कविता को सुनकर सभी लोग दंग रह गए। यह क्या कहा गया इस कवितामें? कोई खास कविता भी नहीं जचीं। खैर राजा भोजने वहां बैठे कुछ पंडितोंसे कहा कि आप लोग इनकी कविताका अर्थ लगाये अब क्या अर्थ लगायें यह किसी की समझमें न आया। वहां कोई एक विद्वान वृद्ध पंडित बैठा था वह खड़ा होकर बोला—हम बताते हैं इस कविता का अर्थ। यह कविता बहुत ऊंची है। इसमें बड़ा मर्म भरा है। पहले महाकवीश्वरने यह कहा था कि चनर-मनर रहटा भन्नाय, मायने यह जीव हम आप रात-दिन अपने जीवनमें चनर-मनर करने वाले रहटाकी भांति भन्नाते रहते हैं, दूसरे कवीश्वरने यह कहा कि तेलीका बैल खली भुस खाय, इसका अर्थ है कि जैसे तेलीका बैल रातदिन जुतता और रुखा-सूखा खली भुस खाकर अपना समय बिताता ऐसे ही हम आप रात-दिन दुनियावी कामोमें जुतते रहते जहां खाने-पीनेकी भी फुरसत नहीं। आरामसे बैठकर खा पी भी नहीं सकते। जल्दी- जल्दीमें कामसे आये और जो रूखा-सूखा मिल गया वह जल्दीसे खाकर फिर काममें लग गए। तीसरे कविने यह कहा कि "वहांसे आ गए तरकस बंद" इसके मायने हैं कि हम आंपका सारा जीवन बीत गया बाहरी दंद फंदमें, अन्तिम समयमें काल (यमराज) आ गया याने मृत्यका समय निकट आ गया। अब चौथे कविने यह कहा कि राजा भोज है मूसरचंद, मायने दशा तो इस प्रकारकी है फिर भी ये राजा भोज इतने मूर्ख हैं कि जरा भी कुछ खबर नहीं। व्यर्थ ही बाहरी-बाहरी बातोंमें पड़कर अपना जीवन गुजार रहे हैं। इस प्रकारके मार्मिक अर्थको सुनकर सभीको भारी चेतावनी मिली। राजा भोज बड़ा प्रसन्न हुआ और उन चारों देहातियोंको भारी पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया।

संसरण व असंसरणकी अभिलष्यताकी छांट—अब आप विचारिये कि आपको इस संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाते रहना पसंद है या इससे छुटकारा पाना पसंद है। खूब विचार लीजिए। यदि संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाते रहाना ही पसंद है तो उसका उपाय यही है कि इस शरीरको आत्मारूपमें समझते रहो, याने इस शरीरमें ही आत्मीयता की बुद्धि बनाये रखो, जैसा कि अभी तक बनाते रहे, बस ये शरीर, ये जन्म मरण बराबर मिलते रहेंगे और यदि न चाहिये ये शरीर, न चाहिए संसारमें जन्म मरणका चक्र तो उसका उपाय यही है कि इस शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि न रहे, अपनी ऐसी दृष्टि रहे कि इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ। चैतन्यस्वरूप हूँ, यह शरीर रूप मैं नहीं हूँ इस प्रकारका बोध रहे, बस ये जनम मरणके संकट टल जायेंगे। सो अपनी जिन्दगी मानो आत्मकल्याणके लिए। खूब परिवार, धन वैभव आदिक बाह्य समागमोंका बढ़ाना यह जीवन कोई सारभूत जीवन नहीं है। ये सब चीजें तो भव-भवमें प्राप्त हुई। यह जीवन इसलिए है कि अपने आत्माका परिचय किया जाय। मैं वास्तवमें क्या हूँ। यह मैं हूँ ज्ञानस्वरूप। मैं हूँ आनन्दमय, सो अपने इस आत्मस्वरूपमें रमण करें, इसमें जीवनकी सफलता है। विषय कषायोंसे जीवन की सफलता नहीं है। तो यह सम्यक्त्व जिनके प्रकट हुआ है उनकी ८ अंगरूप स्थिति बनती है। यह पहले बताया था इसी ग्रन्थमें।

देवमूढ़तामें कल्याणकी असंभवता—आज सम्यक्त्वांगके विरुद्ध यह बता रहे हैं कि लोकमूढ़ता, देव मूढ़ता गुरु मूढ़ताके भाव करनेसे सम्यक्त्व नहीं रहता। देव मूढ़ताकी बात इस छंदमें कही है। इष्ट पदार्थोंकी आशा से मुझे धन मिले, मेरी मुकदमेमें विजय हो या पुत्रादिक हों, ऐसी आशा करके रागद्वेषसे मलिन देवतावोंकी उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है। इतना भीतर पक्का उत्साह रखें कि जब जो स्थिति आयगी उसीमें गुजारा कर लेंगे। मैं कोई आशा नहीं करता कि मेरेको ऐसी चीजोंकी प्राप्ति हो, क्योंकि सांसारिक चीजें जो मिलती हैं वे पुण्य पापके उदयसे मिलती है। संसारकी बातोंमें पुरुषार्थ गौण है पुण्यकी प्रधानता है, और मोक्षकी बातोंमें पुरुषार्थकी प्रधानता है, अन्यथा बतलावो विदेशोंमें जो कितने ही लोग करोड़पति अरबपति मिलते वे कहां आज वर्तमान में कुछ दानपुण्य धर्म-कर्म कर रहे, पर उन्हें सारे सुख समागम मिल रहे हैं। वह सब उन्हें पूर्वकृत कर्मके उदयसे मिल रहा, आज वर्तमान में जो करनी कर रहे उसका फल आगे मिलेगा। तो किसी बाह्य सुख समागम की आशासे भगवानकी भक्ति न करें। भगवानकी भक्ति करके उसके एवजमें किसी भी बाहरी चीजकी वाञ्छा न करें। यही भाव रखें कि हे प्रभो जिस उपायको करके आप तिरे उसी उपायको करके मैं भी तिर जाऊं, संसारके आवागमनसे मुक्त हो जाऊं, बस यही मैं चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिए। चाहे भगवानकी भक्ति करके या अन्य देवी देवताओंकी भक्ति करके यदि साँसारिक सुख साधनके पानेकी वाञ्छाकी जा रही है तो वह देवमूढ़ता कहलायेंगी। चाहे कितनी ही मिन्नतें कर ली जावें किसी देवसे पर वह कुछ देने न आयगा। हाँ आपके ही पुण्यका उदय है तो वह चीज आपको थोड़ेसे ही प्रयाससे प्राप्त हो जायगी। भगवानकी भक्ति करके इन बाहरी बातोंकी ओर दृष्टि न रखें, दृष्टि रखें अपने आत्मस्बभावकी ओर। उसके फलमें अवश्य ही कोई ऐसे बानक बनेंगे कि सभी सांसारिक चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती रहेंगी और निकट कालमें ही मुक्ति प्राप्त होगी। अपना एक यह दृढ़ विश्वास रहे कि मैं आत्मा स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरे में से ही वह आनन्दपर्याय प्रकट होती है, मेरे ही ज्ञानगुणमें से ज्ञानपरिणमन प्रकट होता है। मैं खुद ज्ञानानन्दस्वरूप हूं ऐसा जान कर इस निज तत्त्वमें ही अपने आपको विश्राम, आराममें ले जाना, और वहाँ ही रमाना, यह काम है जीवनमें करनेका।

देवमूढ़ताकी अनर्थकारिता—न जाने कितने ही कार्य धर्मबुद्धिसे लोग किया करते है। बड़े-बड़े ब्रत, तप आदि करते, बड़े-बड़े कष्ट सहते, बड़े-बड़े यज्ञ समारोह आदिक धार्मिक क्रियाकाण्ड करते। न जाने क्या-क्या करते? घरके किसी बड़ेके मर जानेमर लोग धर्म बुद्धिसे श्राद्ध करते, बड़े-बड़े खर्च करते। अरे जब तक वह जीवित रहा तब तक तो उसकी एक बात न पूछा और उसके न रहने पर बड़े खर्च करते तो यह तो धर्मका ढोंग कहलाया। उसके जीते जी यदि उस खर्च किये जाने वाले धनका १०० वां हिस्सा भी उस मरने वालेके लिये खर्च कर देता तो वह भला था। मरनेके बाद उसके पीछे कितना ही कुछ खर्च करना किस काम का? तो ऐसी कितनी ही देवमूढ़ताकी बातें हैं। इन सबका आधार क्या ? परभावमूढ़ता। परपदार्थोंमें मुग्ध हो रहे, आत्माकी महिमा नहीं जान पायी कि स्वयं भगवान आत्मा कैसा है? मेरा जो कुछ प्रकट होता है, वह मेरे में से प्रकट होता है, कहीं बाहर से प्रकट नहीं होता। कितने ही देवताओं की आराधना करलें मगर मेरा हित उन देवताओंकी आराधनासे नहीं

है। हम यहां अरहंत सिद्धकी आराधना क्यों करते हैं? वे भी तो परभाव हैं, उनकी आराधना इसलिए करते कि उनका स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है और जो उपाय करके उन्होंने सुख पाया है, मोक्ष पाया है वह उपाय मैं भी बना सकता हूँ और मैं भी मोक्ष पा सकता हूँ, ऐसी समानताके कारण अरहंत सिद्ध भगवान की भक्ति की गई, पर देने वाला मुझको कोई दूसरा नहीं है। तीन चीजें होती हैं—(१) धर्म, (२) पुण्य और (३) पाप। इनमें पाप तो कहलाये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिक और पुण्य कहलाये दान, पुण्य, पूजा भक्ति आदिक और धर्म कहलाया, रागद्वेष न करके केवल ज्ञातादृष्टा रहना। सो पाप तो अत्यन्त हेय है, उन्हें तो कभी करना ही न चाहिए, और उन पापोंसे बचनेके लिए पुण्य बताया है। पुण्य भावसे योग्यता बनानेके बाद फिर धर्ममें लीन होनेके लिए पुण्य पाप अपने आप छूट जातें हैं। लक्ष्य होना चाहिए अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका वह जिनको प्रकट हो गया वे कहलाते हैं देव, पर रागीद्वेषी आत्माको देव मानना, उनकी आराधना करना यह सब देवमूढ़ता कहलाती है। सो सम्यग्दृष्टि जीव देवमूढ़तासे दूर रहता है।

ज्ञानदृष्टिमें आत्मप्रसन्नता—देखिये जीवको सबसे अधिक प्रिय चीज क्या है? लोग कहेंगे कि धन वैभव, कुटुम्ब परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदिक, पर ये कोई वास्तविक प्रिय नहीं हैं। इसं जीवको प्रिय है अपने आत्माका स्वरूप, आत्माका ज्ञान। आत्मा को आत्मा ही प्यारा होता है। मानलो किसी पर कोई संकट आ गया तो यह खुदकी जान बचायेगा और वही मानलो मुनि हो गया, सच्चा ज्ञानजग गया और उस स्थितिमें कोई प्राण भी ले तो वह प्राणोंकी परवाह नहीं करता किन्तु अपने ज्ञानकी सम्हाल करता है। तो इस जीवको सबसे अधिक प्रिय चीज है ज्ञान। इससे अपना एक निर्णय यही रहे कि हर स्थितियोंमें अपने ज्ञानकी सम्हाल बनाये रहें। पर पदार्थोंको असार समझकर उनसे उपेक्षा का भाव रखें।

यहां कोई भी बाह्य पदार्थ सुख दुःख का देने वाला नहीं है। मेरे ही ज्ञानकी सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणतिसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। सो जब यह जान जायेंगे कि मैं तो केवल आत्मा हूँ और ये शरीरकर्म आदिक सब जड़ पुद्गल हैं। ये सब बाहरमें दिखने वाले समागम जड़ हैं, पर पदार्थ है किसी भी पर पदार्थसे मेरेमें कुछ न आयगा। मैं पर पदार्थोंमें कुछ नहीं करता, केवल ख्याल ही ख्याल करके विकल्प किया करते, तो उन पर पदार्थोंमें करने धरनेकी बुद्धि त्यागकर अपने को ज्ञानरूप अनुभव करें, अन्य कुछ न चाहिए। एक अकबर बीरबलका चुटकुला है कि एक दिन अकबर बादशाहने बीरबलको नीचा दिखानेके लिए कहा कि मंत्रिवर, आज मैंने रात्रिको ऐसा स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों कहीं घूमने जा रहे थे, रास्तेमें दो गड्ढे मिले, एक गड्ढेमें भरा था गोबर विष्टा और एकमें भरी थी शक्कर सो तुम तो उस गोबर विष्टा वाले गड्ढेमें गिर गए और मैं गिर गया शक्कर वाले गड्ढेमें तो उसकी बात काटकर बीरबल बोला—महाराज मैंने भी ठीक ऐसा ही स्वप्न देखा जैसा कि आपने देखा, पर इससे अधिक एक बात और देखा कि आप हमको चाट रहे थे और हम आपको। अब बताओ—बीरबलने क्या चाटा? शक्कर, और अकबर बादशाहको क्या चटाया? ··· गोबर विष्टा। तो ऐसे ही समझलो कि यह गृहस्थीका निवास गोबर विष्टामें रहने जैसा जीवन है मगर अपनी दृष्टि

महिलाने क्या किया कि पहले से ही नीमकी दो छोटी-छोटी टहनियां ले लिया और जब परीक्षाके समय उससे तेलमें हाथ डालनेको कहा गया तो झट उसने उस खौलते हुए तेलमें दोनों टहनियां डाला और दोनों हाथोमें एक-एक टहनी लेकर वहां उपस्थित लोगोंके ऊपर तेल छिड़कना शुरु कर किया। जब तेलके छीटेंसे लोग जलने लगे तो लोगोने वहांसे भागना शुरुकर दिया। किसीने कहा उस महिलासे—अरे यह क्या कर रही हो? तो महिला बोली हम भी तुम सबके शील की परीक्षा कर रही हैं। पहले तुम्हारे शील की परीक्षा करलें बादमें अपने शीलकी परीक्षा दें। तो भाई यह कोई निमय तो नहीं है कि संकटके समय किसी दूसरेसे रक्षा हो ही हो। हां जब खुदके पुण्यका उदय होता है तो उस समय दूसरे भी उसके रक्षक बन जाते हैं।

पुण्यविपाकमें सुख साधनोंका लाभ—यहां जो जो भी सुख समागम प्राप्त होते हैं वे सब पुण्यके उदय से प्राप्त होते हैं, उनका संचय करनेके लिए लोग तो बड़े-बड़े छल कपटके काम करते हैं, पर छल कपट करनेसे उनका लाभ हो हो यह कोई नियम नहीं। आखिर कर्म सबके साथ लगे हैं। खोटे कार्य करके कोई लाभ चाहे तो यह हो कैसे सकता? कदाचित खोटे कार्य करते हुए भी लाभकी बात दिख रही हो तो यह समझो कि वह सब पूर्वकृत पुण्यके उदय से मिल रहा, कहीं छल कपट करनेसे नहीं मिल रहा। तो यह सब निर्णय जानकर किसी देवी देवतासे कोई याचना न करना और यहाँ तक कि धर्म करते हुए सुदेवसे भी कोई याचना न करना। केवल यही अभिलाषा रखें कि हे प्रभो जैसे आपने ज्ञान पाकर संसार संकटोंसे मुक्ति प्राप्त की ऐसे ही हम भी अपना विशुद्ध ज्ञानप्रकाश पाकर इस ही ज्ञानमें रमकर संसारके संकटोंसे मुक्त होवें। यही भावना रखें प्रभुके दर्शन, पूजन, बंदन आदिमें।यदि देवी देवता कोई भी किसीका दुःख हर सकते होते तो आप बतलावो ऋषभदेव जिस समय मुनि हुए, उस समय ६ माह तक तो उन्होंने उपवास किया और फिर ६ माह तक अन्तराय हुए, उन्हे भोजन न मिला तो वहां देव कहां चले गये थे? अरे वे देव तो अविधज्ञानी होते वे देव तो भगवानके गर्भ कल्याणमें आयें, जन्म कल्याणकमें आयें, अब उस समय वे देव कहां चले गए थे? तो ये सब पुण्यधीन बातें हैं। यहां कोई देवी देवताके प्रति यह भाव न रखें कि ये हमारा इस प्रकारका काम कर देंगे। अरे करें या न करें ये सब बाहरी बातें हैं। धन वैभव हो तो हो, न हो तो न हो, आत्माका परिचयआत्माकी दृष्टि रहे तो समझो कि मेरे पास सारा वैभव है। सो प्रायः करके लोग मिथ्यादृष्टि देवोंमें मनौती अधिक करते हैं, देवी दहाड़ी, शातिला, न जाने क्या-क्या? तो जो स्वयं दुःखी हैं, अज्ञानी हैं उनसे किसी इष्टकी याचना करना, इसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? सो ऐसे अनेक प्रकारके चाहे भगवानके सेवक कह कर भी देव देवताओंकी मनौती करे लेकिन वह देव नहीं। बस देव हैं तो एक वीतराग सर्वज्ञ प्रभु हैं।

देव और कुदेवके लक्षण व देवमूढ़ताका हेयपना—देवकी पहचान यह है कि जिसमें गुण तो पूरे हों और दोष जरा भी न हों बस वही भगवान है। एक कुञ्जी है। यह आत्मामें गुण क्या? ज्ञान और आनन्द। ये जिसके पूर्ण विकसित हुए हों। और दोष क्या? ये क्षुधा आदिक दोष जिसके रंच भी न हों। जिनकी भक्तिके प्रसादसे हमारे आत्माके स्वरूपकी खबर होती है। हम अपने समाधिभावको प्राप्त हो सकते हैं। यह प्रभुकी भक्तिका उपकार है। सो एक वीतराग सर्वज्ञदेवको

ज्ञानस्वभाव पर रहे तो स्वाद आयगा आत्मानुभवका। मानलो कोई घर गृहस्थी छोड़कर निर्ग्रन्थ हो *जाय और चित्तमें गृहस्थी बसाये* रहे तो उसे तो स्वाद आयगा गोबर विष्टाका याने गृहस्थीका, निर्ग्रन्थताके पदका स्वाद न आयगा। इसलिए अपनी दृष्टि निर्मल रखें, ज्ञानस्वभावको अपने लक्ष्यमें रखें कि यही मैं हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, अन्य इस संसारमें मेरा कुछ नहीं हैं। जो जीव अपने सही स्वरूपको निरखता है, उसीको दृष्टिमें रखता है उसकी प्रतीतिसे रहता है उसके पवित्रता है और वह व्याकुल नहीं होता। व्याकुलतो तो मोहमें हुआ करती है। जहां किसी परपदार्थमें यह मैं हूँ, यह मेरा है इसको मैं यों कर सकता हूँ, यह मुझे यों सुख देगा आदिक कल्पनाऐं जगती हैं उन कल्पनाओंसे कष्ट होता है। आत्मा सीधाका सीधा जैसा का तैसा केवल जाननहार रहे तो उसमें कष्टका क्या काम? पर नहीं रहता इससे कष्ट आते हैं।

कष्टोंसे बचनेके लिए देवीदेवताओंसे याचनाकी व्यर्थता—मिथ्यात्वके उदयमें उन कष्टोंसे बचने के लिए ये संज्ञी जीव नाना देवीदेवताओंकी मनौती करते हैं—मेरा कष्ट ये बचाते हैं, पर जैसे यहां मनुष्योंमें किसी के पुण्यका उदय है तो पड़ोसी लोग भी उसके मददगार बन जाते हैं। मुख्य तो पुण्योदय है। ऐसे ही कदाचित पुण्योदयमें कोई देव भी मददगार बन जाय तो उसमें मुख्य तो पुण्योदय है। भले ही ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं। उनमें एक सीताजी का ही दृष्टान्त ले लो। जब सीताजी को अग्निकुण्डमें प्रवेश करनेका विधान हो रहा था उस समय देव कहीं तीर्थंकरके समवशरणमें जा रहे थे। रास्तेमें उन्हें यह कौतूहल दिखा तो उनके मनमें आया कि कहां तो ऐसी शीलवती धर्मात्मा सीता और कहां यह भीषण अग्निकुण्ड, इससे सीता का जल जाना ठीक नहीं, यह विचार कर वहां थोडी देरको रुक गए और जब सीताने अग्निमें प्रवेश किया तो उन देवोंने अपनी मायासे जलका तालाब सा बना दिया और वहां कमल खिल गये तो यह घटना हो गई मगर इस घटनासे कहीं यह नियम तो नहीं बना कि शीलकी परीक्षाके लिए आप यों कहने लगें कि धरो आगपर हाथ। तो ऐसा नियम नहीं है कि जितने शीलवाँन हैं उन सबकी देवताओंने सहायताकी हो। सुकुमाल, सुकौशल, पांडव आदि अनेक शीलवान पुरुष हुए, पर किसने उनकी रक्षा की? जब वे अग्निमें जलाये गए, या गीदड़ीने उनका भक्षण किया तब कहां गये थे देवलोग? क्या ये देव उस समय न थे? तो वह तो अपने-अपने पुण्यके आधीन बात है। जब खुदके पुण्यका उदय होता है तो कोई न कोई बानक ऐसा बन जाता कि उसका वह संकट टल जाता, नहीं तो कोई यह नियम नहीं कि यह संकट टले ही टले। पंजाबकी एक घटना सुना है कि किसी पुरुषको अपनी महिला पर कुछ शंका हुई सो कहा कि हमको तुम्हारे चरित्रपर शंका है। तुम तो हमें परीक्षा देकर दिखाओ तब हमको तुम्हारे चरित्रपर विश्वास होगा। तो वह महिला बोली—करलो परीक्षा जो करना चाहो। सो पुरुष बोला—हम कुछ लोगोंको इकट्ठा करेंगे और उनके बीच तुम्हारे शील की परीक्षा ली जायगी। कडुवा तेल एक कढ़ाहीमें खूब अग्निसे तपाया जायगा। उस खौलते हुये तेलमें तुम्हें अपना हाथ डालना होगा। यदि वह हाथ न जलेगा तो समझ लेंगे कि तुम्हारा चरित्र ठीक है। तो वह महिला बोली—हां हां ठीक है ले लो परीक्षा। आखिर उस पुरुषने क़ाफी लोगोंको इकट्ठा किया, कडुवा तेल एक कढ़ाहीमें खूब खौलाया। वहां दर्शकों की अपार भीड़ लग गई। इधर उस

छोड़कर नानाप्रकारके रूपोंमें देवी देवता मानकर पूजना देवमूढ़ता है। अब देखिये—हनुमानजी मोक्ष गए, और हनुमानजी कामदेव थे, उन जैसा सुन्दर रूप उस जमानेमें किसीका न था और सर्व परिग्रह त्यागकर समाधिस्थ होकर मुक्त हो गए। सो हनुमानजीका पूजना बुरा तो नहीं है, ठीक है पूजें, मगर जिस रूपमें हुए हैं जिससे वीतराग और सर्वज्ञता होती उस रूपमें माने। पर लोगोंने क्या किया कि उनकी बंदर जैसी शक्ल बना दी. रागीद्वेषी बना दिया। जिसमें रागद्वेष हो वह देव नहीं। इसी तरहसे श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए, पद्मपुराणमें उनके नामसे स्वतत्र ग्रंथ भी बना और उनकी महिमा भी देखो तो श्रीराम भगवान बलभद्र हुए, वे जिनेन्द्र हुए, उनका पूजना तो भला है मगर जिस रूपमें रागद्वेष नहीं और सर्वज्ञता हो उस मार्गकी दृष्टि से निरखकर पूजिये। अब यह तो ठीक नही कि श्रीरामका मूर्ति बनाकर उन्हैं वस्त्रादिकसे अलकृत कर दिया, मुकुट बांध दिया, हाथ में धनुषबाण पकड़ा दिया, और भी रागद्वेषकी बातें गढ़ दिया तो इस रूप में पूजना तो ठीक नहीं। वहां देवत्वकी बात कहां है। देवत्व तो वहां माना जाता जहां वीतरागता और सर्वज्ञता हो। अब कोई लोग तो वृक्षों में भी देवताकी कल्पना करके पूजते, कोई धज्जियां, डोरा, कपडकी चिट आदि बांधकर पीते, कहीं कुछ पत्थर पड़े हों तो वहां कंकड़ पत्थर डालकर, उसमें देवत्वपानेकी बुद्धि मानकर पूजते। एक सन्यासी था। वह कहीं से भिक्षा मांगते हुए में एक लड्डू पा गया। लड्डू हाथ में लिए हुए जा रहा था। रास्ते में उसके हाथ से लड्डू छूटकर ऐसी जगह पर गिर गया जहां कुछ गोबर विष्टा पड़ा था, पर लालचवश उसे उठाकर पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया पर यह शंका बनी रही कि कहीं किसीने हमारी यह करतूत देख न लिया हो सो पोल ढ़ाकनेके लिए उस विष्टाके ऊपर कुछ फूल डाल दिया। अब वहां से आने-जाने वाले अनेक लोगोंने भी वहां पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया यह जानकर कि यहां तो कोई देव है। आखिर फूलोंका बड़ा भारी ढेर थोड़ी ही देर में लग गया। जब तो फुल्लादेवी कह कर उसे सभी लोग पूजने लगे। किसी विवेकी पुरुषके मनमें आया कि इन फूलोंको उठाकर देखना चाहिए कि आखिर वह देवी किस प्रकार की है। सो जब सारे फूल उठाये गए तो वहां मिला वही मैला। तो कितनी ही बातें ऐसी बन जाया करती है पर यह कोई देवका स्वरूप नहीं। देव वही है जिसमें वीतरागता और सर्वज्ञता हो। ये नदी स्नान, वृक्ष पूजने, कंकड़ पूजन आदि के काम सब देवभूढ़तासे सम्बंधित हैं। वास्तविक देव पूजन नहीं।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥ २४॥

ज्ञानीको पाखण्डिमूढ़तारहितता—सम्यग्दृष्टि जीव जिन दोषों से रहित होता है उन दोषोंमें ये तीन महादोष हैं—(१) लोकमूढ़ता (२) देवमूढ़ता और (३) पाखण्ड मूढ़ता, सो इस छन्दमें पाखण्ड मूढ़ताका स्वरूप बताया जा रहा है। जो श्रद्धान और ज्ञानसे रहित पुरुष है और वह चाहता है कि मेरी लोकमें मान्यता हो सो नाना प्रकारके भेष धारणकर लोकमें अपनेको ऊँचा जताकर लोगोंसे अपनी पूजा, वंदना, सत्कार चाहता है। परिग्रह रखता, आरम्भ रखता, हिंसाके कार्योंमें प्रवृति करता, इन्द्रियके

विषयोंका अनुरागी है। खूब गप्पसप्पमें अपना समय बिताता है, अभिमानी भी है और अपनेको पूज्य धर्मात्मा कहानेका इच्छुक है, वह कहलाता है पाखण्डी जीव। उसकी सेवा करना, उसकी भक्तिमें रहना और अपनेको धर्मात्मा मानना यह पाखण्ड मूढ़ता है।

गुरुका लक्षण—गुरुका लक्षण क्या है? जो इन्द्रियके पञ्चेन्द्रियके विषयोंके आधीन न हो, हिंसा आदिक आरम्भों से रहित हो, कोई परिग्रह न रखता हो और जिसका काम ज्ञान ध्यान तपश्चरणमें रत रहना हो ऐसी धुन रखने वाला गुरु कहलाता है और इसके विपरीत जितने भेषधारी है वे सब कुगुरु या पाखण्डी कहलाते हैं। देखिये आत्माकी साधना किसी बाहरी पदार्थके द्वारा नहीं होती है। अपने ही ज्ञान द्वारा अपने आत्मा की साधना होती है। बाहरी चीजें रखनेकी कोई जरूरत नहीं। फिर किसलिए गटर माला रखना, किसलिए कमरमें रस्सी बांधना, किसलिए त्रिशूल, डमरु, लट्ठ आदि रखना, किसलिए देहमें भस्म रमाना, ये सब पाखण्डमूढ़ताकी बातें है। आत्माकी साधना के लिए बाहरी कुछ चीजोंकी जरूरत नहीं और रखे तो उसमें परिग्रहका दोष है। हां जैन शासनमें पिछी कमण्डल का रखना जो बताया गया है वह एक विवशतामें बताया है। इनका रखना आवश्यक हो मुनिको सो बात नहीं। कोई एक जगह खड़े होकर ध्यानस्थ रहे, बाहुबलिकी तरह तो वहां पिछी कमण्डलकी कोई जरूरत नहीं। कोई कहे कि यदि जमीन को खूब देखभाल कर चले तो वहां पिछी की क्या जरूरत? सो देखकर चले सो तो ठीक है मगर रास्तेमें कहीं धूप पड़ती, कहीं छाया पड़ती तो छाया में मुनि चल रहा हो और धूप आगई हो पास तो वह शरीरको पोंछकर धूपमें जायगा, क्योंकि ऐसा करने पर छायामें रहने वाले जीवोंको धूपमें कष्ट होगा, अथवा धूपमें जा रहे हों, अब छायामें चलना है तो शरीरको वहां पोंछकर चलेंगे क्योंकि धूपमें रहने वालें कीड़ोको छायाकी जगहमें पंहुचनेपर बाधा होगी। तो कोई चर्या करे, चले तो वहां पिछीकी जरूरत पड़ती है। और आहार चर्याके लिए जायगा तो उसे शौचकार्य भी करना पड़ेगा। अब शौचक्रिया के लिए कमण्डल भी रखना जरूरी हो गया। एक दो शास्त्र भी स्वाध्यायके लिए रखने पड़ते हैं क्योंकि ज्ञानसाधनोंमें वे भी सहायक है। तो ये पीछी कमण्डल और शास्त्र रखने पड़ते हैं मुनिकों। हां इन्हें शौकसे या इनको अपना मानकर वे इन्हें अपने पास नहीं रखते। तो आत्माकी साधना करने के लिए किसी अन्य चीजकी जरूरत नहीं। वहां तो ज्ञानकी जरुरत है। अपने स्वरूपकों सोचिये कि मैं ज्ञानमात्र हूं अमूर्त हूं। ज्ञानज्ञानस्वरूप, अन्य कुछ नहीं, ऐसा अपने आपका चिन्तन करें। आत्मसाधना हुई।

हिंसारम्भादि दोषवानपुरुषोंकी गुरुत्वबुद्धिसे सेवा विनयमें पाखण्डिमूढता—बाहरी जो चीजें भेषमें बनायी जाती हैं उनका प्रयोजन शायद यह ही होता कि लोगों पर हमारी छाप पड़े, पर एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है ऐसी जो कोई भेष साधुका नहीं माना गया। त्याग कर जो मुद्रा हुई वह है दिगम्बर मुद्रा। इसमें दोष नहीं और अन्य भेषमें रहने वले हिंसा आदिक आरम्भ करने वाले परिग्रही हिंसारम्भादि दोषवान हैं, उनकी मान्यता उनका पूजना यह सब पाखण्ड मूढ़ता है। लोग कुछ इस कारणसे अन्यजनोंके आकर्षण में रहते हैं कि ये तंत्र करते हैं, टोटका करते हैं, मंत्र करते हैं, तावीज देते हैं देखो अगर दिलमें पूर्ण शुद्धि रखना है तो एक ही निर्णय करना होगा कि मुझे किसी भी नाम, ताबीज या

जंत्रमंत्र वगैरहकी जरूरत नहीं, ये सब केवल मनके ख्याल हैं। न तो अन्य लोगों से लेना, न जैन साधुसंतों से लेना। आत्माका आभूषण तो ज्ञान है, रत्नत्रय है, उसमें लग जायें, वही शोभाहै। वही अपना उद्धार करने वाला है। दूसरा कौन क्या करेगा? किसी भी आशासे पाखण्डीजनोंका, देवोंका वैयावृत्ति, सत्कार ये ही मेरे सहायक हैं, इनसे ही मुझे मुक्ति मिलेगी ऐसा भाव न रखे। यदि ऐसा भाव रखेंगे तो इसे कहेंगे पाखण्डमूढ़ता।

पाखण्डि मूढताका एक उदाहरण—एक कथानक है कि कोई एक वेश्या थी, वह बहुत दिनोंसे खोटा काम करके ऊब गई थी। उसकी कुछ विरक्ति सी आयी सो सोचा कि मैने जो ऐसे खोटे आचरणमें रहकर यह लाख दो लाखका धन कमाया है उसे किसी भले कामके लिए दान कर देना चाहिए। सो उसकी यह बात सुन लिया एक भांडने कि वेश्याने अपना सारा धन दान करना विचारा है सो वह पहले से ही सन्यासीका रूप बनाकर गंगा नदी के घाटपर जाकर बैठ गया साथमें एक चेला रख लिया। वहां पर बहुतसे सन्यासी और भी बैठे थे, वहीं अपना आसन जमाया। जब देखा कि वह वेश्या आ रही है तो झट बड़ी शान्त मुद्रामें ध्यान करता हुआ खूब तनकर बैठ गया। अब वेश्या बारी बारी से अनेक सन्यासियोंको देखती गई कि कौनसा सन्यासी पहुंचा हुआ है जो पहुंचा हुआ सन्यासी मिलेगा उसीको ही अपना लाख दो लाखका धन जो कि सोना चांदी आदिकके रूपमें है, वह दान कर दिया जायगा, ऐसा विचारकर वह सभी सन्यासियोंको देखती गई, पर उसे कोई सन्यासी भला न जंचा, कारण कि सभी गप्प सप्प वाले अथवा गांजा चरस आदि हांकने वाले दिखे। एक जगह उस सन्यासीको भी ध्यानस्थ मुद्रा में बैठा हुआ देखा जो कि भांडने अपना सन्यासीका रूप बना रखा था। उस सन्यासीको देखकर वेश्याने समझा कि पहुंचे हुए तो ये सन्यासी जी हैं। देखो कैसा ध्यानस्थ बैठे हुए हैं, वहां वेश्या कुछ ठहर गई। अब उस वेश्याको सामने आता हुआ देखकर उस सन्यासीने और भी अपना रूप पहुंचे हुए तपस्वीका बनाया। उसे देखकर वह वेश्या अत्यन्त प्रभावित हुई और निकट जाकर बोली—महाराज महाराज हमारी बिनती सुनो अब महाराज कुछ बोलते ही नहीं, और भी अधिक तनकर ध्यानस्थ मुद्रामें बैठ गए। जब वेश्याने कई बार निवेदन किया फिर भी उस सन्यासीकी आंखें न खुलीं। बहुत बहुत निवेदन करने पर जब सन्यासीने धीरेसे आंखें खोला तो वेश्या बोली—महाराज आज हम आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गए। हमारा एक निवेदन स्वीकार कीजिए। ··· क्या है निवेदन ? ··· यही कि मेरे पास यह जो लाख दो लाखका धन है उसे आप स्वीकार कीजिए, मैं इसे आपको दान करना चाहती हूं, क्योंकि मैंने इसे बड़े खोटे आचरणसे कमाया। अब मेरे मनमें ग्लानि आयी है अपनी करतूतसे सो मैं इस धनको आपके लिए दान करती हूं। महाराज स्वीकार कीजिए। ··· नहीं नहीं, हमें न चाहिए। ··· नहीं नहीं यह तो आपको स्वीकार ही करना होगा। अच्छा तो रख दो। अब उस धनको अपने चेलेके द्वारा इस सन्यासीने अपने घरको भिजवा दिया। अब वह वेश्या बोली—महाराज हमारे ऊपर एक कृपा करें। यही कि मैं खीर बनाऊं और मेरे हाथसे वह खीर खाकर मेरे जीवनको आप कृतार्थ कर दें। बादमें मुझे कुछ आशीर्वाद दे दें ताकि मेरा कल्याण हो जावे। ··· ठीक है। अब वेश्याने

खीर बनाया और सन्यासीने खायो खीरको खानेके बाद वह सन्यासी बोला—गंगाजीके घाट पर खाई खीर अरु खांड। पापका धन पापहिं गया, तुम वेश्या हम भांड।"

पाखण्डिमूढ़ता त्यागकर शुद्धात्माराधनाका कर्तव्य—यहां पाखण्डमूढ़ताकी बात चल रही थी कि कोई गटरमाला पहने, हाथमें त्रिशूल ले, लाठी ले, शरीरमें भभूत रमाये, अपना डरावनारूप बनाये, कई तरहके शस्त्र धारण करे तो यह कोई साधुता का रूप नहीं। साधु तो निर्भय, निशंक, निष्परिग्रह होता है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाली है। जो हथियार रखे उसमें समझो कि खुदमें कुछ कमजोरी है, भय है तब हथियार उसने रखा, या फिर किसीको भय दिखानेका उसका भाव रहता है, नहीं तो बताओ हथियार रखनेकी क्या जरूरत? और फिर जो आरम्भ परिग्रह रखते उनमें और और भी व्यसन आ जाते हैं जैसे जुवा खेलना, मद्य पीना, मांस खाना, आदिक। भांग, गांजा, चरस, बीड़ी, सिगरेट आदिक खाने पीनेकी बातें तो साधारण रूपसे उनमें चलने लगती हैं। अनेक जगह ऐसा भी देखने में आया कि जटाधारी सन्यासी जनोंकें बहुत बड़े भक्त होनेसे गंगा आदिक नदियोंमें बाल फटकारकर नहाने व उनका जूरा बांध देनेमें छोटी-छोटी मछलियां भी बालोंमें फंसकर मर जाती हैं। तो ऐसे पाखण्डी भेषधारी सन्यासियोंके प्रति सम्यग्दृष्टि जीवको आस्था नहीं होती। उसके तो वीतराग सर्वज्ञदेवके प्रति आस्था होती, आत्माकी कथनी करने वाले शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा होती और जो सर्व कुछ त्यागकर आत्माकी धुन रखने वाले गुरु हैं उनके प्रति आस्था होती। वह जानता है कि मोक्षका मार्ग तो एक यही है, अन्य रूप इसका मार्ग नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष न तो लोक प्रसिद्ध घटनाओं में मोहित होता है कि यह धर्म है और न वह कुदेवमें मोहित होता है कि यहां धर्म मिलेगा और न वह कुगुरुवोंमें मोहित होता है कि हमको यहां धर्म मिलेगा। ज्ञानी जीव तीनो तरहकी मूढ़तावोंसे दूर होकर अपने आपमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपकी आराधनामें रहता है।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलबुद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥ २५॥

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमदका अभाव—जिसने अपने सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है और ऐसे अनुभव पूर्वक सम्यग्दर्शन हुआ है उसकी प्रतीति निरन्तर विशुद्ध रहती है, इसी कारण उसके मद नहीं होता, ऐसे मदरहित बड़े गणधर आचार्यदेवने बताया है। मद आठ प्रकारके विषयको लेकर होता है, पहला मद है ज्ञानमद। यह बड़ा कठिन मद है, कोई भी पुरुष अपने आपको ज्ञानके रूपसे हल्का अनुभव नहीं करता कि मेरेको कम ज्ञान है। कभी कह भी दें मुखसे तो भी भीतर से ऐसा संस्कार रहता है कि मेरा जैसा बुद्धिमान कौन है? सो ज्ञानकी बात देखिये—जब यह जीव निगोद अवस्थामें रहा। कुछ रहा, हम रहे आप रहे और अवस्था पाया हो या न पाया हो उसका कोई खास निर्णय नहीं हैं क्योंकि कुछ जीव निगोदसे एकदम निकलकर मनुष्य भी हो जाते अथवा अन्य पर्याय ले लेते, तो हम आपने अन्य पर्यायें कितनी मलिन पा ली इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते मगर यह जरूर कह सकते कि हम निगोद पर्यायमें अवश्य थे। तो उस निगोद दशामें अक्षरका अनन्तवां भाग

ज्ञान बताया है। कैसी-कैसी हीन दशायें हुई, एकेन्द्रिय जीव बने, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक भी हुए तो भी एकेन्द्रियकी अपेक्षा तो कुछ ज्ञानका विकास हुआ, पर हित अहितका विवेक करने वाला ज्ञान नहीं बढ़ा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक यही दशा रही। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए तो अन्य संज्ञियोंको देखो तो न कुछ जैसा ज्ञान, और मनुष्योंको देखो तो कितना ज्ञान है, कैसा ज्ञान है। प्रथम तो एक ज्ञानके सामने सब ज्ञान अत्यन्त छोटे हैं, फिर अपने ही पूज्य आचार्योंको देखो जिन्होंने बड़ी-बड़ी रचनायें कीं, तर्कशास्त्र करणानुयोग द्वादशांगवाणीका भी जिसमें अंश हो, गणधरोंको देख लो, उनके ज्ञानके आगे हम आप का ज्ञान क्या है, किन्तु जिनको आत्मज्ञान नहीं है उनको अपने पाये हुए ज्ञानपर घमण्ड होता। जिसके ज्ञानमद है उसके सम्यक्त्व कहां से है? वह तो एक बहुत बड़ा आवरण है।

वर्तमान परोक्ष ज्ञानकी निकृष्टता—अच्छा जो भी आपने ज्ञान पाया उसकी निकृष्टता देखिये—पहले तो यह ज्ञान इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ। यह एक साधनकी अपेक्षा कह रहे हैं। ज्ञानपर्याय तो अन्तरङ्ग हेतुरूप ज्ञान गुणसे ही प्रकट होती है मगर हम आपके यों हो क्यों नहीं गया? यदि आँखे खराब है तो रूप देखनेका ज्ञान क्यों नहीं हो रहा? बुखार होनेसे रसना इन्द्रिय बदल गई। गन्नेका रस भी कड़वा लगता है। तो इन्द्रिय ठीक हों तो हम आप लोगोंको ज्ञान बने, ऐसा तो पराधीन ज्ञान है और उस ज्ञानपर गर्व करते। दूसरी बात ज्ञानावरण कर्म जो लगे हुए हैं उनके क्षयोपशमके अनुरूप यह ज्ञान प्रकट होता है। जितना क्षयोपशम है उतना है ज्ञान। ज्ञानावरण कर्म जितना हटे उतना ज्ञान होता है। जिस ज्ञानपर लोग गर्व करते हैं उस ज्ञानकी बात बतायी जा रही है कि गर्व कारने लायक नहीं है स्थिति, पर जिसको आत्मज्ञान नहीं है वह उस ही ज्ञानपर घमंड करता है। फिर कुछ ज्ञान भी हुआ जैसा क्षयोपशम इन्द्रियजन्य होता हो पर उसका भी भरोसा तो नहीं। शरीरमें कोई रोग हो जाता कि यह ज्ञान भी इसी भवमें नहीं रह पाता। बुद्धि बिगड़ गई, वात पित्त, कफकी अधिकता हो गई, अटपट बकने लगे। जो ज्ञान पाया उस ज्ञानका भरोसा भी तो नहीं कि वह टिकेगा भी। इन्द्रियां नष्ट हो जाये तो ज्ञान भी नष्ट हो जाता, और इन्द्रियजन्य जो ज्ञानपर्याय बनी वह भी मिटेगी। ऐसे इस ज्ञानपर क्या गर्व करना।

कलहोंका मुख्य कारण ज्ञानमद—देखिये समाजमें धर्मके नाम पर जितनी भी लड़ाइयां होती हैं। उनका मूल आधार है ज्ञानका मद। आप खूब खोज कर विचार लो कि जैसा चाहा वैसा कोई नहीं प्रबंध किया। यह काम ऐसा क्यों नहीं हुआ कुछ भी कहा जाय बस वह बात न मानी जाय तो वहां विवाद खड़ा हो जाता है। और उसकी तो बात जाने दो, रास्तेमें चले जा रहे हैं और किसी जगहसे दो रास्ते फूटे हों और इन दोनोंको थोड़ी दूर जाने का फिर एक जगह वही रास्ता मिल जायगा, मगर जहांसे फूटा है, अपना साथी कहता है कि इस रास्तेसे चलो और खुद चले किसी दूसरे रास्तेसे तो उसमें मन खराब हो जाता। इसने मेरी बात नहीं माना ··· अरे ५ मिनट बाद तो उसी रास्तेसे आयेंगे। क्यों जरा-जरासी बातोंमें मद करते? इसने मेरी बात न मानी, मेरे कहे अनुसार क्यों न चला ···; अरे यह मद इस जीवको बरबाद करता है। अच्छा इस ज्ञानकी भी दुर्दशा देखिये जो पाया है। कितने ही लोग दूसरेके फंसानेके जाल बनाते, दूसरेके मारनेके अनेक साधन बनाते। उसमें अपनी कला मानते कि मैं

कलाकार हूँ। मैं इस इस तरहसे जाल रच लेता हूँ शस्त्र बना लेता हूँ। उसे अपने उसी ज्ञानपर गर्व है, कितने ही लोग कुछ कविता बना लेते, कवि सम्मेलनों में भाग लेते तो उन्हें देखा होगा कि हरएक कवि ऐसा सोचता कि मैं सबसे अधिक बुद्धिमान हूँ। यों ज्ञान के मदकी एक होड़ लग गई है, पर ऐसा ज्ञानमद इस जीवके लिए भला करने वाला नहीं है। अगर शुद्ध ज्ञानपाया है, कुछ आत्माके स्वरूपका परिचय मिला है तो वह तो इतना नम्र होगा कि उसका उपयोग उसकी बुद्धि अपने आत्माके ही अभिमुख हो जायगी। जैसे समुद्रसे ही तो पानी निकला जो कि बादलोंके रूपमें बना, गर्मीमें भाप बनी, बादल बने, बहुत दिन तक वह कड़ा-कड़ा रहा। समय पाकर वह पानी बरषा और बरष कर नीचे रास्तेसे चल-चलकर आखिर वह पानी समुद्रमें ही मिलता है, तो इसी तरह यह ज्ञान समुद्रमें से उस मिथ्यात्व आदिक आतपनके कारण यह कुछ ज्ञानजल यहां से उठा और यह बाहरमें ज्ञान घूमने लगा, गर्व करने लगा जगह-जगह भटकने लगा, अनेकों चीजोंकी टक्कर खाने लगा और कोई अच्छी लब्धि पाकर इसकी बुद्धि ठिकाने आये तो यह ही ज्ञान बरसाकर आत्माको छूकर नीचेके रास्तेसे चलकर अर्थात नम्रतासे रहकर ज्ञान सरोवरमें ही मिल जायगा। कठोरता बुरी चीज है।

मदमें हठ होनेके कारण अपमानादि अनेक आपदायें—किसी बात पर अड़ जाना यह खुदके लिए हानिकारक है। मदमें यही तो होता है। एक दम्पत्ति था, उसका दूसरा विवाह हुआ तो वह दूसरी स्त्री को बहुत चाहता था। और स्त्रीको भी गर्व हो गया कि मेरा पति मुझे बहुत चाहता है, पर सोचा कि मुझे परीक्षा लेना चाहिए कि मेरा पति मुझे वास्तवमें चाहता है या नहीं। तो परीक्षा लेनेके लिए वह पेट दर्द या सिर दर्दका बहाना करके लेट गई। देखिये ये दो बहाने पेट दर्द या सिर दर्दके ऐसे हैं कि कोई कितना ही सही-सही जानना चाहे तो वह जान न पायगा। बुखार हो तो वहां बहाना कहां से चलेगा। लोग थर्मामीटर लगा कर देख लेंगे, पर सिर दर्द या पेट दर्दका सही-सही पता कोई नहीं पा सकता। तो वह स्त्री पेटदर्द का बहाना करके पड़ गई। पति आया, उसे उदास देखकर पूछा कहो क्या बात है? ··· भारी पेट दर्द है। ··· कैसे ठीक होगा? अभी-अभी स्वप्नमें मुझे एक देवने बताया कि जो तुमसे भारी प्रेम करता हो वह अपनी मूछ मुड़ाकर सवेरा होते ही होते दर्शन दे तब तो प्राण बच सकते नहीं तो प्राण न बचेंगे। तो उस पुरुषने सोचा यह क्या कठिन बात है सो झटसे मूछ मुड़वा डालाऔर सवेरा होते ही होते दर्शन दे दिया, लो स्त्री चंगी हो गई। अब वह सबेरे चक्की पीसते समय रोज-रोज वही गीत गाये—'अपनी टेक चलाई, पतिके मूछ मुड़ाई' उस स्त्रीका रोज-रोज यही गीत सुनकर वह पुरुष बड़ा हैरान हुआ और समझ लिया कि इसको पेट दर्द न था, मुझको छकानेके लिए वह उसका बहाना था। खैर पुरुषके मनमें आया कि मुझे भी इसको किसी बहानेसे छकाना चाहिए। आखिर छकानेका उपाय मिल गया। क्या किया कि अपनी सुसरालको एक चिट्ठी लिखा कि तुम्हारी लड़की सख्त बीमार है उसके बचनेकी कोई आशा नहीं है। हां एक उपाय है उसके बचनेका। किसी देवने स्वप्नमें बताया है कि इसके माता-पिता, चाचा-चाची, भाई-बहिन आदि जो -जो भी इससे प्यार करते हों वे शीघ्र ही अपने मूछ-दाढ़ी, सिरके बाल बनवाकर सवेरा होते ही इसको दर्शन दें तो प्राण बचेंगे अन्यथा नहीं। अब क्या था। उस पत्रके मिलते ही उस स्त्रीके परिवारके सभी लोगोंने उसके

प्राणोंकी रक्षाके लिए अपने-अपने सिरके बाल, मूछ-दाढ़ी आदि बनवाकर चल दिये और सवेरा होते-होते उसके घर आकर खड़े हो गए। उस समय वह स्त्री अपना वही गीत गा रही थी—'अपनी टेक चलाई, पतिकी मूछ मुड़ाई।' सो वहां उस पुरुषने कहा—'पीछे देख लुगाई, मुंडनकी पल्टन आई।' सो ज्यों उसने पीछे की ओर देखा तो मारे शरम के गड़ गई। तो हठ कभी किसी के लिए अच्छी नहीं होती। यह हठ बनता है ज्ञानका मद आनेपर। जिसको ज्ञानका मद है उसका सारा उपयोग भ्रान्त बन जाता है, उसे आत्माके स्वरूपकी सुध लेनेका अवसर नहीं मिल पाता। ज्ञानका मद होने पर आत्मतत्त्वकी बात नहीं बैठ पाती।

ज्ञानीके पूजामदका अभाव—मुनियोंकी मुद्रा, चर्या देख लो, वहां मद का कोई काम नहीं रहता। जमीन ही जिनका आसन है, जमीन ही जिनका शैया है, जिनके शरीरमें कोई साज श्रंगार नहीं। मद का कोई अवसर नहीं, फिर भी यदि मद कर सकता तो ज्ञानका मद करेगा, पूज्यपनेका मद करेगा। सो वहां अज्ञान है। यदि उसे आत्मज्ञान होता है तो उसे यह मद कभी न हो सकता था। मद किस बात का? आज अगर पूज्य बने तो कलको रंक और निंद्य नहीं बन सकते क्या? अरे न जाने क्या से क्या स्थिति बन सकती? यहां काहे का मद करना? मदका परिणाम पापका बंध करता है और नम्र रहनेका परिणाम पुण्यका बंध करता है और आत्माको शान्तिका कारण है, और एक लौकिक दृष्टिसे भी विचार करें, लोग तो यह चाहते कि अन्य लोग हमारा आदर करें पर यह बात तब तक न बनेगी जब तक खुद भी दूसरोंको आदर न देंगे। तो पूज्यपना भी चाहिए तो उसका भी आधार नम्रता है। अगर लोगोंको, भक्तोंको यह बात चित्तमें आ जाय कि यह तो इस प्रकारका अभिमानी है तो उनके चित्तमें फिर पूज्यता नहीं रह सकती, और फिर यह ऐश्वर्य जिसके कारण पूज्यता बनी है वह भी विध्वंसशील है। आज है कल को रहे न रहे। फिर कहां पूज्यता रही? कलको जो प्रधानमन्त्री था आज उसे कोई पूछ नहीं रहा सो तो आप लोग आँखों देख ही रहे हैं। तो लो पूज्यपनेका क्या अर्थ है? और वास्तविक पूज्य जो हो जाता है उसके कोई विकल्प नहीं रहता। प्रभु परमात्मा पूज्य हैं, उनके कुछ विकल्प ही नहीं हैं। लोग बड़ा मानें तो न मानें तो, उनको क्या गर्ज पड़ी हैं। वे तो सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन। समस्त ज्ञेयोंको जानने वाले हैं तिसपर भी अपने आनन्द रसमें लीन हैं। तो जो वास्तविक पूज्य हैं उनके घमंड नहीं, जो पूज्यताका विचार कर घमंड करते हैं उनके वास्तविक पूज्यता नहीं।

ज्ञानीके कुलमदका अभाव—तीसरा मद है कुलमद ज्ञानी जीवको कुल का मद नहीं होता। देखिये लोकमें अच्छा कुल मिला है श्रावककुल मिला, जैनशासनके रहस्योंका जहां ज्ञान बना, ऐसी स्थितिमें उत्पन्न हुए, मगर ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्माके साथ इस कुल का सम्बंध नहीं है। आत्माका कुल तो चैतन्य है, लोग सोचते है कि हमारा घर कोई कुल चलाने वाला नहीं है सामने पति नहीं है, और पुत्रका भी यही अर्थ है—वंश पुनातिइति पुत्रः। जो वंश को पवित्र करता है उसका नाम है पुत्र। पर यह तो सोचो कि आपका वंश क्या है? क्या अग्रवाल, जायसवाल, खंडेलवाल, लमैचू, गोलालार गोलसिंगारे आदि ये सब आपके कुल हैं क्या? अरे आपके आत्माका कुल है चैतन्य। चैतन्यकुल पवित्र होना चाहिए। उसको पवित्र करने वाला कौन? यह मेरा खुद का आत्मा। तो यह मैं आत्मा

निर्मल परिणामोंसे रहूं तो मेरा चेतन कुल पवित्र होगा, शुद्ध होगा ओर यथार्थ अवस्थामें हो जायगा। पर यह गोत्रनाम कर्मके उदय से जो कुल मिला यह सब माया रूप है। ये कोई वास्तविक चीज नहीं। इसका मेरे आत्मसे कुछ सम्बंध नहीं। अच्छा है कुल जिसमें धर्मसमागम सुगम मिल गए हैं, लेकिन यथार्थ दृष्टिसे ज्ञानी सोच रहा है कि मेरे आत्माका इस शरीरके कुलसे कोई संम्बंध नहीं है। मेरा तो मेरे चैतन्यकुलसे सम्बंध है। ज्ञानीको कुलसम्बंधित मद उत्पन्न नहीं होता। बस जानन देखनहार रहता, कोई विकल्प तरंग नहीं होती, ऐसी जो उसकी सहज स्थिति है वही मेरा कुल है। यदि गौरव अनुभव करना है तो अपने चैतन्यकुलका ध्यान करके गौरव अनुभव कीजिए पर यह शरीर सम्बधित कुल यह गर्वके लायक नहीं है। अच्छा देखिये—इस कुलका क्या भरोसा? वह अधिकसे अधिक इस भव तक मान लोगे, पर आगे अनन्तभवोंमें इस जीवने कैसे-कैसे कुल नहीं पाये और आगे भी क्या भरोसा? जहां राजा भी मरकर कीड़ा बन जाय वहां कुछ सोचना यह सब बेकार बात है।

कुलमदसे दुर्गतिका लाभ—एक कथानक आया है कि एक राजाने किसी मुनिराज से पूछा कि महाराज मैं मरकर क्या होऊंगा? तो मुनिराजने बताया कि तुम मरकर अपने ही घरके लैट्रिनमें विष्टाके कीड़ा बनोगे। वह बड़ा दुखी हुआ मुनिराज की इस प्रकार की बात सुनकर और घर आकर अपने लड़कोंसे कह दिया कि देखो मुझे एक मुनिराजने बताया है कि तुम अमुक दिन मरकर अपने ही घरके लैट्रिनमें विष्टाके कीड़ा बनोगे सो तुम लोग मेरे मर जाने पर उस लैट्रिनमें देखना, अगर उसमें विष्टा कीड़ा दिखे तो मार डालना, मुझे वैसी गंदी पर्याय में जीवित रहने से फायदा क्या? आखिर हुआ क्या कि जब वह राजा मरा और मरकर विष्टाका कीड़ा बना तो उसे मारनेके लिए उस राजाके लड़के पहुंचे, पर ज्यों ही लकड़ीसे मारना चाहा, त्यों ही वह कीड़ा अपनी जान बचाने के लिए उसी विष्टामें घुस गया, वे लड़के उस कीड़े को मारनेमें असमर्थ रहे। तो देखिये—निन्द्य पर्याय पाकर भी यह जीव उस ही में रहकर खुश रहता, वहां मरना नहीं चाहता तो यहां कुल का क्या मद करना? ज्ञानी पुरुष अपने कुल का मद नहीं करता। तो शोभा इस बातमें है कि हम अपने आपके सहजस्वरूपको सही-सही जान लें और अधिकाधिक दृष्टि उस आत्मस्वरूपमें ही लगाये रहें। बाकी इन सांसारिक बातों पर अधिक दृष्टि न दें। यहां कैसा ही कुछ हो। किसी भी बात का घमंड न हो। अपने आपकी और अभिमुख रहना यही अपना कर्त्तव्य है। और कर्त्तव्यसे चूके तो बस वहां सही-सही ठिकाना न मिल पायगा। गर्व करनेका फल बड़ा बुरा होता है। सूत्रजी में बताया है कि दूसरे की प्रसंशा करना और अपनी निन्दा करना, नम्रता का व्यवहार करना। गर्व न होना यह परिणाम उच्चगोत्रका बंध करता है और इससे उल्टा आचरण करनेमें याने परकी निन्दा करने, अपनी प्रसंशा करने, परके गुण ढाकने, अपनेमें गुण न हो फिर भी उन्हें उभाड़ने आदिके कार्योंसे नीच गोत्रका बंध होता है। मनुष्य हुए तो नीच कुलमें गए, नारकी हुए तो वे सब नीच होते ही हैं तिर्यञ्च नीच होते ही हैं तो अभिमानका फल अच्छा नहीं होता।

ज्ञानीके जातिमदका अभाव—जैसे कुल का मद होता है वैसे ही जातिका भी मद होता। जातिका मद मामाके कुलसे सम्बंध रखता है याने माता जहां उत्पन्न हुई है उसके कुल का सम्बंध है जातिसे। अभी देखो दो ही जगह का तो घमंड है लोगोंको। किसीको अपने पिताके कुल का घमंड

है तो किसीको अपने नाना मामाके कुलका घमंड है। मैं ऐसी नानी का नाती हूँ, मैं ऐसे महापुरुष का पोता हूँ। पुत्रके लड़के का नाम पोता कहलाता है और इस देशमें तो लड़कीके लड़केको भी पोता बोलते। इस देश में तो दोनोंको नाती कहते इसलिए कभी-कभी लोग यह नहीं समझ पाते कि कौनसे नाती को कहा गया। तो घमंड दोनों आश्रयोंसे हुआ करता है, तो जातिका भी एक मद होता, किन्तु ये कुल और जातिके घमंड ये सब देह कर्म का सम्बंध रखने वाली बातें हैं, इनसे आत्माका कुछ सम्बंध नहीं हाँ इतनी बात अवश्य है कि अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ जीव अच्छे परिणामोंको सुगमतया प्राप्त करने का साधन पाता है और नीचकुलमें उत्पन्न हुए को यह बात बहुत कठिन है कि उसे धर्मसाधनाका कोई अवसर मिल सके या ज्ञानादिकमें प्रगति हो सके। सो उच्च कुल पाया है तो घमन्ड के लिये नही पाया किन्तु आत्मज्ञान करके इसमें बढ़ें और अपने आत्मा में रमकर ही संतोष पायें ऐसा परिचय बनानेके लिए पाया, यह चित्तमें निर्णय होना चाहिए। तो ऐसे ज्ञान, पूजा, कुल, जातिके मदों को त्यागकर नम्रतासे आत्माके अभिमुख होकर अपनेको ज्ञानमात्रका अनुभव करना चाहियें मेरा शुद्ध कुल यह है अपनेको जितना ज्ञानस्वरूप निरखा जायगा उतना ही अपना चैतन्य कुल पवित्र बनेगा और विकसित होकर यह ज्ञान लोकालोकका जाननहार सर्वज्ञ हो जायगा। तो मद त्यागनेमें विकास है, पर मद करनेमें विकास नहीं। मद करनेका फल है अधोगतिमें जन्म होना इससे सर्व मद त्यागकर अपने आत्मस्वरूपके अभिमुख हों। यह ही विवेकी पुरुषका कर्तव्य है।

द्रव्य क्षेत्र काल भेदभाव व अभेदभावसे आत्माका परिचय—ज्ञानी पुरुषका मनन रहता है कि मैं समस्त परपदार्थोंसे निराला, शरीरसे निराला, कर्मोंसे निराला, कर्मोंके उदससे होने वाले प्रतिफलन से निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ जो मैं सही हूँ, स्वयं हूँ, सहज हूँ उस ही रूप मानना। मानता है यह जीव, अन्य रूप कैसे मानेगा? जो बात यथार्थ दिख गई उसके विरुद्ध अब यह कैसे मान सकता? मैं अखण्ड चैतन्यपिण्ड हूँ। इसको समझके लिए अनेकों गुण बताये गए हैं, मुझमें ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चारित्रगुण और आनन्दगुण आदिक अनन्त गुण है और पर्याय भी यद्यपि प्रति समय एक अखण्ड चलती है, पर समझने के लिए जितने गुणके भेद लिए गए उतने ही गुणकी पर्याय ज्ञानमें आयेंगी। इस आत्माका परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे होता है। द्रव्यसे तो पिण्डरूप द्रव्य होता। यह अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड है। क्षेत्रसे आत्माका परिचय क्या होता? जैसा यह देहका आकार है उतने लम्बे चौडे क्षेत्रमें यह आत्मा विस्तृत है। यों देहाकार आत्माका परिचय होता है। यह इस समय किस पर्यायमें है। क्या अवस्था है, उस अवस्थामें परिचय होता है। कालसे क्रोधी है, मानी है, शान्त है, अशान्त है। और भावोंसे परिचय करनेमें दो प्रकार होते हैं—(१) भेदरूप भाव (२) अभेदरूप भाव। भेदरूप भावसे आत्माका यह परिचय मिलता है कि दर्शन आदिक अनन्त गुण आत्मामें हैं, पर अभेदभावसे मैं चैतन्यमात्र हूँ, प्रतिभास मात्र हूँ। एक अखण्ड अवक्तव्य प्रतिभास स्वरूपका बोध होता है। तो अब आप जान गये होंगे कि आत्माका परिचय ५ तरह से होता है। पर उन ५ तरहसे परिचय तो हुआ सबका मगर स्वानुभाव किस परिचयके बाद होता है यह परख करिये।

स्वानुभव प्रकृष्ट साधन अभेदभावसे आत्माका परिचय—पहले यह समझिये कि स्वानुभव

ज्ञानानुभव ये करीब अनर्थान्तर हैं। ज्ञानके अनुभवमें स्वानुभव होता है यहां। तो जब द्रव्यसे जान रहे हैं कि अनन्त गुणों का पिण्ड है। इसमें भूत, वर्तमान, भविष्य अनन्त पर्यायें हैं, तो ऐसा जाननेके समयमें चित्त व्यग्र हो रहा है। परिचय है मगर उसमें भी इसका संक्रमण परिवर्तन जाननेका एक विषय बदल बदलकर चलता जा रहा है। इस स्थितिमें स्वानुभव नहीं होता, मगर ऐसे परिचयके बिना भी स्वानुभव नहीं होता। क्षेत्रसे परिचय पाया। यह आत्मा देह के आकार इतने लम्बे चौड़े प्रदेशोंमें फैला हुआ है, परिचय तो बन गया, और ऐसा परिचय पाये बिना आगे प्रगति भी नहीं होती, मगर उस परिचयके कालमें स्वानुभव नहीं है, क्यों नहीं है कि अनुभव होता है ज्ञानसे और ज्ञानसे ज्ञान ही अनुभवमें आया तो बनेगा स्वानुभव पर यह तो आकार परिचयमें आ रहा है। कालसे परिचय किया। आत्मा अनन्त पर्यायोंको भोग चुका, वर्तमान यह पर्याय है आगे अनन्त पर्याय भोगेगा। कैसी पर्याय चल रही है यह सब ज्ञानमें आ रहा है। सो परिचय करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे परिचय बिना आगे प्रगति न होगी, पर इस परिचयके कालमें उसके विकल्प चल रहे हैं या स्थिर हो गए, अविकल्प हो गए, विकल्प चल रहे हैं, उस कालमें स्वानुभव नहीं हैं जब भेदभावसे देखा—इसमें अनन्त गुण हैं, त्रैकालिक शक्तियां हैं, सोचते जाइये, और ऐसे परिचयके बिना हम स्वानुभावके पात्र न बन सकेंगे फिर भी जब तक शक्तिभेदका चिन्तन बना है उस समयसे स्वानुभव नहीं है। इतने समग्र परिचयके बाद जब अभेद चैतन्यस्वरूप यह ज्ञानमात्र ज्ञानमें ही रहता हैतो चूंकि ज्ञाता ज्ञान हुआ ज्ञेय भी ज्ञान हुआ, ऐसा अभेद हो जाने पर वहां स्वानुभूति प्रकट होती है, इस तरहकी क्रियासे जिसने आत्माका दर्शन किया है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी वाह्य पदार्थको पाकर घमंड करेगा क्या? उनका घमंड नहीं होता।

ज्ञानीके बलमदका अभाव—एक मद बलका होता है। जो शरीरको बल मिला उस बलका घमंड और सोचता है ज्ञानी कि मेरे बल तो अनन्त है जिसे अनन्त चतुष्टय कहते। इतना सामर्थ्य है, पर वीर्यान्तराय कर्म का नहीं है क्षयोपशम अनेक प्रकृतियोंका उदय है विशेष उसका बल ढक गया, और जब मैं उकेन्द्रिय था दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक था तो कितना बलहीन था। लोगोंने कुचला, छीला, पकड़ा, बंधन किया, बलहीन थे। आज कुछ वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम मिलनेसे कुछ बल प्रकट हुआ है। यह बल पराधीन है, यह बल विकृत है यह मेरे स्वभावका बल नहीं है। देह बलसे क्या अपनेको बलवान समझना? अपनेसे अधिक बल तो पाड़ा, झोटा, गधा, घोड़ा वगैरहमें है। देहके बल का घमंड करें तो कम से कम गधेको देखकर तो घमंड चूर कर देना चाहिये। इस मामलेमें तो हमसे बढ़कर गधा है। गधा जितना बल तो नहीं है। तो देहके बल का क्या घमंड करना? हां एक मौका मिला है कि इस मनुष्यपर्यायमें देह बल भी प्रकट हुआ तो इस बल का सदुपयोग करो, दुरुपयोग मत करो। दुरुपयोग क्या है? किसीको पीटना, किसीका नुकसान करना, अन्याय अत्याचार करना, ये सब देहके बलके दुरुपयोग हैं। दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें। देहका बल प्रकट हुआ है तो ब्रतमें तपश्चरणमें ध्यान, अध्ययन, स्वाध्यायमें इस बल का प्रयोग करके आत्मीय बलके साथ सन्धि करें। यह है इस बलका सदुपयोग। कितने ही लोग धर्मके नामपर, आजके तत्त्वज्ञानके नामपर ब्रत, तपश्चरण आदि से ग्लानि करते, उनमें प्रमाद करते अथवा हो जायगा, होता ही है सहज होगा किसी भी नामपर

यह व्रत, तपश्चरण संयमरहित जीवन बिताया जा रहा है। अरे जहां बल प्रयोगसे दूकानके काम, भारके ढोनेके काम, कितने ही काम लगे रखे हैं, घरके काम, बोझ लादनेके काम, इतने काम लगा रखे हैं, तो इस बलसे अगर थोड़ा व्रत नियमका भी कामकिया जाय तो इसमें कौनसा बुरा हैं? एक बात कही जाती है कि पहले सम्यक्त्व उत्पन्न कर लो, बादमें व्रत करना चाहिए। सो बात तो ठीक है कि सम्यक्त्व के होने पर ही व्रत व्रत नाम पाता है, मगार इसका प्रमाद करनेसे बात क्या हो जाती है कि यह जीवन भर व्रत नहीं किया जा पाता। सम्यक्त्व हो लेने दो, तो इस तरहसे सम्यक्त्व हो ही नहीं पाता किसीके जिन्दगी भर। वास्तवमें सम्यक्त्व जो केवल ज्ञानगोचर है उसकी प्रमादीजन आड़ लेते हैं। इस बलके दुरुपयोगमें ही रहे तो जीवन तो ऐसा गुजर रहा है जैसे पहाड़से गिरती हुई नदी कभी वह ऊपर को नहीं वापिस होती, ऐसे ही जो जीवन गया वह कभी वापिस नहीं होता।

व्रत तपश्चरण आदि द्वारा देहबलका सदुपयोग करनेका अनुरोध—अब मान लो सम्यक्त्व नहीं हुआ और वह व्रत तपश्चरण कर रहा और एक के सम्यक्त्व भी न हो और व्रत तपश्चरणसे ग्लानि कर रहा तो इन दोनो में अपेक्षाकृत बतालाओ कि लाभमें कौन रहा? अज्ञानी दोनों हैं, सम्यक्त्व दोनोंमें नहीं हैं, किन्तु एक के सम्यक्त्व नहीं, और जो बाह्य व्रत हैं, जो कुछ उपयोगको अच्छे कार्योंमें थमाने वाले कार्य है उनसे भी प्रमाद कर रहा, उसकी क्या गति होगी? उत्तम गति न होगी और एक के सम्यक्त्व नहीं हैं फिर भी अपनी वर्तमान बुद्धिके अनुसार कषाय मंद कर रहा, धर्म कार्योंमें लग रहा, समयपर व्रत कर रहा तो उसके कमसे कम उत्तम गति तो होगी। जो प्रथा चली आयी है कि नियम रखना, व्रत रखना, तपश्चरण करना, इसके लिए यह बहाना न करें कि मैं पहले सम्यक्त्वको कर लू कि मेरे सम्यक्त्व हो गया है तब व्रत करुं, ऐसी उसमें प्रतीक्षा नहीं की जाती है। जब भी बुद्धि आये तब शक्तिके अनुसार व्रत, नियम तपश्चरण कीजिए। एक बात सोच सकते हैं कि सम्यक्त्व न होने पर वे व्रत व्रत तो न कहलायेंगे, जिसे पंचम गुणस्थान कहते हैं, न कहलायें, पर इस बलका कुछ सदुपयोग तो किया। यह देहका बल व्यर्थ ही यों जा रहा था प्रमाद करके अथवा संयमसे घृणा करके ऐसी बातें कलाके साथ बोलते कि जिसमें कुछ देहका संयम आदिक भी न करना पड़े और लोगोंमें हम ऊचें धर्मात्मा भी कहलायें।

आत्मलाभका उद्देश्य न होने पर ही अटपट व्यवहार—आजकल जो छूआछूत बढ़ी है जरा जरासी बातोंमें, अगर धोती किवाड़से छू गई तो अशुद्ध हो गई, बदलो आदिक जो एक सीमाको उल्लंघन करके छुवा-छूत बढ़ी है इसका इतिहास अगर खीचें तो क्या मिलेगा? हम तो यह अंदाज कर सके हैं कि पहले समयमें भरत चक्रवर्तीने विप्र वर्णकी स्थापनाकी थी और वे पूज्य थे, सचमुचमें अच्छे थे, व्रती होते थे, ज्ञानी होते थे और उनके द्वारा अन्य सब लोग धर्मका उपदेश सुनते थे। अच्छे आचरणमें लगते थे, किन्तु वे ऐसे बदले कि साधारण गृहस्थोंकी तरह उनमें प्रवृति हो गई, और भी गिरे तो उनके भाव ऐसे आ गये कि मद्य मांस खाने पीनेका भी मौज लेना चाहिए। अब बतलावो, जहां लोकमें इतना आदर है, पूज्यता है वहां ये गंदी चीजें कैसे इस्तेमाल की जायें? एक यह उनके सामने प्रश्न था पर उनकी बुद्धिने इस समस्याका हल कर लिया। कोई धर्मका रूप दे, यज्ञ करो, बकरे होमो, घोड़े होमो

और लोगोको विश्वास करा दे कि यह धर्मका कार्य हो रहा, सो धर्मके नाम पर हम बड़ेके बड़े कहलायेंगे और उसमें आसानीसे मांस मदिरा आदिक सबका लाभ हो जायगा। ठीक है हुआ, पर एक डर उनको बना रहा कि दूषित काम करने से लोग परख तो जायेंगे सब, तो ऊपरी ऊपरी बड़ी शुद्धि बढ़ाली और मानते कि हम बड़े पवित्र हैं। दक्षिण देशमें देखनेमें आया कि किन्हीं-किन्ही लोगोंके यहां चौकेकी बड़ी शुद्धि चलती है मगर चौकेमें भोजन किस चीज का? मांस मच्छीका। तो ऊपरी शुद्धि जितनी अधिक बढ़कर चलेगी उतनी-उतनी पोल ढकेगी पर इससे हितकी बात तो न बनेगी। इससे इस प्रणाली को बदलना होगा। देहमें जब बल मिला है तो प्रमादन करना। जितनी शक्ति हो उसके अनुसार उसे न छुपाकर ब्रतमें, तपश्चरणमें जरूर लगाना। आजकल लोगों के चारित्रमें इतनी गिरावट आ गई कि रात्रि भोजन तक का त्याग नहीं करते बन रहा, हां कुछ लोग निभा रहे, पर एक नवयुवक वर्ग अथवा अन्य लोग जिनको उपदेश सुननेको मिलता नहीं, या अन्य प्रकारकी वार्ता मिलती है उनमें कुछ परसेन्ट लोग ही रात्रिभोजनके त्यागी मिलते हैं, कहीं-कहीं तो एक परसेन्ट भी रात्रि भोजनके त्यागी नहीं मिलते। उन्होंने अपनेको अत्यन्त कायर बना डाला है, जरा सा भी कष्ट नहीं सह सकते। अरे क्या है, दिनमें ही एक, दो या तीन बार भोजन कर लो, रात्रि भोजन का त्याग रखो। कहीं ऐसा नहीं है कि दिन ही दिनमें भोजन करें रात्रिमें न करें तो स्वास्थ्यमें फर्क पड़ जायगा। यहां तो लोग जान बूझकर उपवास करना ही नहीं चाहते, पर उपवास करनेसे कहीं स्वास्थ्यमें हानि नहीं होती, बल्कि स्वास्थ्य अच्छा रहता है। आज हम आपको कुछ शारीरिक बल मिला है तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। दया करना, ब्रत करना, नियम लेना यह है बलका सदुपयोग।

ज्ञानीके ऋद्धिमदका अभाव—एक मद है ऋद्धिमद—गृहस्थोंकी ऋद्धि है धन वैभव मुनिजनोंकी ऋद्धि और प्रकारकी होती है। तो जो धन वैभव पाया गृहस्थोंने उसमें मद आ जाना ऋद्धिमद है। कोई सोचे कि मेरे पास बड़ा धन वैभव है, अनेक लोग मेरे पास याचना करने आते है। बड़े-बड़े तपस्वीजनोंको हम आहार दिया करते हैं, उनका भी मुझसे ही काम चलता है यों कितनी ही बातें सोचकर उस ऐश्वर्यका मद करना यह ऋद्धिमद कहलाता है पर विचारो तो सही कि यह आत्मा कितना है अपने प्रदेशमात्र इसका वैभव क्या है? इसका जो स्वरूप है वही इसका वैभव है जो इसके साथ ही रहेगा, मरने पर भी न छूटेगा, वह हमारा वैभव है और जो छूट जायगा वह सब उधार लिया हुआ वैभव है। मांगा हुआ वैभव है। **जैसे**—यहां किसीसे उधार कोई चीज लेकर बर्तें, पहनें तो वह कुछ समय बाद देना पड़ता है। पहले समयमें विवाह बारातके समय पुरुष भी अनेक गहने मांगकर पहना करते थे गुंज गोप आदिक। तो बताओ जो मागे हुए पहना सो छूटेंगे कि नहीं? छूटेगें तो ऐसे ही पुण्यका मांगा हुआ सह वैभव है, उधार है, यह आपके गांठ की चीज नहीं है, यह भी छूटेगा, उसका क्या मद करना? एक सेठ था वृद्ध और उसके एक लड़का था नाबालिग ४-६ वर्षका। उसके पास करीब १० लाख की जायदाद थी। जब वह गुजरने लगा तो उसने अपनी सारी जायदाद को कोर्ट आफ वार्ट कर दिया याने सरकारके सुपुर्द कर दिया। अब सरकार उस जायदादकी सम्हाल करे और ५००) रुपये महावार सेठ के बालकको गुजारेके लिए देती रहे। उस बालककी सेवा के लिए एक नौकर रख दिया। जब वह

बालक कुछबड़ा हुआ तो सरकारके बड़े गुण गाये, वाह कितना अच्छी है सरकार जो मैं घर बैठे ५००) मासिक देती है, और किसी को तो नहीं देती। उस बालकको यह पता न था कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकारने ले रखी है, धीरे-धीरे जब वह बालक १७-१८ साल का हुआ और यह जान लिया कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकारने कोर्ट कर रखी है, उसके एवजमें ५००) रुपये महावार गुजारेके लिए दे रही है सो उसने झट सरकारको नोटिस दे दी कि अब मैं बालिग हो चुका हूँ, मुझे नहीं चाहिए ५००) मासिक मुझे मेरी दस लाख की सम्पत्ति दे दी जाय। लो मिल गई उसकी सारी सम्पत्ति तो ऐसे ही अनादि कालसे यह जीव नाबालिग बना चला आ रहा है' नाबालिक मायने अज्ञानी, सो इसका अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान जो वैभव है उसको इस कर्म सरकारने कोर्ट कर रखा है। निमित्त नैमित्तिक भावसे कर्मके विपाककालमें आत्मामें ये प्रकट नहीं हो पाते बदलेमें थोड़ी पुण्य सामग्री दे देता है, जैसे कुछ वैभव मिला, दूकान सम्पदा मिली, ऐसा कुछ योग लगा देता है। तो यह बड़े गुण गाता इस पुण्य सरकारके कि मुझको कितनी सुविधा दी, किन्तु जब यह बालिग हो जाता, ज्ञानी हो जाता तो सोचता है कि ओह मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द तो इस कर्म सरकारने कोर्ट कर रंखा है और कदाचित थोड़ा-थोड़ा वैभव मिला तो मैं उसके गुण गाता हूँ, उस पुण्य सरकार ने हम पर बड़ी करुणा की है, ऐसा परिचय होते ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा अब उस पुण्य वैभवको ठुकरा देता है और अपने भाव व्यक्त करता है, बल प्रकट करता है कि मुझे न चाहिए यह पर वैभव। मेरे को तो मेरा अनन्त जो वैभव है ज्ञान दर्शन आनन्द शक्ति, बस यही चाहिए, सो जब वैभव को ठुकरा दिया अपने ज्ञान द्वारा और अपने में अपने अनन्त वैभवका ध्यान दिया, उसके स्रोतभूत ज्ञानानुभवका सहारा लिया तो इसके प्रतापसे उन कर्मोंकी निर्जरा होती हे, कर्मोंका ध्वंस होता है और इसको अपना अनन्त वैभव प्राप्त हो जाता है।

ऋद्धिमें संतुष्ट न होकर आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें संतुष्ट हानेका कर्तव्य—देहमें जो बल मिला है उस बलसे संतुष्ट न होइये, ऐसे ही जो ऋद्धि वैभव मिला है उस वैभवसे संतुष्ट न होइये। एक बात और जानो। लोग कहते हैं कि पुण्य के उदयसे वैभव मिला तो उदयका अर्थ क्या कहलाता? सूर्यका उदय हुआ इसका अर्थ क्या कहलाया कि सूर्य निकला। निकलने का नाम उदय है। पुण्यके उदयसे वैभव मिला इसके मायने है कि पुण्यके निकलनेसे वैभव मिला। उदयमें होता ही यह है कि जो कर्म सत्तामें थे वे अब अलग होने लगे। तो जितना भी सुख मिलता वह पुण्यके निकलने से मिलता है अब पुण्यके निकलने का तांता लगा है, अब यह पुण्य कर्म निकला, अब दूसरा पुण्य कर्म निकला, यों पुण्यके निकलनेका तांता लगा रहता है १०-२० वर्ष तक धन वैभव भी बना रहता है। अब मानलो पुण्य तो निकलता रहे और नया पुण्य न आने दें तो क्या गति होगी? सो यह जानता कि ये सब पुण्य पापके उदयके फल हैं, इनमें मेरा कुछ नहीं है। मैं इनसे उपेक्षा करके अपने आपमें अपना जो अनन्त वैभव है बस उस पर दृष्टि दूं। और वैभव पर भी दृष्टि देनेसे वैभव नहीं मिलता, किन्तु अपनेको अकिञ्चन ज्ञानमात्र अनुभव करनेसे वह समस्त विकास बन जाता है। इसलिए एक ही छोटा सा उपाय है कि जब चाहे आप अपनी ओर दृष्टि करें और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें। प्रतिभास, ज्ञान, जानन जिसकी मूर्ति नहीं। अमूर्त ऐसा प्रतिभास मात्र हूँ। इसका अन्य कुछ नहीं है। यह अन्यका कुछ करता

नहीं है, अन्य किसीको भोगता नहीं है। सर्व व्यापार व्यवसाय खुद के खुदमें ही चलते हैं, ऐसा परसे निराला अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना।

अन्तस्तत्त्वके रुचियाके चित्तमें मदका अनवकाश—जिस जीवने अपने आत्माके सत्तासिद्ध सहज स्वरूपका परिचय पाया उस परिचयके साथ होने वाले आत्मीय आनन्दका अनुभव किया उसको आत्मतत्त्वके सिवाय जगतका अन्य कोई पदार्थ रुचता नहीं, ऐसा पुरुष धन वैभवको पाकर क्या घमंड करेगा? कर्मोदय वश वह न निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो सकता, न निरन्तर आत्मध्यान का प्रयोग कर सकता और रहना उसे पड़ा श्रावक अवस्था में और वहां धन वैभव कमाना रखना भी आवश्यक है तो वहां यह खेद मानता है कि जैसे कीचड़में फंसा हुआ हाथी निकल नहीं पाता ऐसे ही यह मैं इस कीचड़ गृहस्थीमें फंसा हुआ हूं। उद्यम तो निकलने का है, पर स्थिति है ऐसी कि नहीं निकलता, उसका खेद मानता ही रहता है घमंड करने की तो गुंजाइस ही कहां है? ज्ञानी पुरुष अपने इस धन वैभवके समागममें लज्जा महसूस करता है। कहां तो मेरा ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, सौख्य अनन्त, पराधीन न हो ऐसे स्वभाव वाला और कहां इस स्वाधीन अविनाशी आत्मीय लक्ष्मी को छोड़कर इस बाहरी पौद्गलिक विभूतिको ग्रहण कर रहा हूं। इसमें वह लज्जा मानता है। तो ऐसे अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत श्रावक धन वैभव के बीच रहकर धन, वैभव वैभवमें मद कैसे करेगा? उसे तो यह कलंक दिखता है। ज्ञानी पुरुषको वैभव और ऐश्वर्यका मद नहीं होता। किसी चीजमें घमंड करना यह सम्यग्दर्शनका दोष है। यह दोष बढ़-बढ़कर सम्यक्त्वका भी घात कर डालता है।

ज्ञानी जीवके तपोमदका अभाव—कभी यह जीव तपश्चरण करने लगा। मुनि हुआ तो उसे तपका मद नहीं होता। कैसी उस ज्ञानीकी अन्तः धुन है केवल सहज चैतन्यको प्रकट करनेकी उसकी दृष्टि ऐसी बनी रहती कि उस पर्यायमें तपश्चरण करता हुआ साधु तपमें मद नहीं करता। तीन तत्त्व होते हैं (१) पाप (२) पुण्य और (३) धर्म पाप तो खोटा परिणाम है, अशुभगतिमें ले जाने वाला है। अत्यन्त हेय है, पर पुण्यभाव हेय है, उसे अत्यन्त हेय नहीं कहा गया। प्रवचनसारमें श्री अमृतचन्द्र सूरिने इन तीन के सम्बंधमें यों विशेषण दिया अत्यन्तहेय अशुभभाव, हेय शुभ भाव, और अत्यन्त उपादेय शुद्ध भाव तो बीचका जो पुण्य भाव है, शुभ भाव है और आप सिद्ध होता है कि किसी अवस्थामें पूज्य है, किसी अवस्थामें हेय है पर उसे अत्यन्त हेय शब्दसे नहीं कहा गया। उससे हमें क्या शिक्षा मिलती है कि भाई पुण्यभावके द्वारा पापको विलीन करना, दूर करना और पुण्यभावसे सुरक्षित रहकर फिर अपने उस शुद्ध भावको प्रकट करते हुए पुण्यसे भी अतिक्रान्त होकर अपने स्वरूपमें रमना, इसे यों कहो कि जैसे कोई योद्धा युद्धमें लड़ने जाता है तो अपने साथ दो चीजें रखता है ढाल और तलवार, ढाल तो शत्रुका वार रोकने का काम करता है और तलवार शत्रुका संहार करने का काम करता है, ढाल और तलवार दोनोंके बिना योद्धा युद्धमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार से पुण्य भाव रूपी ढाल से पाप के आक्रमणका वार रोककर सुरक्षित होकर फिर शुद्धभावरूपी शस्त्रसे कर्म शत्रुका छेंदन करना, इस तरह की प्रक्रियामें जो चलता है वह सफल हो जाता है तो तपश्चरण ब्रत संयम आदिक जो कुछ भी क्रियायें की जाती हैं, मन, वचन, काय तो अभी हैं ही, वे किसी न किसी ढगमें

लगेंगे, तो किस ढ़ंगमें लगना वह सब संयममें बताया है, उस संयमके द्वारा अपने आपको सुरक्षित करते हैं ज्ञानीजन और उस सुरक्षित दशामें भीतर शुद्ध दृष्टि करके विकारको मूल से खत्म कर देते हैं।

ज्ञानीके तपश्चरणका प्रयोजन—ज्ञानीजन क्यों तपश्चरण करते हैं इसे बताया है समाधि तंत्रमें कि आराम-आराममें पाया हुआ ज्ञान कोई दुःख की परिस्थिति होने पर नष्ट हो जाता है। इस कारण मुनिजनों को अपनी शक्तिमाफिक दुःखसे अपने को जोड़ना चाहिए। दुःख मायने तपश्चरण आदिक, अनशन आदिकार्य उससे एक तो आत्मामें विशुद्धि जगती, दूसरे—कदाचित उदयवश एक दो दिन भोजन न मिल सका तो ऐसी अवस्था में वह धीरता रखना सीखगया, क्योंकि उपवास करनेकी उसने आदत बना लिया। तो वहां बताया गया कि तपश्चरण आदिकसे अवश्य ही अपनेको युक्त करना चाहिए और भी बात देखिये आज मन श्रेष्ठ मिला है, देह में बल भी है तो इस बलको इस देहको हम व्रत तप संयममें न लगाकर विषयोंमें, गप्पोंमें, कलहोंमें ऐसे ही अपने माने हुए आराममें ही लगायें तो उसे विवेक नहीं कहा जा सकता। वह तो पापकी ओर ही गया है इस कारण इस देहको तपश्चरणसे युक्त करना चाहिए, तो ज्ञानको शुद्ध बनाना चाहिए। तो तप करते हुए उनके मद नहीं होता कि मैंने ऐसा तप किया। किसी दूसरे का एहसान लादनेके लिए व्रत तप हैं क्या? थोड़ा सा भी व्रत तप करने वालोंको आजकल प्रायः करके जरा-जरासी बातमें गुस्सा आता है, उसका कारण क्या है कि वे कुछ व्रत तप करके ऐसा समझते हैं कि मैं इन लोगों पर एहसान लाद रहा हूँ। अरे एहसान क्या किया? संसारके दुःखोंको देखो अपने दुःखों को दूर करनेके लिए धर्म दृष्टिका प्रयास किया जा रहा है। ज्ञानीको तपश्चरण पर मद नहीं होता, अन्य तपस्वियों को देखकर अंतरंगमें प्रमोदभाव होता है, क्योंकि उनके चित्तमें है कि विषयोंसे हटकर तपश्चरणमें लगते हुए अपनेको सुरक्षित करके भीतरमें ज्ञान साधना की जा रही है, उसको देखकर वह पुरुष अपनेमें प्रमुदित होता है। ज्ञानी पुरुष को तपश्चरणका कभी घमंड नहीं होता।

ज्ञानीके रूपमदका अभाव—एक मद है रूपका मद, सुन्दरताका मद, ज्ञानी विचारता है कि मेरा स्वरूप मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है। उसमें यह शारीरिक सुन्दरता और रूपका वहां कोई सम्बंध नहीं है। मैं चैतन्यमात्र हूँ और कर्मकलंकके कारण यह शरीरका सम्बंध जुड़ा है सो यह तो उसके साथ कलंक लगा है। अब यह शरीर किन्हीं मोही जनोंके लिए सुन्दर रूप वाला जचें तो उनकी भावना है, उनकी ऐसी कल्पना है। किन्तु यह शरीर तो अपवित्र है सुन्दरताका क्या अर्थ? एक बात और जानो। कोई पुरुष या महिला शरीरमें कितना ही सुन्दर हो, गौरवर्णका हो, छवि हो कुछ भी हो लेकिन वह कषायमें रहा करे, घमंड बगराये जब चाहे इतराये, दूसरोंको धोखा दे लालच बढ़ा हो तो उसमें सुन्दरता न झलकेगी और कोई पुरुष चाहे रूपवान नहीं है मगर गम्भीर है, धीर है, एक मजबूत लक्ष्यकी पकड़ वाला है, धर्मदृष्टिका है, लोगोंके उपकारमें रहता है तो उसके चेहरे पर सुन्दरता झलकेगी, मनोज्ञ होगा, सबको प्रिय होगा। तो शरीरकी सुन्दरता का भी आधार रहा आत्माका भाव। जब वीतराग हो जाता है तो यह शरीर स्फटिक मणिके समान सुन्दर हो जाता है। भला बताओ कौन करने आया इस शरीरको निर्मल? उस वीतरागके भावोंने शरीरको निर्मल बनाया। १२वें गुणस्थानमें शरीरमें रहने वाले निगोदिया

जीव मरते हैं, १२वें गुणस्थानके अन्तमें शरीर निगोदिया रहित हो जाता है। १३वें गुणस्थानमें प्रवेश है वहां स्फटिकमणिकी तरह शरीर हो जाता है। कहते हैं कि अरहंत भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। आप तो स्फटिकमणिकी मूर्ति हो उसे भी रखकर देख लो, उसकी छाया न पड़ेगी अच्छा उसे जाने दो, कोई कांचकी मूर्ति रख लीजिए, उसकी भी छाया न पड़ेगी। तो स्फटिक मणिकी तरह शुद्ध होना, शरीरकी छाया आदिकका न होना, ये बाहरी अतिशय भी अंतरंग अतिशयपर आधारित होते हैं। शरीरका मद, रूपका मद ज्ञानीके नहीं होता, यह कहा जा रहा है।

शरीररूपकी विनश्वरता व अविचारितरम्यता—क्या है रूप? क्षण-क्षणमें यह रूप विनश्वर है, सनत्कुमार चक्रीकी ही तो कथा है, उनका कामदेव जैसा रूप था, जिनकी सुन्दरताकी चर्चा स्वर्गोंमें भी चल उठी। जैसे यहां सभायें लगती हैं। कोई वक्ता बैठता है, श्रोता सुनते हैं स्वर्गोंमें भी यही सभायें रहती हैं। यहां तो लोगों को समय कम मिलता है, दुकान है काम धंधा है, वहां तो सब देव खाली रहते हैं उन्हें रोजगार करना नहीं पड़ता, खाने-पीनेका आरम्भ नहीं करना पड़ता। हजारों वर्षोंमें भूख लगती तो वहीं कंठसे अमृतझर जाता, तो उन देवोंकी सभा लगी हुई थी, वहां चर्चा आयी सनत् कुमार चक्रीके रूपकी तो उसे सुनकर एक देवके मनमें आया कि चलकर देखना चाहिए कि कैसा रूंपवान है वह चक्री। तो तब वह देव पहुंचा देखने के लिए तो उस समय सनत्कुमार खाली लंगोट पहने हुए व्यायाम कसरत करके अखाड़े की धूलसे लथपथ शरीर होकर स्नान करनेके लिए कुंवेपर बैठे थे। उस समय उनकी छवि निराली थी। उस छवि को देखकर देवने कहा सचमुच सनत्कुमार चक्रीका रूप वैसा ही सुन्दर है जैसा कि स्वर्गोंमें सुना था। तो वहां उपस्थित कुछ लोग बोले अरे इस समय इनमें सुन्दरता कहां? जब नहा-धोकर राजसी वस्त्र पहिनकर सिंहासन पर बैठे होंगे उस समय इनका रूप देखना। आखिर देवको कौतूहल हुआ और जब सनत्कुमार चक्री राजसी वस्त्र धारणकर सिंहासन पर बैठे हुए थे उस समय फिर वह देव उन्हें देखने गया तो वहां देख कर माथा धुनने लगा और कहने लगा—अरे अब तो वह सुन्दरता नहीं रही जो पहले देखा था। तो लोग बोले—अरे यह क्या कह रहे? कैसे नहीं है वह सुन्दरता? तो देवने उनसे कहा पहले एक घड़ा पानी मंगावो और एक पतली सींक लावो तब हम इस बात को समझायेंगे। आखिर आगया एक घड़ा पानी और एक पतली सींक। देवने घड़ेमें सींक डाला और उससे एक दो बूंद पानी निकालकर बाहर डाल दिया और उनसे पूछा बताओ इस घड़ेमें से एक दो बूंद पानी निकल जानेपर घड़ेका पानी कुछ कम हुआ कि नहीं? तो सभी बोले-हाँ कम हुआ। तो फिर देव बोला—बस ऐसे ही रूप सौन्दर्य की बात हैं। यह शरीर क्षण प्रतिक्षण क्षीण होता जा रहा है, इसका रूप सौन्दर्य क्षण प्रतिक्षण कम होता जा रहा है। इस शरीरके रूप सौन्दर्यपर क्या घमंड करना। तो इस रूप सौन्दर्य का घमंड अज्ञानीजन ही किया करते हैं क्योंकि उन्होंने समझा कि यह शरीर मैं हूँ और मैं बड़ा सुन्दर हूँ। अरे इस हड्डी, चाम, मज्जा वाले शरीरको मैं मान रहा यह अज्ञानीजीव। उसे यह पता ही नहीं कि मेरे आत्मा का स्वरूप कैसा है। मेरा स्वरूप तो अतुल, अचिन्त्य ज्ञानानन्द वैभव वाला है, सबसे निराला ज्ञानमात्र है, जिसकी दृष्टि बननेपर संकट सब दूर हो जाते हैं।

आत्मस्वरूपका महत्त्व न आकंनेवाले पुरुषोंकी दुर्दशा—अहो, कहां तो यह मैं दर्शन

ज्ञानस्वरूप वाला, सहज आनन्दस्वरूप वाला और कहां यह चक्कर लग उठा शरीरका, ऐसे—ज्ञानीको कहीं रूप पर मद हो सकता है क्या? अरे एक दिन भी आहार पानी न मिले तो देह मुर्झा जाता है। इसकी सुन्दरताका क्या मद करना? आज यदि रूप पाया, मद किया तो उसका फल क्या होगा? अगले भवमें विरूप, कुरूप, कुबड़ा, दरिद्र, लूला, लंगड़ा आदिक अनेक दशावोंको प्राप्त होगा। देखो अनेक जीव कितना दुःखी नजर आ रहे हैं। ये बैल, गधा, घोड़ा, झोंटा आदिक को देखो, चाबुक पर चाबुक चल रहे। कंधे सूज रहे जुत रहे लद रहे, फिर भी पिट रहें। कैसी दयनीय दशा इनकी है। इनको देखकर एक तो यह बात चित्तमें लाना कि ये जीव भी हैं सहज परमात्मस्वरूप। पर कर्माक्रान्त होनेसे ये कैसी दयनीय दशाको प्राप्त हुए हैं, कुछ उन पर करुणा आनी चाहिए। अपने आपके स्वरूप के समान उनका स्वरूप निरखें। दूसरी बात यह ध्यान में रखें कि मैं भी उन जैसा अनन्ते भवों मे बना और अब भी न चेते तो फिर ये ही सब दशायें होंगी। अज्ञानी जीव आज तो अपने इस रूप सौन्दर्य को देखकर घमंड कर रहा पर यहां से मरकर हो गया मानलो सूकर तो फिर क्या हाल होगा? देखा होगा कि लैट्रिनके नीचे सूकर प्रवेश करता और ऊपर से कोई शौच करता तो सारा शरीर उस सूकरका मैलेसे भिड़ जाता है, ऐसी उसकी दशा देख कर भी क्या अपने आपके विषयमें कुछ विचार नहीं चलता। ऐसी-ऐसी दुर्दशायें तो हम आपकी भी हुई अगर न चेते तो फिर वही दशायें होंगी।

स्वसंचेतनका कर्तव्य—चेतने का अर्थ क्या है कि अपने स्वरूपास्तित्त्वको निरखिये कि यह मैं हूँ ऐसे स्वरूप वाला जिसमें कोई सकंटका नाम नहीं। यदि मेरेमें संकटका स्वभाव होता तो फिर संकट कभी न मिट सकता था। मेरे में यदि विकार स्वभाव होता तो विकार भी कभी न मिट सकते हैं, मगर ऐसा नही है। मेरा स्वरूप निर्विकार है, कष्टरहित है। अपने आपके सत्त्वसे जो बात होती हो उसको निरखना है। और विकार हो रहे हैं उनको मना तो नहीं किया जा सकता। हो तो रहे हैं। संकटोंमें पड़े ही हैं, ये विकार पुद्गल कर्मके उदय का निमित्त पाकर हुए हैं। ये होनेका मेरा स्वरूप नहीं है। तो निमित्तके निर्णयसे स्वभावदृष्टिका बल मिला, ये मेरी चीज नहीं हैं, पौद्गलिक हैं, नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, इनसे मुझको लगाव न रखना चाहिए। जो मेरा निज सहजस्वरूप है उसका लगाव होना चाहिए। ऐसा अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानीसंत कैसे रूप का मद कर सकेगा? तो अष्टमदरहित भाव सम्यग्दर्शनमें होता है। अब कह रहे हैं कि कोई पुरुष व्यर्थ ही अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर जैसी कि आदत है संसारी जीवोंको कि अपनेको किसीसे कम न मान सके और अपने को बुद्धिका भण्डार समझता है, वह पुरुष अज्ञानी होनेके कारण यदि किसी धर्मात्माका अपमान, अपवाद करता है तो वह आत्मप्रेमी नहीं है, वह शुद्धभाव वाला नहीं है। ज्ञानी नहीं, सम्यग्दृष्टि नहीं। यह ही बात इस श्लोकमें कह रहे हैं।

स्वयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥ २६॥

स्वरूपदृष्टा संतजनों द्वारा धर्मात्मावोंका अपमान होनेकी असंभवता—जो घमण्डी पुरुष अपने मदके कारण अन्य धर्मात्माजनों का उल्लंघन करता, उनका अपमान करता सो वह उनका अपमान

नहीं किन्तु अपने धर्मका ही अपमान कर रहा, क्योंकि धर्म धार्मिक पुरुषोंके बिना नहीं होता। एक बड़ा दोष है जीवमें कि कुछ थोड़ा बोल बोलना जान गये तो वे मदमें लिप्त हो जाते हैं। और मानों वे अपनेको इस तरह मानते कि मानो संसारमें कुल दो आँखे मिली हों तो डेढ़ आँख वाला तो अपनेको मानते, बाकी आधी आँखमें सारी दुनिया को मानते। अपनेमें घमंड बनाकर वे अन्य धर्मात्माजनोंका अपमान करते। आखिर घमंड होने पर मन, वचन, कायकी चेष्टायें तो विपरीत होंगी ही मन उसका व्यवस्थित रहेगा नहीं, वचन भी अटपट निकलेंगे।, शारीरिक प्रवृत्तियाँ भी उसकी अटपट होंगी। तो घमंड होनेके कारण उसने अपने आप का घात ही किया। धर्म उस आत्माका ही तो नाम है। कोई आत्मा से धर्म अलग चीज होती हो तो बात नहीं। धर्म कहीं खरीदनेसे नहीं मिलता, किसी दूसरेसे मांगनेसे नहीं मिलता, किन्तु स्वयंको अपने स्वभावकी आराधना करने पर प्राप्त होता है। ऐसे धार्मिक पुरुषोंको छोड़कर धर्म कहीं अन्यत्र नहीं। धर्मात्माजनोंकी विनय सम्यग्दृष्टि पुरुष करते हैं। धर्मात्माजनोंकी विनय करते तो समझो धर्मकी विनय करते। ज्ञानी पुरुषोंसे किसीकी अविनय नहीं बनता। वे धर्मात्माजनोंकी विनय करते हुए में भी अपने सहजस्वरूप की निरख बनाये रहते हैं। जैसे दूधमें घी सामने नहीं है कि हाथ से छूकर बताया जा सके कि यह है घी, पर पारखी लोग दूध को निरखकर परख लेते है कि उसमें एक छंटाक घी है। विधिसे वे उस घी को निकाल भी लेते ऐसे ही पारखी पुरुष आत्मामें यह निरखकर लेते हैं कि यह सहज परमात्मतत्त्व है। यद्यपि वह प्रकट नहीं है, प्रकट तो सांसारिकदशा है, विकारदशा है, परस्वरूपकी दृष्टि करना आवश्यक है।

ज्ञानकलाका विलास—ज्ञानमें एक प्रभाव है। ज्ञान कहीं रोकेसे रुकता नहीं है। चाहे बात न दिखती हो ऊपर, आवरण बहुत हैं फिर भी ज्ञानीकी इतनी सही दृष्टि है कि अनेक आडम्बरोंके बीच भी उनमें अटककर अपने आत्मस्वरूपपर दृष्टि ले जाता है। जैसे एक्सरा लेने वाला यन्त्र शरीरके चाम, खून, मांस, मज्जा आदिक किसी से न अटककर मात्र हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही ज्ञानी जीव सर्व बाह्य प्रसंगोंके बीच रहकर भी उनमें न अटककर मात्र अपने आपमें बसे हुए सहज आत्मस्वरूपको अपनी दृष्टि में ले लेता है। यद्यपि यह स्वरूप आज प्रकट नहीं है, विषय कषायोंसे ढ़का है, कर्मसे ढका है फिर भी उसे ज्ञानी पुरुष आपनी ज्ञानदृष्टिके द्वारा तक लेता है। तो ज्ञानी पुरुष तो प्रवीण है। वह हर उपायोंसे अपने सहज आत्मस्वरूपको सिद्ध करता है। यहां जो इतनी-इतनी विचित्रतायें दिखती हैं, नाना प्रकारके देह दिखते हैं, यह सब क्या है? तो यह सब कर्मों का भार है। कर्म आक्रमण कर रहें हैं, विकारका इस वक्त अक्स खिच रहा है चित्रण हो रहा है फिर भी जीवका स्वरूप विकार करनेका नहीं है। कष्ट का नहीं है। यह बात जो जान चुका हैवह किसी का अपमान क्यों करेगा? सब परमात्मास्वरूप हैं। जैसे अपने में परमात्मस्वरूपका दर्शन किया, स्वरूपका ज्ञान किया ऐसे ही वह परको भी समझ रहा है, उनका वह अपमान नहीं करता। पर जो अज्ञानीजन धर्मात्माजनों का अपमान करते हैं और अपने आपको उनसे अधिक मानते हैं उनके प्रति कहते हैं तो वे अपने धर्मका ही घात करते है। क्योंकि धर्म-धर्मात्मा पुरुषोंको छोड़कर कहीं अन्यत्र पाया नहीं जाता। निष्कर्ष यह है कि अपने आप अपनेको ज्ञानमात्र मनन करते हुए यथाविधि, यथाबल अपने ख्यालको हटाकर एक उच्च विश्राममें

एक क्षण आत्माको रखना तो चाहिए। आखिर दिनभर श्रम करके थका हुआ मजदूर भी तो कुछ हाथ-पैर ढीले-ढाले करके जमीनमें लेटकर कुछ विश्राम कर लेता है, अपनी थकान दूर कर लेता है। तो विकल्पों की भारी थकान दूर करनेके लिए कुछ विश्राम तो लीजिए। वह विश्राम मिलेगा अपने आत्मस्वरूपके मननमें।

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्॥ २७॥

मिथ्याभाव हटनेपर पापनिरोधकी सम्पत्तिकी प्राप्ति—यदि पापका निरोध हो गया है, पापभाव रुक चुका है, नहीं होता है तो अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है? मायने जरूरत ही क्या रही, वह तो स्वयं शान्त हो गया, स्वयं आनन्दमें आ गया और यदि पापका आश्रव चल रहा है तो अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। पापभाव किये जा रहे हैं, उसका फल तो बड़ा विकट मिलेगा, और वर्तमानमें आकुलता ही चल रही है, उसे सम्पत्ति क्या लाभ दे सकती है? मुख्य बात यह ध्यानमें रखना कि मेरे पापका निरोध हो जाय, पापभाव मेरेमें मत हो, पापभावमें पहला तो है मिथ्यात्व, फिर लगावो हिंसा झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह, उन सबकी जड़ मिथ्याभाव है। जिसके मिथ्याभाव है उसके पापका आश्रव हुआ ही करेगा। मिथ्याभावके मायने क्या? जो मैं नहीं हूँ उसको मानना कि यह मैं हूँ पहली गल्ती यह है शरीर मैं नहीं हूँ और शरीर को निरखकर माने कि यह मैं हूँ यद्यपि आजकी पर्याय यह विभाव पर्याय है यह असमानजातीय द्रव्य व्यञ्जनर्याय है। यहां जीवको अलग धर दें शरीर को अलग धर दें ऐसा नहीं बनता। यहां ही सब संयुक्त हो रहा है फिर भी ज्ञानकलामें वह माहात्म्य है कि ऐसी मिली हुई हालतमें भी हम ज्ञानबलसे ज्ञानमात्र स्वरूपके मनन द्वारा हम आत्मतत्त्वका लक्षण भिन्न पहिचान सकते हैं, और देह अचेतन है, प्रकट है, तो देहमें आत्मबुद्धि होनेको मिथ्यात्व कहते हैं। जहां देहमें आत्मबुद्धि हो वहां परके देहोंमें भी ये परभाव ऐसी आत्मबुद्धि हुआ करती है और इन दोनों गल्तियोंके आधारपर नाते रिस्ते, शत्रु मित्र आदिक सारे व्यवहार चल उठते हैं। तो इस मिथ्याभावके कारण होता क्या है? जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो शरीरये है पंञ्चेन्द्रिय आदिक। इन इन्द्रियों द्वारा होता है विषयों का ज्ञान तो यह विषयोंके भोगनेमें और विषयभोगके साधनोंमे एकदम जुटता है। और यह मानता है कि यही तो मेरा काम है। इस ही में तो मेरी महिमा है। इस ही से मेरा बड़प्पन है, बस बड़ी कठिनाईसे पाया था मनुष्यभव, और जैन शासनका मिलना तो बड़े ऊंचे पुण्योदयकी बात थी मगर वह सब बेकार कर दिया एक मिथ्याभावके कारण। सो पहले यह मनन बनायें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, देह स्वरूप नहीं हूँ जब इस ज्ञानकी भावना बढ़ेगी तब परिपूर्ण एक निर्णय बन जावेगा कि मैं तो वह हूँ जिसे दूसरा कोई नहीं लखता। उस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझ आत्माका दुनियामें क्या रखा है?

दृश्यमान जगतकी मायारूपता व अविश्वास्यता—यह दिखने वाला सारा जगत मायाजाल है। माया-माया तो हर एक कोई कहता, पर मायाका वास्तविक लक्षण क्या है, इसका उन्हें पता नहीं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे बना हुआ ढांचा माया है। जो कुछ दिख रहा वह सब अनेक द्रव्योंके संयोगसे

बना हुआ ढांचा है, यह सब माया है, हम आप भी जो देख रहे वह सब भी माया है। यह भी जीव शरीर और कर्म इन तीन चीजोंके संयोग से बना हुआ ढांचा है। इस मायाका क्या विश्वास करना और मायाजालके लिए क्यों कमर कसना? मैं ऐसा ही करुंगा, ऐसी ही मिथ्या हठ न करना, अपने आपके स्वरूपकी चर्चा करिये अपने आपके स्वरूपकी ओर आइये तो अल्प प्रयास भी बने तो वहां भी कुछ शान्तिका अनुभव होता है। और भावना दृढ बने, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बने तो उसको विशेष शान्ति मिलेगी। बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि बांधकर सुख शान्ति नहीं मिलती। एक बात यहां यह समझना कि जिन चीजोंसे हमें हटना है वे चीजें है क्या? इसका ब्योरा जाने बिना उनसे हटना कठिन होता है। मुझे क्या हटाना है? विकार रागद्वेषादिक जो भाव चलते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ भाव बनते हैं। अभिलाषा, इच्छा, प्रतीक्षाके भाव बनते हैं, इन विकारोंसे हमें हटना है। बात तो यह है सीधी। तो पहले यह तो समझें कि ये विकार बनते किस तरह हैं? और ये विकार बनते किसमें हैं? मुझ जीवमें बन रहे हैं। तो कोई भी पदार्थ हो, यदि अकेला है, एक है तो उसमें कभी विकार नहीं जगते। आप दुनियाके उदाहरण ले लो बहुत से। यदि किसी वस्तुमें विकार जगा तो समझिये कि उसके साथ कोई प्रतिकूल संयोग है, उसका निमित्त पाकर विकार जगा है। मेरे स्वभावमें विकार नहीं है, अर्थात् मैं विकार करनेका स्वभाव रखता हूँ ऐसी बात नहीं है। जैसे कि मैं जाननेका स्वभाव रखता हूँ, विकारका स्वभाव नहीं रखता और इस तरह भी समझ सकते कि ये विकार अस्थिर होते हैं, मिटते हैं, विषम हैं, स्वभाव तो ऐसा नहीं होता। मिटेगा, विषम होगा यह स्वभावका लक्षण नहीं हैं। क्रोध आया, मिटा, मान आया-मिटा, माया आया-मिटा, लोभ आया-मिटा, यों कितने ही विकार आते और मिटते, मगर ज्ञान सदा साथ चलता है। ज्ञानस्वभावकी बात तो और भी स्वभावरूपसे शाश्वत मालूम पड़ेगी।

जीवमें विकार जगनेके कारणोंका दिग्दर्शन—यहां तीन कारण समझिये- जो हम आपमें ये विकार जगते हैं। जिनमें खोटी प्रवृत्ति बन रही है वहां तीन कारण है। प्रथम तो उपादान कारण, जिसमें विकार परिणाम बना वह है यह जीव, दूसरा निमित्त कारण वह है उस प्रकृति का उदय और जगतके जितने ये पदार्थ है इन्हें निमित्त कहते तो हैं पर ये निमित्त कारण नहीं कहलाते, ये कहलाते है आश्रयभूत कारण। स्पष्ट ज्ञानके लिए ये शब्द रखो। आश्रभूत कारणके प्रति व्यवहार जरूर है निमित्त कहनेका, पर उनमें यदि भेद न समझा तो इस निमित्त कारणका उदाहरण देकर कि वेश्याको देखा मुनिमहाराजने और उनके विकारके भाव न जगे तो निमित्त कुछ तो न रहा। वह तो आश्रयभूत कारण है। निमित्तकारण तो मुनिमहाराजका उन कषायोंका क्षयोपशम है जिसके अनुसार उनके वैराग्यरूप भाव हुए। और वेश्याको निरखकर इसने व्यर्थ ही जीवन खोया, ऐसा भाव बन सकता है पर कामके भाव नहीं बन सकते। और कामी पुरुष देखता है तो उसको काम के भाव बनते हैं। तो वहां पर वेश्या आश्रय भूत है और निमित्त कारण उसके वेद आदिकका तीव्र उदय है। तो निमित्तमें और आश्रयभूत कारणमें अन्तर जानना। निमित्त कारण केवल कर्मप्रकृतिका उदय चलेगा विकारमें और आश्रय भूत कारण दुनिया भरके ये सारे विषय साधन हैं। तो जीव जब आश्रय भूत कारण पर दृष्टि गड़ाकर उन्हें अपनाकर उनका आश्रय लेकर विकार करता है वहां तो तीन कारण आ गये ना, सो वे व्यक्त विकार हैं और कभी ऐसा

होता है तो आश्रयभूत कारणका आलम्बन नहीं ले रहा। मानलो मंदिरमें बैठे पूजा कर रहे, जाप कर रहे, सामायिक कर रहे, स्वाध्याय कर रहे तोउस समय उन कषायों का उदय तो नहीं चल रहा। मगर सत्ता में बैठे हैं। हमारा उपयोग उन कषायके आश्रय भूत कारणोंमें नहीं हैं इसलिए वे अवयक्त होकर चले आ रहे हैं, पर फल जरूर मिलता है। तो तीन कारणोंकी बात जाने।

विकार मेटनेके लिए चरणानुयोगकी विधिसे आत्मनियन्त्रणकी उपयोगिता—आप विकार मिटानेके लिए क्या रचेंगे? तो चरणानुयोगके अनुसार आप यह उपाय रचेंगे कि इन आश्रयभूत कारणोंको हटावो। यद्यपि इन आश्रयभूत कारणोंको त्यागने पर भी यह नियम नहीं है कि भीतरकी कषाय दूर हो जाय, किन्तु जब तक बहुत समय तक नहीं रहते सामने, त्याग दिये जायें किसी भी प्रकारसे तो रही सही कषायोंमें फर्क आ जाता है एक बात, दूसरी बात-जिसके वैराग्य जगा है वह कैसे यह कर सकेगा कि इन विषयभोगके साधनोंको पकड़े रहे? यह न बन पायगा, वह त्याग देता है। तो आश्रयभूत कारणोंका त्याग करनेकी मुख्यता चरणानुयोगमें सब वर्णन है। किस-किस प्रकारसे व्रत करना, त्याग करना, कैसे-कैसे प्रतिभावोंमें बढ़ना। अच्छा तो इतने ही मात्रसे अभी मार्ग कल्याणका नहीं बना। वह सहायक रहा, पर उसके लिए क्या करना कि अविकार तो आत्मस्वरूप है उस स्वरूपके ध्यानमें अधिक रहना, जिसके प्रतापसे इन विकारोंमें अन्तर होगा, कर्मका क्षयोपशम भी होगा, पर इन बाह्य प्रसंगोंको त्यागकर अपनेको एक मात्र बनाकर, सुरक्षित रखकर अन्दरमें एक ज्ञानस्वभावकी उपासना करें और ऐसा भाव बने कि यह मैं आत्मा एक चैतन्यमात्र हूँ। स्वरूप दृष्टि करके भीतरमें स्वभावकी भावना बने, बढ़े वह है हमारा पौरुष, जिसके बलसे हम मोक्षमार्गमें आगे बढ़ते हैं। ऐसी बात जानकर ऐसा निर्णय करें कि मेरेमें जो विकार जगते हैं सो वे विकार क्या चीज हैं कि कर्मोंमें अनुभाग पड़ा है। उस कर्म प्रकृतिका उदय आया है, उसका प्रतिफलन आत्मउपयोगमें आया है और इसने अपनी सुध भूलकर उस आक्रमणके समयमें उस प्रतिफलनको अपनाया है और तब यह मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, ऐसा भीतरमें अनुभव करता है। भेद विज्ञान करना किसी स्वभावमें और विभावमें, रुचि करना, भेद विज्ञान करना। ये धन वैभव मकान आदिक मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, ये प्रकट भिन्न हैं, जुदे क्षेत्रमें पड़े हैं, सब स्पष्ट मालूम होता है। हां मोही जीव ऐसे स्पष्ट भिन्न पदार्थोंमें भी लगाव रखते हैं कि ये मेरे हैं, इनसे ही मेरी महिमा है। उनके सम्पर्कमें रहकर अपने आपमें शानका अनुभव करता है, पर विवेक करना ही होगा। अनन्त भव प्राप्त किए विवेक बिना अनन्तभव गुजारा और अब तक जन्ममरण करते आये। यह सब भी उसी पुरानी पद्धतिमें बिता दिया तो इस-इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर क्या लाभ पाया? मान लो यहां से मरकर कुत्ता, बिल्ली, गधा, सूकर मुर्गा-मुर्गी आदि बन गए या कीट पतिंगा बन गए तो फिर आगे उठनेका मौका कैसे मिल पायगा? तो इस जीवनको भोग साधनोंमें बितानेसे कुछ हित नहीं है।

भोगसाधनप्रसंगोकी दुःखरूपता—ये भोग साधन साक्षात् दुःखरूप हैं। कोई सा भी भोग साधनका प्रसंग ले लीजिए, वहाँ शान्ति न मिलेगी। किसी भी भोगविषयके प्रसंगमें शान्ति नहीं है, हाँ सुख लिए हुए हैं। शान्ति और सुखमें अन्तर है। शब्दके अनुसार देखिये—ख मायने इन्द्रिय और सु

मायने सुहावना लगना, जो बात इन्द्रियको सुहाये वह है सुख और शान्ति मायने शमन। किसी भी प्रकारके कषायका क्षोभ जहां उदयमें नहीं है ऐसी स्थितिको कहते हैं शान्ति। तो जैसे दुख हेय है ऐसे ही सुख भी हेय है, यह बात जब तक ध्यानमें न आये तब तक इस चलती आ रही चक्र प्रवृतियोंमें अन्तर नहीं आ सकता। हम पाप हिंसा आदिक करते हैं तो मिथ्यात्वसे अज्ञानवश होकर करते हैं और उनमें प्रयोजन बनता है विषय भोगोंमें। अंदाज बनाओ—स्पर्शन इन्द्रिय के विषयोंको अनेक बार भोगा, संचय किया उस समय वहां सुख माना पर आज इस समय इतनी उम्र होनेपर भी आपके पास सुख जुड़ पाया है क्या? अरे जुड़नेकी बात तो दूर रही, उल्टे तृष्णा बढ़ गई ज्ञान बल खत्म हो गया। मनोबल,वचनबल, कायबल भी न रहा उल्टे हानि पायी, अच्छा रसना इन्द्रियके विषय सेवनमें बताओ खूब स्वादके लम्पटी होकर, सुख माना वह सुख कुछ अब तक जुड़ सका क्या? विषयोंके भोगनेमें विषयोंका बल घटता है। जैसे कि कामसेवनमें शरीरका बल जो एक मूल धातु है उसके बरबाद होनेमें ही सुख मानते हैं शारीरिक शक्ति खतम होती, मनोबल भी बिगड़ता, वचनबल भी बिगड़ता और उनमें मान रहा है यह जीव सुख। बरबादीमें सुख मान रहा है मूल बात है संसारी जीवकी यह हालत है और ऐसा अज्ञान छाया है कि उससे हटना नहीं चाहते। घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय आदिक सभी की यह बात है। खूब सुगंधमें रमते जा रहे हैं पर इतने जीवनमें कितना सुगंधका सुख जोड़ लिया सो तो बताओ? रूपको देखकर आँखोंको कमजोर किया। सिनेमा देखकर रात-रात जागकर समय गंवाया अर्थात् मानसिक बल खोया, कौन सा लाभ मिला? राग रागनीके शब्द, यश प्रतिष्ठाके शद खूब सुन-सुन कर कौन सी बड़ी विभूति प्राप्त करली?

विषयोंमें रमणकर दुर्लभ नरजन्मको निरर्थक करने की दुश्चेष्टा—अहो ज्ञानमात्र आत्मन्! कुछ अपने आप पर करुणा करके विचार तो करो कि इन बाह्यइन्द्रियोंके साधनोंमें रमकर कौन सी अपनी उन्नति करते हो? कोई किसी का मददगार नहीं है। जो मोह और विश्वास लगाया है कि यह मेरा लड़का है इसको इतना ऊँचा बनाना है, यह मुझे आनन्द देगा, मेरे बुढ़ापेमें यह मेरा मददगार होगा ...। अरे आपका पुण्योदय है तो लड़के नहीं तो पड़ोसी मददगार बन जायेंगे या अन्य धर्मात्मा लोग मददगार बन जायेंगे, मगर उसमें कारण आपका पुण्य है। देखिये—पाप का उदय और पापभाव, इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। पापका उदय इस जीवका बिगाड़ न करेगा मगर पापभावमें रहना यह जीवका बिगाड़ करेगा। बड़े-बड़े महापुरुष सुकुमाल सुकौशल आदि हुए जिनको गीदड़ीने चीथा, आगसे जलाये गए, शरीरको चाकूसे छीला गया, यों बड़े-बड़े कष्ट उन महापुरुषोंपर आये पर उस समय उनके पापभाव न था, पापकर्मका उदय था। पापभाव होनेके कारण पापके उदयकी स्थितिमें उनके विकासमें रंच भी बाधा न हुई। इसी तरह पुण्योदय और पुण्य इन दोनोंमें अन्तर है। पुण्योदय होनेपर भी कोई पुण्यात्मा रहे यह नियम तो नहीं। किसीके पास बड़ाठाट बाट है मगर वह मांसभक्षी है, शराबखोर है, पापी है, अन्यायी, दुराचारी है। तो देखिये—है तो वह पापात्मा मगर उसके पुण्यका उदय चल रहा है। तो यह ध्यानमें रखें कि जो भी स्थिति आयेगी उसीमें अपना गुजारा कर लूंगा, पर मैं अपने ज्ञानके बलसे सर्वत्र मार्ग निकालूंगा। अपने आपके सम्मुख होकर शान्ति पाऊंगा, ऐसी मेरे अन्दर कला है। उसका

प्रयोग मैं कर लूंगा। बाह्य पदार्थों पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, ये होते हैं पुण्य पापके उदयके अनुसार सो जैसा होता हो हो, बाह्यमें अपना उपयोग अधिक नहीं फंसाना है। हां गृहस्थीमें रह रहे तो कर्तव्य है दुकान धंधा काम काज आदिक करना, वहां तो लाभ हानिकी बातें चलती हैं मगर अपनी ज्ञानकलाको जागृत करें मैं सर्वत्रसही ढ़ंगसे गुजारा कर सकता हूँ। उस पर विश्वास रखें, बाह्य भोग साधन भोगें, इन विषय प्रसंगोंमें प्रवृति न रखें, यह ही अपने आत्माकी दया है, अन्यथा जैसे अनेक जीवन खोये वैसे ही यह जीवन भी खो दिया जायगा तो यह भी उन्हीं अनन्त भवों में शामिल हो जायगा। एक एक करके जुड़-जुड़ कर तो अनन्त भव अब तक पाये और अनन्तकाल हैं तो हम किसी न किसी दशामें रहेंगे ही।

सहज निजस्वरूपके आश्रयसे ही शान्तिका लाभ—अब आप यह बताओ कि आप किस दशामें रहना चाहते? अगर शान्ति चाहिये तो शान्ति मिलती है। केवल स्व आत्माके आश्रयमें, पर पदार्थ के आश्रय में शान्ति नहीं मिलती और सिद्ध भगवान भी क्या हैं? केवल आत्मा ही आत्मा रह गए, शरीर और कर्मका वियोग हो गया, वही सिद्ध भगवान हैं जिनकी हम आराधना करते हैं। तो यह स्थिति यदि पाना है तो अभी भी अपनेमें अपने केवल स्वरूपको निरखिये कि मैं क्या हूँ कोई पिण्ड रूप मैं नहीं हूँ जो किसीके द्वारा कहींसे कहीं उठाया धरा जा सकूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे ये समस्त प्रदेश ज्ञानमय हैं। इसे बनाया किसने? स्वयं सत् हैं, पर अपने स्वरूप को भूलनेके कारण, परस्वरूपको अपनानेके कारण इस स्वयंका ज्ञान नहीं। यह विकार स्वयं नहीं हुआ, कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ। अगर यह बात स्वयं हुई होती निमित्तके बिना तो यह फिर कभी मिट ही नहीं सकता। जो बात निमित्तोदयक्षयोपशमादि बिना एक ही पदार्थके उस केवलसे ही बन रहा वह चीज कभी मिटती नहीं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, सिद्ध भगवान उदाहरणमें देख लीजिए—जो केवल रह गया उसके परिणाम विकाररूप नहीं बनते। तो ये मुझमें जो विकार हैं तो ये भी नैमित्तिक हैं। ये भी परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं। निमित्तका परिचय करना निमित्त और नैमित्तिकसे हटनेके लिए होता है। कहीं उस निमित्त नैमित्तिकको सोचकर चर्चा करना उन पर बंधनेके लिए नहीं होता किन्तु निमित्तसे भी हटनेके लिए होता है। कैसे हटना? यह जानकर कि ये मेरे स्वभावभूत नहीं हैं, किन्तु परका निमित्त पाकर हुए हैं। परभाव हैं, ये मेरी वस्तु नहीं। खूब स्पष्ट जानते हैं लोग कि दर्पण में बाहरी पदार्थोंकी फोटो फोटो आती है। सब कोई समझते हैं कि ये द्रव्य स्वभावसे ही दर्पण में प्रतिबिम्बरूपसे दर्पण आने पर नहीं बने, वह तो दर्पणमें इस प्रकारकी योग्यता होती है कि उन वस्तुओंका प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ जाता। वह प्रतिबिम्ब बाह्य पदार्थोंकी परिणति नहीं है किन्तु दर्पणकी उस रूप परिणति है क्योंकि बाह्यपदार्थ तो ज्योंका त्यों बाहर पड़े हैं, पर निमित्त नैमित्तिक भाव हैं ऐसा कि बाह्यपदार्थोंका सन्निधान पाकर दर्पण उनरूप परिणम गया। सब लोग जानते हैं और ऐसा बोलते भी हैं कि बाह्यपदार्थोंकी वह प्रतिबिम्बरूप परिणति नहीं है किन्तु दर्पणकी है तो ऐसे ही हमारे आत्माके उपयोगमें ये कर्मोदय का सन्निधान पाकर विकार बने हैं। ये विकार मेरे स्वभावके निकले हुए नहीं हैं। मेरा परिणमन होने पर भी स्वभावसे हुए

नहीं इसलिए उनकी उपेक्षा की जा सकती है। और अपने जाननमात्र ज्ञानस्वरूप स्वभावकी भावना बनाकर उनसे हटकर यहां लगा जा सकता है। यह ही तो पौरुष करना है।

अपनेको पर व परभावोंसे विविक्त परखनेका मुख्य कर्तव्य—अपनेको धन वैभव आदिकसे निराला, शरीरसे निराला, कर्मोंसे निराला और कर्मोदयजनित विकार से निराला ज्ञानमात्र स्वरूपमें निरखनेका अभ्यास करना चाहिये। यह ही अभ्यास जैसा हमारा सुदृढ़ होगा वैसा हम अंतस्तत्त्वके ध्यानमें बढ़ सकेंगे और व्यर्थका जो ये जंजाल है यह सब छूट जायगा। इसके लगांवमें लाभ क्या मिलेगा? यह जीव अकेला ही मरकर जायगा। जैसे पापभाव किया है, जैसा बंध किया है वैसे कर्म भी इसके साथ जायेंगे। और वहां यह जीव वैसा फल पायगा। तो हम अनेक उपायोंये प्रभुभक्ति सामायिक, स्वाध्याय, आत्मचर्चा, सत्संग आदि सर्वकुछ समागम करके अपना सर्वस्व भी समर्पण करके जिसको माना है अपना सर्वस्व उसी को त्यागकर यदि मेरेको इस आत्मस्वरूपका प्रकाश मिलता है तो समझिये कि सब कुछ मिल गया और खोया कुछ नहीं। और एक आत्मस्वरूपका भान नहीं हो पाता है तो चाहे बड़ा राजपाट मिले, बड़े-बड़े वैभव मिलें पर कुछ नहीं पाया समझिये। इससे मिथ्यात्वको दूर कर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहसे विरल होकर आत्मसाधनाके लक्ष्यसे आपने जीवनको बनायें तो इस जीवनकी सफलता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ २८॥

सम्यक्त्व तेजकी प्रसंशा—जो जीव सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है वह चाहे चाण्डालके देहसे भी उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे देव कहते हैं। यहां देवके मायने अरहंत सिद्ध नहीं, देवके मायने स्वर्ग के देव नहीं, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें रमण करनेका प्रयत्न करने वाला उच्च आत्मा। यद्यपि वह चाण्डाल है तो भी आत्मामें स्वरूपका प्रकाश है तो अन्तः वह विशुद्ध है। जैसे राखके भीतर अंगारा ऊपरसे कुछ नहीं विदित होता, भस्म है, पर उस अंगारेमें स्वयं जो तेज है वह तो है ही ऐसे ही चाण्डालके शरीरमें है वह सम्यग्दृष्टि आत्मा तो भी भीतरमें वह तो सही है, सम्यग्दृष्टि है। देह तो सभी मल मूत्रादिक महा अपवित्र चीजोंसे भरा हुआ है। उच्च कुल का जो देह है सो वह भी मलमूत्रादिकसे भरा है और नीचकुलका जो देह है सो वह भी मूत्रादिकसे भरा है। पूर्वभवमें उत्तम आचरणके प्रतापसे एक को उच्चकुल मिला है और नीच आचरण के प्रताप से एक को नीचकुल मिला है सो यद्यपि थोड़ा अन्तर है उच्च कुलमें और नीच कुलमें, पर वह अन्तर सम्यग्दर्शनके लिए कुछ अन्तर नहीं है। उच्च चारित्रपालनके लिए भले ही कुछ अन्तर आये पर दोनोंके सम्यक्त्वमें कोई अन्तर नहीं है। चाण्डालकी तो बात क्या चारों गतियोंके जीवोंको एक जैसा सम्यक्त्व हो सकता है। नरकगतिमें तो नीचगोत्रका ही उदय है पर सम्यक्त्व उन जीवोंको भी उत्पन्न होता है। सम्यक्त्वमें अपने सहज स्वरूपकी प्रतीति रहती है। मैं स्वयं वास्तवमें क्या हूँ, अपने सत्त्वसे मैं स्वयं क्या हूँ उस स्वरूपकी प्रतीति रहती है। मैं हूँ यह सहज ज्ञानस्वभावमात्र, जिसकी वृत्तिमें जानन चला करता है। देखिये जो जानन चल रहा है,

पदार्थ जाने जा रहे हैं, यह जानना भी इस ज्ञानीके लक्ष्यमें नहीं है। इतने मात्र मैं हूँ ऐसी उसकी प्रतीति नहीं है, किन्तु जानना कितने ही चलते रहें, उन जाननोंकी जो शक्ति है, स्वभाव है, स्वरूप है उस रूप आपने आपको अनुभवता है यह ज्ञानी।

सम्यग्दृष्टिका प्रथम परिचायक चिह्न संवेग—जिस जीवको सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उसमें ८ गुण ऐसे प्रकट होते हैं जिनसे सम्यग्दृष्टिका परिचय बना करता है। उन ८ गुणोंमें १. प्रथम गुण है संवेग। सम्यग्दृष्टिका धर्म में अनुराग रहता है। मिथ्यादृष्टिका अनुराग बाह्य वैभवमें, स्त्री, पुत्रादिक परिजनोंमें, पञ्चेन्द्रियके विषयसाधनोंमें विषय भोगोंकी प्रीतिमें रहा करता है किन्तु सम्यग्दृष्टिका अनुराग धर्ममें रहता है। धर्ममें अनुराग, धर्मके साधनोंमें अनुराग, धर्मात्मा जीवोंमें अनुराग। जो जिसका इच्छुक होता है उसको उससे सम्बन्धित पदार्थोंमें अनुराग रहा करता है। चूंकि उस ज्ञानी जीवने आपने आत्माके धर्मको, सहजस्वरूपको अनुभवा है और उसमें अलौकिक आनन्द पाया है इसलिए उसकी धुन इस ही धर्मके प्रति रहा करती है। मैं अपने चैतन्यस्वभावमें ही उपयोग रखे रहूं, इस ही में संतोष पाऊं ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि जीवके होती है क्योंकि उसे स्वपरका भेद विज्ञान दृढ़ हुआ है। जगतमें सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं। घरमें जितने जीव पाये जाते हैं माता-पिता, स्त्रीपुत्रादिक वे सग आत्मा अपना-अपना सत्त्व लिए हुए हैं।एक के सत्त्व से दूसरेका सत्त्व अत्यन्त पृथक् हैं।

मुझ आत्मामें अन्य समस्त चेतन व अचेतन द्रव्योंका अत्यन्ताभाव—चार प्रकारके अभाव बताये गए हैं—(१) प्रागाभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। (१) प्रागाभाव उसे कहते हैं कि जिसमें काम होना है उस कामके होनेसे पहले उसका अभाव हो। जैसे कोई घड़ा बना रहा तो घड़ा बननेसे पहले उसकी समस्त अवस्थावोंमें घड़ेका अभाव है। और अभाव दूसरेके सद्भाव रूप हुआ करता है। तो घड़ेका प्रागाभाव कहलाता है जो घड़ा बननेसे पूर्वकी सारी अवस्थायें हैं। (२) प्रध्वंसाभाव—घड़ेके नष्ट होनेपर घड़ेका अभाव हो गया, खपरियाँ बन गई, फूट गया घड़ा तो खपरियाँ बन गई तो घड़े का विनाश होने पर जो घड़े का अभाव है वह खपरियों रूप पड़ता है इस कारण घड़ेका प्रध्वंसाभाव खपरियां है। (३) अन्योन्याभाव—जो पर्यायें आगे पीछे हो सकती हैं उनका एक समयमें एकका दूसरेमें अभाव है। जैसे पुद्गल स्कंध है, आज यह घड़ा बनता है तो यह पुद्गल स्कंध कभी कपड़ा बन सकता है। घड़ा फूट गया, खपरियां हो गई, चूरा हो गया, खेतमें गिर गया, कपास वहां बोया हुआ है तो वे चूराके परमाणु स्कंध उस कपासमें आ गए तो वे रूई रूप बन गए, उनसे कपड़ा बन गया, मगर जिस समय घट है उस समय वह कपड़ा नहीं है। घड़ेमें कपड़ेका अभाव है, कपड़ेमें घड़ेका अभाव है, पर कभी कपड़ा घड़ा बन सकता है और घड़ा कभी कपड़ा बन सकता है। कपड़ा सड़ गया मिट्टीमें मिल गया और उस मिट्टीका घड़ा बन गया। तो कभी कपड़ा घड़ाबन सकता मगर उस समय याने जिस समय कपड़ा है उस समय घड़ेका अभाव है यह कहलाता है अन्योन्याभाव। (४) अत्यन्ताभाव—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकालमें सद्भाव नहीं हो सकना यह कहलाता है अत्यन्ताभाव। तो अब आप समझ लीजिए कि आपके घरमें जितने जीव है वे सब परद्रव्य हैं। आप अलग द्रव्य हैं आपके घर के जीव अलग द्रव्य हैं। उनका आपसे क्या संबंध? जिन जीवोंमें

आपका चित्त बस रहा, जिन्हें आप अपना सर्वस्व समझ रहे, जिनसे आप अपना बड़प्पन मान रहे जिनसे आप भारी मोह कर रहे उनके प्रति जरा विवेक पूर्वक विचार तो करो, वे आपके कैसे क्या लग सकते हैं, जबकि अत्यन्ताभाव है। आपके आत्मामें उनका अत्यन्तभाव है। न वे आपमें थे, न अब हैं और न आपमें आगे आयेंगे। बिल्कुल जुदे प्रदेश हैं, आपके भिन्न प्रदेश, उनके भिन्न प्रदेश। आपका परिणमन निराला, उनका परिणमन निराला, फिर वे आपके कुछ कैसे हो सकते हैं? कुछ भी नहीं। उनका आपमें अत्यन्ताभाव है। तो ऐसे अत्यन्ताभाव वाले पदार्थोंमें मोह न जगे, सही ज्ञानप्रकाश बना रहे कि सब बिल्कुल जुदे-जुदे पदार्थ हैं। जैसे जगतके सब जीव मुझसे अत्यन्त जुदे हैं ऐसे ही जुदे खुदके घरके जीव हैं।

स्वपरभेदविज्ञान होनेपर मोक्षमार्गके प्रारम्भकी संभवता—देखिये मोक्षमार्ग और संसारका मौज ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। संसारका मौज है विकृत, कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ, कलंक, आपत्तियोंका घर, और आगे भी सदा धोखा, संसारमें रुलते रहना उसका फल है। तो संसार विषयोंका मौज यह भंयकर संगम है, उसकी यथार्थता जानकर मोक्षमार्गमें प्रीति होनी चाहिये। मोक्षमार्ग सर्वप्रथम स्वपर भेदविज्ञानसे प्रारम्भ होता है। स्व और परका यथार्थ स्वरूप जानें। स्व मायने क्या? पर मायने क्या? इसमें भी बहुत सावधनी बर्तनी है। वैसे समान्यतया सीधा अर्थ है—स्व मायने मैं आत्मा और पर मायने ये बाहरमें रहने वाले धन वैभव स्त्री पुत्रादिक पदार्थ, पर स्व और परका इतना अर्थ समझ लेने भरसे काम नहीं चलता। जो बाह्य पदार्थ हैं, भिन्न प्रदेशी हैं, निराले हैं वे तो तीन कालमें भी मेरे हो नहीं सकते। जैसे धन वैभव, मकान, स्त्री, पुत्रादिक ये सब तो प्रकट भिन्न परपदार्थ हैं ही, इनका मुझमें अत्यन्ताभाव है। ये सब मेरे न कभी हुए, न आज मेरे हैं और न कभी मेरे हो सकेंगे। अब आगे देखिये—जो कर्म पहले बांधे हैं वे यद्यपि भिन्न अस्तित्व वाले हैं फिर भी आत्माके साथ बंधे हैं। यह सब निमित्त नैमित्तिक बंधन है, कहीं रस्सीकी तरह बंधना नहीं है कि जैसे एक रस्सीसे दूसरी रस्सीको बांध दिया जाय ऐसा बंधन नहीं है आत्मा और कर्मका। वे रह रहे हैं आत्माके ही क्षेत्रमें और भव छोड़ने पर ये कर्म आत्माके साथ जायेंगे। इतने पर भी जीवके साथ कर्मका पुद्गलकी तरह बंधन नहीं बना। निमित्त नैमित्तिककी प्रधानतासे बंधन बना।

परभावसे स्वकी विविक्तता—कर्म जो बंधे थे उनका जो उदयकाल आया, मायने कर्ममें जो अनुभाग है फलशक्ति है वह जब प्रकट हुई जो जीवमें प्रतिफलन हुआ, क्रोध प्रकृतिका उदय होनेपर जीवमें क्रोध आया और उस प्रतिविम्ब प्रतिफलन क्रोध छायाको इस उपयोगने अपनेमें मिला जुला माना मैं यह हूँ। जैसे दर्पणमें फोटो आया और दर्पण ही उस फोटो को अपना मान ले यद्यपि वह अचेतन मान नहीं सकता फिर भी एक अंदाजा करा रहे ऐसे ही मुझमें कर्म विपाकका प्रतिफलन हुआ और मैं उसे अपना लूं तो यह हुई कर्मप्रकृति। अब यह भिन्न प्रदेश वाला न रहा। ये आत्माके प्रदेशमें हैं रागद्वेष, लेकिन ये रागद्वेष परभाव हैं क्योंकि ये रागद्वेषके भाव मेरेमें मेरे स्वभावसे नहीं प्रकट हो पाते, ये कर्मोदयका सान्निध्य पाकर बना करते हैं। जैसे दर्पणमें हाथका फोटो आया तो जो दर्पण में फोटो आया है वह तो दर्पणकी चीज है, दर्पण की परिणति है मगर दर्पणमें अपने आप अपने ही

स्वभापसे नहीं आयी है उसकी परिणति। उसकी योग्यतासे फोटो आयी मगर सामने हाथका निमित्त पाकर आयी, इस करण फोटो परभाव है, इस बातको हर एक कोई जानता है और यह भी निर्दोष दर्पणमें से यदि फोटोको मिटाना है तो हाथको हटा दीजिए, वह फोटो मिट जायगी, ऐसे ही दर्पणकी तरह समझिये अपने आत्मा और हाथ आदिककी तरह समझिये उदयमें आये हुए कर्म। सो जैसा हाथमें आकार है उस अनुरूप दर्पणमें फोटो आ रही है। तो ऐसे ही उदय में आये हुए कर्मका जैसा विपाक है वैसा ही जीवमें वह विपाक झलका और जीवने मान लिया कि यह मैं हूँ, तो यह जो विभाव परिणति है यह यद्यपि भिन्न प्रदेश नहीं है तो भी औपाधिक होनेसे, निमित्त पाकर होनेसे ये परभाव कहलाते हैं। परभावोंको परमें शामिल करें, यह मैं स्व नहीं हूँ।

ज्ञानवृत्तियाँ और स्वभावका विवेक—अच्छा अब इससे और भीतर चलो रागद्वेषमोह, ये तो परभाव हैं, कलंक हैं, मगर जो भीतर ज्ञान जगता है, सब कुछ जाननाहोता है यह तो पर न होगा। यह तो मेरे ज्ञानकी परिणति है। सो यहां भी विचारें कि जो कुछ छुटपुट ज्ञान वहां बन रहा वह है यद्यपि आत्माके ज्ञानका परिणमन, किन्तु यह भी नैमित्तिक है। क्षायोपशमिक है। इस ज्ञानका आवरण करने वाले जो कर्म हैं उन कर्मोंका क्षयोपशम जैसा होता है उस अनुकूल थोड़ा प्रकट होता है। तो जो हम लोगोंमें ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान क्षायोपशमिक है इसलिए वह मैं स्व नहीं हूँ। अब और भीतर चलो—यदि ये छुटपुट ज्ञान क्षायोपशिमक है और मैं स्व नहीं हूँ तो जब केवलज्ञान जगेगा, पूरा ज्ञान बनेगा तो वह पूरा ज्ञान तो कहलायगा, उसकी भी बात सोचिये—यदि केवलज्ञान स्व है तो केवलज्ञान होनेसे पहले स्व नहीं है यह समझना चाहिये, याने मेरी सत्ता ही न रही, मैं कुछ रहा ही नहीं तो केवलज्ञान भी स्व नहीं है, किन्तु केवलज्ञान एक स्वाभाविक पर्याय है। जैसा मैं स्व हूँ उसके अनुरूप परिणमन है। तो मैं स्व क्या हूँ कि जिस धतुसे, जिस तत्त्वसे ये सब ज्ञान प्रकट होते रहते हैं वह चैतन्यस्वभावमैं हूँ। वह चैतन्यस्वरूप स्व है और उसके अतिरिक्त सभी पर्याये गुण भेद सभी कल्पनायें ये सबपर हैं इस स्वका अनुभव किया है ज्ञानी जीवने। धन्य हैं वे क्षण जबकि बाहरी पर और परभावोंके विकल्पसे हटकर जीव परम विश्राममें आकर अपनेमें अपने सहज स्वभावकी अनुभूति करता है। यह है आत्मा का असली धन, जो कि इस जीवको संसारके संकटोंसे छुटायगा। तो सम्यक्त्व एक महान वैभव है।

स्वमें स्वकी घटनाके दर्शनका प्रभाव—भजनोंमें सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत गायी जाती है। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता? वह कहीं खरीदनेसे न मिलेगा, शास्त्र ज्ञान करने मात्रसे भी नहीं मिलता। यद्यपि ज्ञान किये बिना ज्ञान नहीं आता, यह बात सही है मगर जो हम पढ़ते लिखते हैं, जो जानकारी बनाते हैं इतनेमात्र से सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु कुछ भीतरी प्रयोग करना पड़ता है तब सम्यक्त्व हुआ करता है। वह प्रयोग क्या है? जैसाका तैसा अपनेमें निरखनेका पौरुष करना, यह है वह पुरुषार्थ कि जिसके प्रतापसे सम्यक्त्व होता है। थोड़ा भी ज्ञान होनेपर अपने आप पर घटित किया जा रहा हो तो उस ज्ञानसे सम्यक्त्व जग जायगा। बहुत भी ज्ञान कर लिया हो व्याकरण, न्याय, साहित्य, छंद, ज्योतिष आदिक, अनेक विद्यायें जान लिया हो, पर अपने आपके स्वरूपको, अपने आपकी बातको अपने आप पर घटित नहीं किया जा सक रहा हो तो उस ज्ञानसे सम्यक्त्व नहीं होता। थोड़ा भी ज्ञान

हो मगर छल रहित हो, आत्मकल्याणकी भावना सहित हो तो वह कार्यकारी है। बहुत भी ज्ञान हो लेकिन छल सहित हो, दुनियाका मैं जानकार हूँ, पंडित हूँ ऐसा बतानेके भावसे ही वह ज्ञान किया गया हो तो ऐसे ज्ञानसे सम्यक्त्व उत्पन्न न होगा। जैसे किसी बुढ़ियां माँ के दो बेटे थे, उनमेंसे एक बेटेको कम दिखता था पर सही दिखता था और दूसरेको अधिक दिखता था पर पीला। अब बुढ़िया माँ ने एक ही वैद्यसे अपने दोनों बेटों का इलाज कराया। तो वैद्य ने दोनोंको एक ही औषधि पीनेके लिए बताया। चाँदीके गिलासमें मोतीभस्म दूधमें मिलाकर पीने के लिए बताया। तो जिस बेटेको थोड़ा दिखता था पर सही दिखता था उसने वह दवा पी लिया और अच्छा भी हो गया, पर अधिक और पीला-पीला दिखने वाले बेटेने वह दवा नहीं पिया। वह अपनी माँ पर बहुत झिल्लाया, ऐ माँ क्या मैं ही तेरा दुश्मन मिला, वह क्या पीतलके गिलासमें हड़ताल डालकर गायके मूत्रमें दवा पिला रही, इसे मैं नही पीता, ऐसा कहकर उसने दवा पीनेसे इन्कार कर दिया। फल यह हुआ कि उसका रोग ठीक न हो सका। तो ऐसे ही समझलो कि किसीको चाहे थोड़ा ज्ञान हो, पर सही हो, अपने आपपर घटित किये जानेकी विधिसे हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें कारण बनता है और किसीको अधिक ज्ञान हो, पर उसका प्रयोजन मात्र बाहरी-बाहरी बातोंके लिए हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें कारण नहीं बनता। तो भाई जो कुछ हम सुनते हैं उसे अपने आपपर घटित करते जायें। एक अपने आपपर ही दृष्टि रहे। ज्ञानी जीवकी बाहरी अनेक दृष्टियां हटीं इस कारण उसे शान्तिका अनुभव होता है और बाहरी दृष्टि सब मिट जाये तो अपना आत्मा कहीं न भगेगा। स्वदृष्टि ही बनेगी और इस स्वदृष्टिके प्रतापसे अपने आपके सहजस्वरूपका अनुभव बनेगा। यह है सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी विधि। जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है उस पुरुषको धर्ममें अनुराग रहता है। उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता। ज्ञानी जीवके देहमें प्रीति नहीं होती, अन्य बाह्य समागमोंमें प्रीति नहीं होती, पर मेरा स्वभाव मेरेको दिखे, मेरा वह सामान्यप्रतिभास चैतन्यस्वरूप मेरे उपयोग में सदा बना रहे, यह धुन रहा करती है ज्ञानी जीवकी। तो सम्यग्दृष्टिकी पहिचानका प्रथम चिह्न है संवेग याने धर्ममें अनुराग।

ज्ञानीका परिचायक द्वितीय चिह्न निर्वेद—दूसरा चिह्न है निर्वेद अर्थात् वैराग्य इस संसारसे उसे वैराग्य रहता है। अरे यह संसार क्या है? चतुर्गतिमें परिभ्रमण करना, जन्ममरण करना, दुःखी होना, रागद्वेष करके आकुल व्याकुल होना, यह है संसार। ऐसे विकट संसारमें ज्ञानी जीवको वैराग्य रहता है। वह चाहता है कि इस संसारमें अब मैं रुलु नहीं, मैं अपने स्वरूपमें ही ठहर जाऊं, यों उसे इस शरीरसे भी वैराग्य है। यह शरीर कृतघ्न है, इसका हम चावसे पालन पोषण करें और यह अपवित्रता फैलाये, दुःखका कारण बने, तो यह शरीर प्रीति के लायक नहीं, इससे विरक्त रहते हैं ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव। इसी प्रकार भोगोंसे विरक्त रहते हैं ज्ञानी जीव। पंचेन्द्रिय विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनके भोगनेमें उसे ग्लानि है, इनके भोगनेमें समय व्यर्थ खोया जा रहा। इससे आत्माको कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि दुर्गतियोंमें उत्पन्न होना होता है। तो ज्ञानी जीवको संसार, शरीर भोगोंसे विरक्ति रहती है यह है इसकी दूसरी पहिचान।

सम्यग्दृष्टिका तृतीय परिचायक चिह्न आत्मनिन्दा—ज्ञानीकी तीसरी पहिचान है कि ज्ञानी

जीव आत्मनिन्दा करता है, अपनी कमियां निरखता है। मेरेमें कलंक है यह रागद्वेष यह परपदार्थोंका लगाव, यह मेरे लिए अहितकारी है, मेरेमें क्यों ये कषायें जगतीं, मेरा स्वरूप तो अविकार है। मेरेमें स्वयं अपने आप ये विकार नहीं हो सकते पर ये विकार बन रहे हैं। नैमित्तिक हैं, ये क्यों हो रहे हैं, ऐसी आत्मनिन्दा करता है ज्ञानी। इस आत्मनिन्दा के प्रसंगमें उन कषायभावोंसे जुदा होकर उपयोगमें केवल सहजज्ञानस्वभावको ही लिया तो इस जीवको वहां अलौकिक आनन्द जगता है। ज्ञानी जीवके गर्व नहीं रहता। जो ज्ञान पाया है वह कुछ नहीं पाया, क्योंकि वह जानता है कि केवल ज्ञान कितना विशाल ज्ञान है। उस केवलज्ञानके सामने यह मेरा आजका प्राप्त ज्ञान क्या कीमत रखता। ज्ञानी पुरुष जानता है कि द्वादशांगका ज्ञान कितना अद्भुत अलौकिक, अचिन्त्य ज्ञान है, उसके आगे मेरे इस थोड़ेसे ज्ञानकी क्या कीमत। मनः पर्ययज्ञान भी यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा बहुत कम ज्ञान है फिर भी उस मनः पर्यय ज्ञानके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। अवधिज्ञानका कितना बड़ा विषय है, उसके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। मैंने जो कुछ पाया है शरीरका रूप बल आदिक ये सब अत्यन्त बाहरी बातें हैं, पर उनका जो ज्ञान बनता है वह भी अत्यन्त अल्प है यों अपने दोष देखता है ज्ञानी, उनदोषोंको दूर करने का प्रयास करता है इस कारण सदैव वह अपनी निन्दामें रहता है। मैं कुछ नहीं हूँ, कैसे मैं आगे बढ़ूं, यों वह आत्मनिन्दा करता है, यह है सम्यग्दृष्टिकी पहिचान। जिसको सम्यक्त्व होता वह नियमसे मोक्ष जायगा, सो भाई हर एक उपायसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करो जिससे अपने आत्माका उद्धार हो।

सम्यग्दृष्टिके वर्णित तीन चिह्नों पुनः स्मरण—सम्यग्दृष्टि जीवका कैसे परिचय हमें मिले उस प्रसंगकी बात चल रही है। अभी तक यह बताया गया कि सम्यग्दृष्टिको धर्ममें अनुराग होता है। समयग्दृष्टिको संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य होता है और वह अपनी निन्दा बनाये रहता है, जानता है अपने अवगुणोंको देखता है। अपनेमें जो गुण प्रकट हुए उनपर दृष्टि नहीं रखता किन्तु जो अवगुण रह गए उनको निरख-निरखकर जैसे धुनिया छोटी-छोटी पूनीकों लेकर धुनता है ऐसे ही ज्ञानी जीव सूक्ष्मसे सूक्ष्म विकारोंको निरख करके धुनता है। लोकमें जो धनिकजन हैं उनको जितना जो कुछ मिला है उसपर वे दृष्टि नहीं रखते, किन्तु जो नहीं मिला है या जितना कि मिलने की आशा है उसपर ही दृष्टि रखते हैं और यही कारण है कि उनको संतोष नहीं होता। जो धन मिला हुआ है उसपर दृष्टि डालें कि मेरे पास तो लाखोंकी अपेक्षा अधिक धन है, आजीविका ठीक-ठीक चल रही है, पर जो मिला है उसपर उनकी दृष्टि नहीं जाती जो धन नहीं मिला है उसपर दृष्टि जाती है। ऐसी ही बात परिजनोंके सम्बंधमें है। किसीके मानो ४-६ लड़के हैं, उनमें मानो एक लड़का गुजर जाय तो जो ५ अभी जीवित हैं उनपर दृष्टि नहीं रहती, एक उसमर जाने वाले पर दृष्टि रहती है। तो ऐसे ही जिसको जिसकी रुचि है उस ढ़ंग से ही उसकी दृष्टि बनती है। सम्यग्ज्ञानी जीवको अपने आत्माको निर्दोष बनानेकी ओर दृष्टि है, सो जितने गुण प्रकट हुए हैं वे तो हुए हैं। उनको निरख करके वे संतोष पालें कि मैंने इतना विकास कर लिया। मेरे इतना ज्ञान जग गया, ऐसी दृष्टि नहीं रखते। जो हुआ सो हुआ पर जो दोष रह गए उन दोषोंपर दृष्टि है। मुझमें अन्य जीवोंके प्रति ईर्ष्याका क्यों भाव हुआ? दूसरे जीवोंके किसी काममें विघ्न डालनेका मेरेमें क्यों भाव होता? मैं दूसरे जीवोंको अपने स्वरूपके समान क्यों नहीं समझ पाता?

घरके लोगोंपर क्यों मेरी अधिक दृष्टि है? जबकि सर्व जीव समान हैं। या अपने अहिंसा सत्य आदिक ब्रतोंमें दोष लगने पर उस दोषपर दृष्टि होती है। तो यह ज्ञानी जीव आत्मनिन्दा करता है, यह सम्यग्दृष्टिकी पहिचान है।

सम्यग्दृष्टिका चतुर्थ चिह्न गर्हा—चौथा चिह्न है गर्हा। गुरुके समक्ष, ज्ञानीके समक्ष अपने दोष प्रकट करना, उनके समक्ष अपनी निन्दा करना गर्हा कहलाता है। आत्मनिन्दासे गर्हा करना कठिन है। वह तो अपने आपमें निरखें कि मुझमें यह दोष है, यह कमी है, उस कमीको, दोषको किसी ज्ञानीके समक्ष कहना, तो उसको अपने दोषों को वचनोंसे बोलकर जाहिर करना इसमें अधिक साहसकी जरूरत है। और साहस क्या? ज्ञानीकी धुन। अगर ज्ञानस्वरूपकी धुन है तो यह साहस कोई बड़ी चीज नहीं है। वह सब कुछ करनेको तैयार है मुक्तिके प्रसंगमें। तो सम्यग्दृष्टिका चौथा चिह्न है गर्हा प्रथम तो दूसरेके समक्ष बड़े विनयपूर्वक बैठना ही बहुत कठिन हो गया है। जो ज्ञानी पुरुष है, जिसको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन लगी है उस ही में इतनी नम्रता आ सकती है कि विनय करनेमें संकोच न करें अन्यथा अक्सर थोड़ी भी कला आ जाय, थोड़ा भी ज्ञान जगे तो अज्ञानके कारण, मोह, रागके कारण वह अपनेको बहुत बड़ा मानने लगता है और जहां अपनेमें बड़प्पनका ख्याल आया वहां नम्रता, विनय हो ही नहीं सकती है, पर नम्रता, विनयके भाव न रहें और अपने पाये हुए ज्ञानपर गर्व हो, बड़प्पनका विकल्प रहता हो तो इसमें बिगाड़ किसका है? किसी दूसरेका बिगाड़ नहीं है। खुदकी ही प्रगति रुक गई। जैसे धनका लोभी धन अर्जनके लिए न जाने क्या-क्या कर डालता ऐसे ही ज्ञानका लोभी, ज्ञानका इच्छुक ज्ञानका धुनिया तत्त्वज्ञानी अपने स्वरूप विकासके लिए क्या-क्या नहीं कर सकता? सो नम्रता, विनय आना और गुरुके समक्ष बैठकर विधिपूर्वक अपने दोषोंको जाहिर करना यह है गर्हा।

सम्यग्दृष्टिका पंचम चिह्न उपशम—सम्यग्दृष्टिका ५वां चिह्न है उपशम। इसे प्रशम भी कहते हैं ज्ञानी जीवने अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय किया है। मैं यह हूँ, मुझमें विकार नहीं है। स्वभावदृष्टि कह रहे हैं सब। स्वभावको निरखकर ज्ञानी सोच रहा है। इस मुझ सहजस्वभावमें विकारका क्या काम? यह अपने सत्त्वके कारण जो कुछ स्वभाव रख रहा है उसमें अन्य तत्त्वका प्रवेश नहीं है, ऐसा यह मैं अविकार स्वरूप हूँ। इसका मनन करने वाले ज्ञानीके कर्मविपाकवश कुछ विवशता है तो भी क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय उसके मंद रहती है। कषायके मंद होनेका मुख्य परीक्षण धर्मप्रसंगमें बताया गया है। क्रोध तो सभी जगह लोग करते हैं मगर धर्मप्रसंगमें, धर्मव्यवस्थामें, धर्मस्थानमें, धार्मिक व्यवस्थावोंमें यदि क्रोध तेज जगता है तो उसे बताया है कि उसके अनन्तानुबंधी क्रोध है। मान लो कोई रथयात्राका प्रबंध कर रहे तो उसमें पद-पद पर क्रोध करने की क्या बात? महावीर स्वामीकी परम्परासे चला आया है यह काम ठीक है कर लीजिए। जितना सहयोग बने सहयोग दीजिए, पर उनके प्रति पद-पद पर क्रोध करनेकी क्या बात? धर्म प्रसंगमें क्रोध आये तो उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहा है। घमंड भी प्रायः मनुष्योंके कुछ-कुछ अंशोंमें पाया जाता है। मगर धर्मके प्रसंगोमें मान करना, लोग जानें कि यह बड़े तपस्वी हैं, लोग समझें कि यह बड़े ज्ञानी हैं, बहुत धर्मात्मा हैं, इस तरह की आकांक्षायें रहें और धर्मके प्रसंगोंमें पद-पद पर मान जगा करे तो वह अनन्तानुबंधी मान कहलाता है। जैसे मानो

सभी लोग पूजामें खड़े होते है। कोई मान लो अभी तक रोज-रोज आगे खड़ा होता था, आज उसे किसी कारणसे पीछे खड़ा होना पड़ गया तो वह इसमें अपना अपमान महसूस करता है। कितने ही प्रसंग ऐसे होते हैं कि जहां मान उमड़ आया करता है। तो धार्मिक प्रसंगोंमें मान उत्पन्न होना यह बहुत तेज कषाय बतायी गई। मायाचारमाया भी प्रायः मनुष्योंसे नहीं छूटती है। घरमें, दुकानमें, किसी भी जगह मायाचारीकी बातें चलती हैं। मगर धर्मके प्रसंग में कोई मायाचारी करे तो वह बड़ी तेज माया कषाय कहलाती है। वे मायाचार क्या-क्या हैं, उसके कई रूपक बनते हैं। मानो कोई नहीं देख रहा तो उस समय तो जैसे चाहे टेढ़े-मेढ़े खड़े-खड़े धीरे-धीरे पूजा कर रहे थे या जाप, सामायिक आदि कर रहे थे। अब आ गया वहां कोई दर्शक तो उसे देखकर झट अटेन्सनमें आ गए, बड़ी शान्त मुद्रा बना लिया, बताओ यह मायाचारी भरी बात है कि नहीं? इस सम्बंधमें एक कथानक है कि किसी एक मुनिमहाराज ने किसी नगरमें चातुर्मास किया और चातुर्मास्य भर उपवास किया और चातुर्मास व्यतीत होते ही वहां से प्रस्थान कर गए। उनके चारमाहके उपवास की प्रसंशा चारों ओर फैल चुकी थी। उन्हीं दिनों उसी नगरमें कोई दूसरे मुनिराज पधारे। उनके दर्शनार्थ लोग आये, लोगोंने यह जाना कि यह वही मुनिराज हैं जिन्होंने चारमाहका उपवास किया, सो लोग उन मुनिराजकी बड़ी-बड़ी प्रशंसा करने लगे, धन्य है इन मुनिराजको जिन्होंने चारमाहका उपवास किया। अब इस प्रकार की झूठी प्रशंसा सुनकर उन मुनिराजने अपने मनमें हर्ष माना और उसे सुनकर चुप रह गए सोचा कि मुफ्त ही प्रशंसा मिल रही है, ठीक है, मिलने दो। अरे उन्हें तो उस समय कुछ खेद होना चाहिये था और लोगोंसे स्पष्ट बता देना चाहिए था कि हम वह मुनि नहीं हैं, हम दूसरे हैं, पर मुफत की प्रशंसा लूटना चाहा। उसके फलमें उन मुनिको दुर्गति मिली। यह है धर्मके प्रसंगमें मान करनेका फल। ऐसे ही धर्मके प्रसंग में लोभ करना यह तीव्र लोभका स्थान है। लोभसे भी यहाँ कोई बचा नहीं है। घरके अथवा किसी भी धार्मिक काममें खर्च करनेकी सामर्थ्य होते हुए भी खर्च न कर सकना, उसे जोड़नेका भाव रखना यह तीव्र लोभ कषाय है। ज्ञानी जीवके तीव्र कषाय तो होती नहीं, उसकी चारों कषायों मंद रहती हैं। वह जानता है कि कषाय मेरी बैरी है। रागद्वेष भाव उठे, वह मेरे चैतन्यप्राणको मल-मलकर नष्ट कर देता है, मर्दन करता है, ऐसा निर्णय होनेके कारण ज्ञानी जीवके कषायें मंद होती हैं, यह ही उपशम गुण है और इसी के प्रतापसे कोई दूसरा पुरुष कैसी ही गाली दे जाय, कितना ही वह अपराध करे तो भी उस पर क्रोध भाव नहीं जगता।

सम्यग्दृष्टि का छठा चिह्न भक्ति—सम्यग्दृष्टिका छठा चिह्न है भक्ति। पंचपरमेष्ठीमें भक्ति होना। जो जिस मार्गमें है वह उस मार्गमें चलने वाले या उस मार्गके अग्रगामी लोगोंके प्रति प्रेम रखता। जैसे आप जिस रास्तेसे चलकर जा रहे हों उस रास्तेसे चलने वाला कोई मुसाफिर आपको मिल जाय तो आपको उसके प्रति प्रेम उमड़ता है, आप उससे दोस्ती करके भली प्रकार बातचीत करते हुए जाते हैं ऐसे ही जो मार्गमें चल रहे या उस मार्गसे चलकर जो अरहंत सिद्ध हुए उनके प्रति ज्ञानी जीवको भक्ति उमड़ती है, वह भक्ति उन परमेष्ठियोंके प्रति नहीं है किन्तु धर्मके प्रति है। दशलक्षण धर्मके धारकोंमें भक्ति, धर्मात्माजनोंमें, तपस्वीजनोंमें, उनके गुणोंके स्मरणके प्रसादसे भक्ति रहना, यह है समयग्दृष्टिका

भक्ति नामका गुण। ज्ञानी जीवके अटपट क्रियायें नहीं होतीं। विषयोंमें प्रवृत्ति, स्वच्छंदता, गप्पबाजीमें लगना आदिक बातें ज्ञानी पुरुषोंमें नहीं होतीं। जब उसने अपने ज्ञानस्वरूपकी उपलब्धिका लक्ष्य बनाया है तो उस लक्ष्यके अनुसार ही उसकी वृत्ति बनेगी। ज्ञानी जीवका यह छठा चिह्न है भक्ति।

सम्यग्दृष्टिका सप्तम चिह्न वात्सल्य—ज्ञानीका ७वां चिह्न है वात्सल्य, प्रेम। देखिये—धर्मका नाता एक बहुत बड़ा नाता होता है। घर गृहस्थीके नातेको ही जो नाता मानते हैं और धर्म नातेको गौण करते हैं उन पुरुषोंके अज्ञान है रुचि नहीं है। ज्ञानी जीवको धर्मका नाता मुख्य रहता है और परिजनोंका नाता गौण रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह ज्ञानी नहीं है, सम्यग्दृष्टि नहीं है, धर्मका धुनिया नहीं है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मके धारक धर्मात्माजनोंमें प्रीति करते हैं। जैसे द्ररिद्री पुरुषको धन देखकर बड़ा आनन्द उत्पन्न होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनों को देखकर अथवा धर्मके व्याख्यानकों सुनकर ज्ञानी पुरुषको अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनोंको देखकर अथवा धर्मके व्याख्यानको सुनकर ज्ञानी पुरुषको अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है। ज्ञानीको चाहिए स्वरूपविकास, ज्ञानविकास। उस स्वरूपविकासमें जो चलना चाहता है, जो चल रहे हैं, उन पुरुषों को देखकर उसे अत्यन्त वात्सल्य होता है। एक केवल धर्मका नाता है। अन्य बातोंमें वह सब एक गुजारेका साधन समझता और धर्मके नातेसे धर्मके धारणको वह अपना कर्तव्य समझता है। यह ही करना है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, यह बुद्धि होती है ज्ञानीकी धर्मके प्रति और परिजनोंके प्रति ज्ञानीकी बुद्धि होती है कि यह एक मात्र साधन है। देखिये कितना अन्तर है ज्ञानीके मननमें। तो यह ज्ञानी पुरुषका चिन्ह है कि धर्मात्माजनों के प्रति उसके वात्सल्य होता है।

सम्यग्दृष्टिका अष्टम चिह्न अनुकम्पा—ज्ञानीका ८वां चिह्न है अनुकम्पा। ६ कायके जीवोंके प्रति दया करना अनुकम्पा है। दुःखी जीवोंको देखकर अपने परिणाम कंप जाना अनुकम्पा है। अनुकम्पा शब्दका अर्थ क्या है? उसमें अनु तो उपसर्ग है और कम्प धातु है। कम्प धातुका अर्थ है कंपना। और अनुका अर्थ है अनुसार। दुःखी जीवोंको देखकर उनके दुःखके अनुसार अपने आपका हृदय कंप जाना अनुकम्पा कहलाता है। देखा होगा कि कभी कोई दुःखी जीव कठिन दुःखीको देखता है तो उसका हृदय कंप जाता है, शरीरपर एक रोमाञ्च सा हो जाता है, यह है अनुकम्पा। ऐसा क्यों होता है? तो बात यह है कि वास्तवमें एक जीव किसी दूसरे जीवपर दया नहीं कर सकता। जितनी दया बनती है वह अपने आपमें सद्भावनाको निरखकर अपने पर दया बनती है। दुःखी जीवको देखा तो उस दुःखीको निरखकर खुदमें एक क्लेशका अनुभव होता है। ओह! कितने कष्टमें हैं यह। और जब कोई श्रावक उस दुःखीको कपड़ा या भोजन देता है तो क्या वह दूसरे दुःखीका दुःख मिटानेके लिए दे रहा है या अपना दुःख मिटानेके लिए? अरे एक जीव दूसरे जीवपर कोई प्रयोग ही नहीं कर सकता। उसने दूसरेको दुःखी देखकर जो अपनेमें दुःख उत्पन्न कर लिया था सो अब उसको अपना दुःख नहीं सहा जाता सो दुःखको दूर करनेके लिए वह भोजन, वस्त्रादिक देता है। वास्तविकता तो यह है और इसी प्रयोगसे वह अपना दुःख दूर कर पाता है। तो इस दयाका नाम अनुकम्पा रखा गया है, जिसका अर्थ है अनुसार कंप जाना। दूसरे जीवको दुःखी देखकर अपने परिणाम कम्पायमान होना, उसे देखकर जो

अपनेमें दुःख उत्पन्न होता उसका शान्तिके लिए उस दूसरे का दुःख जैसे मिटे उस प्रकार का परिणाम होना यह अनुकम्पा गुण कहलाता है।

ज्ञानीके उपलब्ध सहज कलाका प्रभाव—जिसके ज्ञान जगा, सम्यक्त्व हुआ उसके लिए सारा लोक कुटुम्ब बन गया। अब उस ज्ञानीके यह छटनी नहीं रहती कि मेरे घरके जितने लोग हैं वे मेरे कुटुम्बके हैं, बाकी गैर हैं। वसुधैव कुटुम्बकम्। उसने आत्मस्वरूपको सर्वत्र देखा है और वस्तुके स्वरूपका उसे पूर्ण निर्णय है। वह पुरुष कैसे किसी दूसरे जीवको अपना मान लेगा? हां गुजारेके लिए आवश्यक है श्रावकको इसलिए वह प्रीति व्यवहार करता है किन्तु धुन उसकी है धर्ममें। तो ऐसी धर्मकी प्रीतिके कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके ये ८ लक्षण प्रकट होते हैं। ज्ञानी जीवको एक कला ऐसी मिली है कि जिसके प्रसादसे अनेक कलायें स्वयमेव बन जाया करती हैं। किसीको कोई बहुत-बहुत सिखाये कि क्रोध करना बहुत बुरी चीज है, क्रोध न करना चाहिए, तो बताओ उसके यह बात निभ जायगी क्या? कि क्रोध न करें, ऐसे ही मान, माया, लोभ, अनर्थ, पाप आदिके त्यागका कोई बहुत-बहुत उपदेश दें कि तुम्हें ऐसा अनर्थ न करना चाहिए तो बताओ उससे अनर्थ रुक जायगा क्या? अरे वह बड़ी जबरदस्ती करके दबायेगा भी उस अनर्थको तो थोड़े समयको तो निभ जायगा, मगर भीतरमें अज्ञान बसा होनेसे किसी समय वह फिर अनर्थ कार्य करनेके लिए स्वच्छंद बन जाता है। जिस ज्ञानीके यह कला प्रकट हो जाय कि मेरे आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप अविकार है, मैं यह हूँ, ऐसी दृष्टि करके, ऐसे मननके द्वारा जो अपने आपमें आत्मबल प्रकट हुआ है वह सहज कला ऐसी प्रकट हुई है कि उसको सिखाना न पड़ेगा कि तुम क्रोध न करो, घमंड न करो। सभी कलायें उसमें स्वयमेव आ जायेंगी। उपदेश है किसलिए? ज्ञानीको भी उपदेश चलता है कि यह ज्ञान इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें न रह सकें, लौकिक प्रयोजनसे बाह्य पदार्थोंमें लगाना पड़ता है तो वहां उसके विकार जगता है। तो उस बाधको मिटानेके लिए ज्ञानीको उपदेश है, मगर उसमें एक कला ऐसी प्रकट हुई कि उसको अनेक समस्यावोंका समाधान स्वयमेव हो जाता है।

प्रतिभालाभ होनेपर बुद्धिगतिके दृष्टान्तपूर्वक सहजज्ञानस्वभावप्रतीतिकला होनेपर अनेक समस्यावोंके समाधानकी सिद्धि—बुन्देलखण्डमें छतरपुर रियासतकी एक घटना है कि वहांका राजा गुजर गया। उसका बेटा अभी छोटा था, तो उसके राज्यको अंग्रेजोंके समयमें उनके एजेन्ट चलाते थे (जिस राज्यको चलानेवाला कोई न रहता था उसको अंग्रेजोंके एजेन्ट चलाते थे) जब वह राजा का बेटा २०-२१ वर्षका हुआ तो उस राजमाताने एजेन्टोंको लिखा कि मेरा बेटा बालिग हो चुका है मेरा राज्य उसे सौंप दिया जाय। तो एजेन्टों ने एक तिथि निश्चित किया कि पहले हम अमुक दिन उसके बेटेकी बुद्धिमानीकी परीक्षा लेंगे तब उसे राज्य दिया जा सकेगा। सो परीक्षा लेनेकी तिथिसे पूर्व राजमाताने अपने बेटेको दसों बातें सिखाया—बेटे अगर वे एजेन्ट तुमसे यों पूछें तो यों उत्तर देना ··· वहां वह राजपुत्र बोला—मां तुमने तो ये दसों बातें हमे सिखाया, पर इनमेंसे कोई भी बात न पूछा तो क्या करेंगे? तो वहां वह राजमाता अपने बेटेकी तर्कणायुक्त बात सुनकर अति प्रसन्न हुई और बोली—बेटे अब मैं समझ गई कि तुमसे जो चाहे पूछा जाय सबका उत्तर कुशलतापूर्वक देकर आवोगे। आखिर

हुआ क्या कि जब वह राजपुत्र परीक्षा देने पहुँचा तो एक एजेन्टने उससे पूछा तो कुछ नहीं और तेजीसे उसके दोनों हाथ अपने हाथोंसे पकड़ लिया, फिर पूछा—बोलो बेटे तुम अब मेरे आधीन बन गए, क्या करोगे? तो वहां वह राजपुत्र बोला—अरे आप यह क्या कहते है मैं आपके आधीन बना या आप मेरे आधीन हो गए? कैसे मैं आपके आधीन? हाथ तो मैंने पकड़ रखा, पराधीन तो तुम हो।...नहीं, नहीं, आपमेरे आधीन बने।...कैसे? ··· ऐसे कि देखो जब किसी कन्या का विवाह होता है तो भांवर पड़ते समय कन्या उस लड़केका एक हाथ पकड़ लेती है तो वह पति सारे जीवन भर कन्याके आधीन रहता है, आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर क्यों न आप मेरे आधीन कहलाये ···। राजपुत्रकी इस प्रकारकी तर्कणा भरी बात सुनकर वह एजेन्ट अति प्रसन्न हुआ और समझ लिया कि वास्तवमें वह राजपुत्र बुद्धिमान है। राज्य चलाने योग्य है। आखिर उस राजपुत्रको राज्य मिल गया। तो बात यहां यह कह रहे थे कि जिसके एक प्रतिभा होती है उसे अधिक नहीं समझाना पड़ता। ज्ञानी जीवमें सहज ही एक ऐसी कला प्रकट होती है कि जिससे अपने हितके बारेमें उसके ऐसा समर्थ पौरुष होता है कि क्रोधादिक कषायोंसे हटना, खोटे भावोंसे हटना आदि ये सब बातें उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाती हैं। तो सबसे बड़ा काम है जीवनमें यह कि अपने आपके अविकार सहज स्वभावका अनुभव कर लेना। बाकी सब काम बेकार हैं। हां परिस्थितिवश कार्य सभी करने होते हैं, पर वे सब बेकार समझिये। कोई लोग तो ये सब काम गुजारनेके लिए करते हैं कोई अज्ञानतावश लोकमें अपनी मान प्रतिष्ठा इज्जतके लिए, पर काम ये सब बेकार हैं। बाहरी काम हैं। एक अपने आपके अन्तः स्वरूपका निर्णय कर लेना यही वास्तविक काम है, जिसके प्रतापसे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जायेंगे।

श्वापि देवोपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।
क्वापि नाम भवेदन्या, सम्यग्दर्शाच्छदीरिणाम्॥ २९॥

धर्म और अधर्म के फलका उदाहरण—धर्मके प्रभावसे कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के प्रभावसे देव भी कुत्ता हो जाता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही देवगतिमें उत्पन्न हो पाते हैं, उनमें भी नारकी देव गति में उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये ही देवगतिमें उत्पन्न होते हैं इस कारण यहां उदाहरण कुत्तेका दिया है। वैसे कुत्ता पशुवोंमें एक निन्द्य पशु माना जाता है। हर कोई कुत्तेको धुधकार देता है। तो धुधकारा जाने वाला कुत्ता भी यदि उसके धर्म है, सम्यक्त्व है, मंदकषाय है तो वह मर कर देव बन जाता है और देव भी पापके प्रतापसे कुत्ता बन जाता है। देवगतिके जीव मरकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियमें उत्पन्न नहीं होते। एकेन्द्रिय जीवोंमें पहले और दूसरे स्वर्गके देव भी उत्पन्न हो सकते हैं, उससे ऊपरके नहीं और १२वें स्वर्ग तकके देव तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय हो सकते हैं। तो देवगतिमें जन्म ले लिया, वहां पापके परिणाम रहें तो वह भी मरकर कुत्ता बन सकता है फिर जो विशिष्ट मनुष्यजन हों और धर्म धारण करते हों तो उनको कोई भी भले प्रकारकी सम्पदा प्राप्त हो जाती है, अहमिन्द्रपद प्राप्त हो जाता है। अहमिन्द्र होते हैं स्वर्गोंसे ऊपर। जिन ऊर्ध्वके विमानोंके स्थानोंमें इन्द्र सामानिक आदिक भेद नहीं होते, सभी देव समान होते हैं इसलिए वे अहमिन्द्र कहलाते

हैं। अहंइन्द्र, हर एक के ऐसा ही अनुभव है कि मैं इन्द्र हूँ, क्योंकि उन पर कोई आज्ञा करने वाला नहीं है। इसलिए सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं। तो धर्मके प्रतापसे इन प्राणियोंको अहमिन्द्रादिक पद जैसी कोई भी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है और धर्मके फलमें तो मोक्ष ही बताया गया है, पर धर्म करते हुए भी रागद्वेष होनेसे जो प्रवृत्ति होती है उसके फलमें वह स्वर्गादिक जायगा।

मिथ्यात्वकी अनर्थकारिता—यहां यह शिक्षा दी है कि मिथ्यात्व बड़ा अनर्थकारी है। अधर्म मायने मिथ्यात्व, अधर्ममें प्रधान मिथ्यात्व है। जहां आत्माका होश ही नहीं है, बाह्य पदार्थोंमें अहंकार और ममकार बसा है, उससे निराला कोई स्वतन्त्र मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ। इसका भान न हो तो यह तो बहुत बड़ी विपत्ति है, क्योंकि संसारमें जितने भी कष्ट है सब मोहके हैं और अपने आत्माका यथार्थस्वरूप भानमें जो लेता रहे उसको कोई कष्ट ही नहीं। यह मेरा है, धन स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, इस प्रकार भीतरमें श्रद्धान बसा है तो उसके कारण स्वयं ही आकुलता होगी। आकुलता कहीं पुत्रादिककी प्रेरणासे नहीं मिलती किन्तु स्वयंके विकल्पसे मिलती है। जिस जीवके सम्यक्त्व है वह प्रत्येक स्थितिमें धैर्य रखें, क्षोभ न करें, वस्तुस्वरूपको ध्यानमें रखें तो उसको आकुलता न होगी। तो मिथ्यात्व महान अनर्थकारी है, इसके ही कारण चतुर्गतिमें परिभ्रमण करना पड़ता है। जो जीव अब तक संसारमें रुल रहे वे इस मिथ्यात्वके ही कारण रुल रहे। जैसे बाह्य चीजोंमें निमित्त नैमित्तिक योग होता है अग्नि पर रोटी सिकी, पानीमें शक्कर डाल दी गई तो वह घुल गई, तो जैसे बाह्य पदार्थोंमें निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है ऐसे ही जीवके विकारोंमें निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है। विकार हुआ, उसका निमित्त पाकर कर्म स्वयं बंध गए, कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गई। अब बंधे हुए कर्मोंका उदयकाल आया तो उसके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकारभाव आ गया, यह स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है आत्मा तो स्वयं सहज ज्ञान स्वभावमात्र है। उसमें अपने आप न विकार है न कोई कष्ट है। पर इस जीवका कितना बड़ा अपराध है कि कर्म विपाककालमें जो इस उपयोग पर छाया आयी, प्रतिफलन हुआ, उस रूपजीव अपनेको स्वीकार कर लेता है। न करे स्वीकार तो किसीकी जबरदस्ती है क्या कि इसको विकार स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं है जबरदस्ती, मगर वह उमंगसे विकारोंको स्वीकार करता है। यह ही मिथ्यात्व है। कर्मोदय आया, उसका प्रतिफलन हुआ, ज्ञानबलसे उनका ज्ञाता रहे तो वह मोक्षमार्गमें बढ़ जायगा। तो मिथ्यादर्शनके समान कोई विपत्ति नहीं।

विषयोंको हेय जानकर उनसे उपेक्षा करके सम्यक्त्वलाभ का यत्न करनेका अनुरोध—जो लोग कुछ धनिक होकर कुछ मौजके साधन पाकर गर्वमें आते हैं कि हमें सबकुछ मिला है, वे मनमाने विषय भोगोंमें स्वच्छंद आचरण करेंगे। बाहरी-बाहरी व्यवस्था प्रबंधोंमें रहेंगे, बाह्य पदार्थोंके संचयमें ही मौज मानेंगे तो उनको भविष्यमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ेगा। तो इस जीवनमें एक यह ही छांट होनी चाहिये कि हे प्रभो, हे सहज परमात्म-तत्व मेरेमें मिथ्यात्व मत जगे, मेरे सहजस्वरूपकी सुध न छूटे, मैं अपने उपयोगमें अपने सहज चैतन्यस्वभावको निरखता रहूं तो वहां किसी प्रकारका कष्ट न आयगा और एक अपनी सुध छोड़ दूं तो सुध छोड़ना ही स्वयं कष्ट-रूप है। फिर वहां किसी भी बाह्य पदार्थका आलम्बन लेकर अपने को व्यर्थ दुःखी अनुभव करें। और यह सम्यग्दर्शन जहां कि अपने

सहज स्वरूपकी सुध रहती है। मैं चैतन्यमात्र हूं, अपनी सत्तासे परिपूर्ण हूं, किसी बाह्य पदार्थका मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूं। मेरेमें अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर चलते रहते हैं, ऐसी अपने आपके स्वरूपकी सुध हो तो वहां किसी प्रकारका कष्ट नहीं है। अपनेको अपनेमें देखो, आनन्दमय अनुभवो, बस उसका मार्ग भला ही होता जायेगा और निकट कालमें वह समस्त संसारके संकटोंसे छुटकारा पा लेगा। इस कारण मानव जीवनमें एक सम्यक्त्व लाभका प्रयत्न बन गया है तो समझो कि हमने सर्व कुछ पा लिया, क्योंकि जहां कोई कष्ट न रहे वही तो वैभव कहलाता है। तो इस सम्यक्त्वके प्रतापसे सद्गति प्राप्त होती है, मोक्षमार्गका लाभ होता है और तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण अधर्मसे हटना, धर्ममें लगना यह ही इस जीवनका उद्देश्य होना चाहिए।

भयाशा-स्नेह-लौभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चेव, न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः॥ ३०॥

सम्यग्दृष्टिके भयवश कुदेवोंको प्रणाम विनय करनेके भावका अभाव—सम्यग्दर्शनकी महिमाका संकेत करके अब इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि जो शुद्धदृष्टि वाला है, आत्माके सहजस्वभावका अनुभव कर चुकने वाला है ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भयसे, आशसे, स्नेहसे, लोभसे कुदेव, कुशास्त्र,कुगुरुको प्रणाम और विनय नहीं करते हैं। किन्हीं जीवोंको भय हो जाता है कि इन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवोंको, जिनको राजा मानता है, बड़े बड़े नेता मानते हैं उन्हें मैं न मानूं तो ये लोग मेरेको न जाने क्या-क्या तकलीफ देंगे। अथवा ये ही देव, ये ही गुरु कहीं मेरेको पीड़ा न पहुंचा दें, ऐसा उनको भय हो जाता है किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको भय नहीं होता, क्योंकि वह अपने अविकार स्वरूपको निरख चुका। यह अमूर्त ज्ञानमात्र अविकार स्वरूप सदा अपनी सत्तामें रहने वाला, जिसका कभी विनाश नहीं हो सकता, जिसका सब कुछ इस मुझपर ही निर्भर है, ऐसे ज्ञानानन्दका निधान निज आत्मस्वरूपका परिचय हुआ है। इस कारण वह किसी भी अन्य कुदेव आदिकको भयसे भी नमस्कार नहीं कर सकता। भय ही नहीं है इसके और फिर स्वरूपनिर्णय है कि कुदेवसे मेरेको क्या भय? कुदेव कहते किसे हैं? जो देव तो नहीं हैं किन्तु अपनेको देवरूपमें प्रसिद्ध करते हैं तो उसका नाम कुदेव है। वैसे कुदेव कोई चीज नहीं है। कोई भी जीव हो तो या तो वह देव होगा या देव न होगा, दो ही बातें हैं। कुदेवका मतलब क्या? देव तो नहीं है और उसे देव माने तो उसका नाम कुदेव पड़ता है। तो किसी भी व्यक्तिको कुदेव बनाने वाला कौन? भक्तजन, लौकिकजन और यदि वही व्यक्ति स्वयं अभिलाषा रखता है कि मैं देवकी तरह पूजा जाऊं तो उसने अपनी ओरसे अपनेको कुदेव कर डाला। तो भयसे ज्ञानी जीव कुदेवको प्रणाम और विनय नहीं करते। एक बात और ध्यानमें देनेकी है कि जिन्होंने वीतराग सर्वज्ञको देव माना है वे जैन लोग, वीतराग सर्वज्ञको देव मानने वाले भक्त लोग प्रभुकी स्थापना करके मूर्तिके समक्ष भी वंदन करते हैं, प्रणाम करते हैं। स्थापना किए जानेसे वे प्रभु हैं, ठीक हैं, उनका वंदन प्रणाम कीजिये। अब यदि उनके प्रति भी यह भय रहे कि यदि मैं इनको न मानूंगा, इनको न पूजूंगा तो ये मुझे नरक पहुंचा देंगे या मुझे निर्धन बना देंगे। इस तरहकी बात यहां

भी हो तो इस भक्तने उसे कुदेव बना डाला। वह स्वयं कुदेव तो नहीं है, वह अनन्त ज्ञानादिकका निधान है, प्रभु हैं मगर भक्तने जिस भावसे पूजा, जिस भावसे देखा उस भावमें उसकी दृष्टिमें वह सुदेव न रहा। तो किसी भी देवके प्रति भयसे प्रणाम विनय न हो। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जो वीतराग सर्वज्ञदेवमें भक्ति करता है वह भयसे नहीं करता किन्तु स्वरूपकी समता, मोक्षमार्ग का प्रकाश, उसके गुणोंका स्पष्ट निर्णय, उसकी अपने स्वभावसे समानता आदिकका परिचय होनेसे वह उनकी भक्ति करता है। शुद्ध दृष्टिवाला पुरुष भयके वश होकर कुदेवकी भक्ति नहीं करता।

आशासे भी कुदेवको प्रणाम विनय करनेकी ज्ञानीके असंभवता—ज्ञानीको ऐसी आशा नहीं होती कि इस कुदेवकी भक्तिसे मुझे धन लाभ होगा, मुकदमेमें विजय होगी···। किसी आशावश वह कुदेवका सत्कार नहीं करता। उसको स्पष्ट निर्णय है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कुछ परिणति नहीं दे सकता। प्रथम तो संसारका समागम मेरे लिए अनर्थ है। अनन्त ज्ञानशक्तिके निधान इस आत्मा भगवानको यहांके समागमोंका लगाव बरबाद कर रहा है, इसका घात करता है। ज्ञानीजीव वस्तुस्वरूपको सही समझ रहा है। वह जानता है कि मेरेमें परपदार्थका विकल्प ही उत्पन्न होता है, कहीं दूसरे पदार्थका संग मेरेमें नही है। और जो कुछ समागम होता है वह पुण्यपापका फल है। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि पुण्यका उदय आये तो ऐसे इष्ट समागम प्राप्त हो। अब यह निमित्त नैमित्तिक भावोंमें कोई कैसे विरोध कर सकेगा? होता है। उस योगको स्पष्ट जान भी नहीं पा रहा। मगर फल तो जान रहा तीर्थंकरप्रभुका जन्म हुआ और स्वर्गमें घंटा बजा, जहां जो कुछ शब्द हुआ, कहीं सिंहनाद हुआ, कहीं धपधप बजा, इन्द्रका आसन हिला, इन सबको कौन बजाने गया? कौन हिलाने गया? क्या उनके पुण्य परमाणु निकलकर उनमें टक्कर लगाने लगे? जो जहां है वहां ही है, पर कैसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि तीर्थंकरका जन्म हुआ तो वहां ऐसे ऐसे अतिशय होने लगे। यहाँ पर जितने जो कुछ वैभव आपको प्राप्त होते हैं वे आपके वर्तमान विकल्पसे नहीं होते, वर्तमान परिणामसे नहीं होते, किन्तु पूर्वबद्ध पुण्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। बहुत दूर इष्ट पदार्थ हों वे भी पुण्यके उदयमें निकट आ जाते हैं। आप स्वयं इष्ट पदार्थके निकट पहुंच जायें पुण्यके उदयमें, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है। उसमें अपना क्या कर्तव्य है सो यह जिस तरहसे हम विधि बांध चुके हैं उस तरह से होगा। अब हमारा वर्तमान कर्तव्य तो यह है कि अपने परिणाम निर्मल रहें, अन्यथा पहले कमाये हुए कर्मके उदयमें तो ये कष्ट पा रहे हैं और अब भी परिणाम खोटा रखा जाय यह ही कष्ट पानेकी परम्परा बनी रहेगी। सो वर्तमान में अपने भावोंको स्वच्छ करनेका कर्तव्य है। और कुछ आशा या भय आदिक लेकर कुदेव आदिकको प्रणाम करना और उसमें अपना बचाव सोचना, सम्पन्नता सोचना यह बिल्कुल व्यामोह है। ज्ञानी जीव आशाके वश होकर भी कुदेवको प्रणाम नही करता। कुदेव कौन कहलाता? जो रागी द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो और जिसको देवत्वकी प्रसिद्धि की गई हो वह कहलाता है कुदेव। एक ज्ञानप्रकाश, यही ज्ञानीकी दृष्टिमें रहता है। यह ही ज्ञानतेज यही प्रभु कहलाता है, ऐसा मेरा भी स्वभाव है, ऐसा मैं भी हो सकूंगा। यह नाता है प्रणाम विनय करनेका। न कि लौकिक पदार्थोंकी आशा करके कुदेवको प्रणाम करना, विनय करना आधार है। तब अपने आपमें अपनी बात घटाइये-अपने में क्या प्रकाश पा रहे हैं।

कहां अपनी दृष्टि बन रही है? अपने स्वभावको निरखिये और यह ही अनुभव कीजिए कि यह मैं आत्मतत्व हूं, अन्य रूप नहीं हूं, ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर, ऐसे जैन शासन, जैन देव, जैन शास्त्र, जैन गुरुमें भक्ति न जगे, बल्कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्ममें भक्ति जगे तो बताओ यह मानव जीवन किसलिए पाया। देखिए सम्यक्त्व जब भी होगा सहज होगा। कोई कमर कसकर बैठे कि मैं इस समय सम्यक्त्व पैदा करता हूं तो यों सम्यक्त्व नहीं हुआ करता। सम्यक्त्वके जो उपाय हैं, उन उपायोंमें लगता रहे। सम्यक्त्व जब भी होगा तब सहज होगा। सम्यक्त्व प्राप्त होने का उपाय क्या है? सच्चे देव, शास्त्र, गुरुके प्रति आस्था होना और कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके प्रति लगाव न रहना। ज्ञानी जीव आशाके दास होकर कुदेवको को प्रणाम विनय नहीं करता।

स्नेह एवं लोभके वश भी कुदेवोंको प्रणाम विनयादि करनेकी ज्ञानीके असंभवता—स्नेहके वश होकर कि ये हमारे कुलदेवता हैं। हमारे कुलमें इनकी पूजा होती चली आयी है अथवा ये मेरे पुरुखा हैं, ऐसे स्नेहसे भी कुदेवको ज्ञानी पुरुष प्रणाम नहीं करता। लोभके वश होकर भी ज्ञानी कुदेवको प्रणाम नहीं करता। मुझे इससे बड़ी प्राप्ति होगी, खूब धन लाभ होगा ऐसे ख्यालसे भी ज्ञानी जीव कुदेवको प्रणाम विनय नहीं करता। वास्तविकता यह है कि जिसने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है उसकी दुनिया अलौकिक हो गई। उसे अब लोगोंसे मतलब न रहा। लोकमें मेरी प्रतिष्ठा हो, या लोगों के द्वारा मेरा अपमान हो, किसी भी बात से मेरे में कुछ असर नहीं होता, उन दूसरोंकी परिणतिका फल उन्हें प्राप्त होगा, मेरी परिणतिका फल मुझे प्राप्त होगा। तो ऐसा वस्तु-स्वातंत्र्य जानकर ज्ञानी जीवको परसे उपेक्षा हुई है, अपने आपमें धीरता हुई है, वह पुरुष लोभवश कुदेवको क्या नमस्कार करेगा?

भय आशा स्नेह लोभसे भी कुशास्त्रोंकी आराधनकी सम्यग्दृष्टिके असंभवता—कुशास्त्र जिनमें रागद्वेषभरी बातें लिखी हैं जिनमें पाप करनेकी प्रेरणा दी है ऐसे शास्त्र कुशास्त्र कहलाते हैं। हमारे कुलमें ये ये शास्त्र चले आये हैं, मैं अगर इनको न मानूं तो मेरे पर आपत्तियां आ सकती हैं। पाप बंधेगा, कष्ट आयगा, इसलिए इन कुशास्त्रोंको जो पुरुखोंसे चले आये हैं, पुजतें हैं, ऐसे भाव रखता है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि। ज्ञानी जानता है कि किसी भी परद्रव्यकी उपासनासे मेरेको कुछ लाभ हानि नहीं, और परकी उपासना कोई कर ही नहीं सकता। जो भी उपासना करता है वह अपने आत्माकी उपासना करता है। आत्माका जैसा स्वरूप नहीं है उस स्वरूपकी उपासना करे तो वह मिथ्यात्व है और जैसा आत्माका स्वरूप है वैसी उपासना करे तो वह सम्यक्त्व है। शुद्ध दृष्टि वाला पुरुष कुशास्त्रके भयसे प्रणाम विनय नहीं करता, आशासे भी नहीं करता। इसमें अनेक मंत्र लिखे हैं, अनेक टोटका मंत्र चले हैं, इन शास्त्रोंकी विनय करें, इनके मंत्रोंकी साधना करेंगे तो लौकिक सम्पन्नता बढ़ेगी ऐसे भावोंसे भी ज्ञानी जीव कुशास्त्रको प्रणाम विनय नहीं करता। देखिये ज्ञानी जीवकी केवल एक ही अभिलाषा होती कि मैं कैसे विकारों से हटकर अपने सहज स्वभावमें लगूं। दूसरी अभिलाषा नहीं होती। चूंकि शरीर है, प्राणरक्षा भी आवश्यक है, यों जबरदस्ती मरण करनेसे संसारचक्र न छूटेगा, किन्तु यह जो भला जीवन है। इस जीवनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका सम्बंध बने तो यह संसारचक्र छूटेगा, इस कारण ज्ञानीके चित्तमें दूसरी अभिलाषा रंच भी नहीं है। आखिर कुछ ही वर्षों बाद मरण होगा,

यह शरीर जला दिया जायगा, जरा उस स्थितिको अपने ध्यानमें तो लावो। आखिर मरण नियमसे होगा, मरणके समय जो जो स्थितियां आती हैं उनपर विचार तो करो। एक नीतिशास्त्रमें बताया है कि अजरामखवाज्ञों विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इवकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। याने लौकिक विद्या और धन इन दो की कमाई तो तब हो पाती है जबकि कोई अपनेको अजर अमर समझ रहा हो। यदि किसीके चित्तमें यह बात घर कर जाय कि मेरा तो कुछ ही समय बाद मरण होने वाला है तो उसको न धन कमाने में उत्साह रहेगा न लौकिक विद्यायें सीखनेमें। हां अगर किसीको अपने मरणके सम्बंधमें ध्यान बन जाय तो आत्मविद्या सीखने में जरुर उसकी रुचि बनेगी। मानलो किसीको फांसी लगने वाली है। उससे कोई कहे कि बोलो तुम क्या चीज खाना चाहते हो लड्डू, पेड़ा, बर्फी, रसगुल्ला वगैरह? तो वहतो यही कहेगा कि मुझे कुछ न चाहिये ऐसे ही जब किसीको अपनी मृत्यु का सही सही निर्णय हो जाता है तो उसे सांसारिक कोई भी समागम नहीं रुचता। जिसने अपनी मृत्युका सही सही निर्णय कर लिया वह पुरुष धर्मका आचरण करेगा। तो जिसने अपने स्वरूपका परिचय पाया वह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदिक बाहरी बातोंके पूजन वंदनमें न लगेगा। भय, आशा, स्नेह, लोभसे यह सम्यग्दृष्टि जीव इन कुशास्त्रोंको प्रणाम विनय नहीं करता।

भयादि किसी कारणसे भी कुगुरुके प्रति आस्थाकी शुद्धदृष्टि आत्माके असंभवता—कुगुरु जो विषयोंकी आशाके आधीन हैं, जो आरम्भ परिग्रहमें लगा करते हैं, जिनके चित्तमें ज्ञान, ध्यान, तपश्चरणकी बातें नहीं आती हैं, जिनको लौकिक पुजापनेका भाव है वे पुरुष कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरुवोंको सम्यग्दृष्टि जीव भयसे भी प्रणाम विनय नहीं करता। हां मान लो कुछ परिस्थितिवश करना ही पड़े प्रणाम विनय किसीकी जबरदस्ती करने से तो उसके सम्यक्त्वमें दोष नहीं पैदा होने पाता। उसको स्वयं भीतरमें श्रद्धा नही है और न वह प्रणाम विनयकी वृत्ति से करता है। उसके दोष नहीं है। जैसे किसीने खाने पीनेकी कोई चीज त्याग रखी है और कोई दूसरा उसे जबरदस्ती खिला पिला दे तो उसका नियम भंग न कहलायगा। सब बात अपनी भावनापर निर्भर है, ज्ञानी जीव भयसे कुगुरुको नमन नहीं करता। कहीं राजागण मुझे प्राणदण्ड न दे दें, ऐसा भय ज्ञानी जीवको नहीं होता। ज्ञानीको भय किसका? लोग क्या कहेंगे? मुझको बुरा सोचेंगे या मुझसे लोग घृणा करेंगे तो यह सब उन्हींका उन्हींको भेंट होगा? मेरे पर उसका कुछ प्रभाव नहीं है। जिसका जैसा विचार होगा उसके अनुकूल कर्मका बन्धन चलता है। ज्ञानी पुरुष क्यों भय करे। क्यों वह कुगुरुको बंदन करे? उसे किसीका भी संकोच नहीं। वह केवल एक अपनेमें ज्ञानभावना बनाये हुए है। ज्ञानकी चर्चा, ज्ञानसे ही प्रसन्नता ऐसी जिसकी रुचि है वह ज्ञानी भयसे भी कुगुरुको नमस्कार नहीं करता। आशा भी नहीं रखता कि ये सन्यासीजी मेरेको कोई मंत्र देंगे या मेरे पर कृपा करेंगे कि मैं मालोमाल होऊं या जो भी चाहे, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीके नहीं है। वह जानता है कि मुझे बाहरी वैभवसे भी प्रयोजन नहीं। मैं तो अपनेमें अपने स्वरूपको निरखता रहूं, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए। ज्ञानी जीव कुगुरुसे कोई आशा नहीं रखता। स्नेह भी नहीं कि यह मेरा पड़ौसी है या इसको मेरे बाबा, पिता बड़े प्रेमसे रखते आये हैं या किसी तरहका स्नेह करके कुगुरुको प्रणाम बंदन ज्ञानी पुरुष नहीं करता। वह तो अपनेको अकिञ्चन मान रहा

है। मेरा कुछ नहीं है, मैं अन्य किसी रूप नहीं, मैं अपने स्वरूपमात्र हूं इस धुनमें रहने वाला पवित्र व्यक्ति लोभका भाव रखे यह नहीं हो सकता। कुगुरुको लोभवश भी वह प्रणाम विनय नहीं करता। धन मिले, रोग हटे, मुकदमेमें विजय मिले आदिक किसी भी प्रकारके लोभसे सम्यग्दृष्टि जीव कुगुरुको प्रणाम विनय नहीं करता।

ज्ञानीकी दृष्टिकी शुद्धता—देखिये लोकमें कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका बड़ा ही प्रसार है। अच्छी चीज कम हुआ करती है, संसारका एक ऐसा प्राकृतिक नियम है। भले जीव जिन्होंने अपना ज्ञानप्रकाश पाया और उस ज्ञानभक्तिमें रहा करते हैं ऐसे जीव इने गिने हैं, दुर्लभ हैं, बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं, शेष जीव तो विषय कषायोंके आधीन हैं। अब उनमें कोई देवत्वकी बुद्धि करें तो समझो कि उनके ज्ञानमें कमी है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको एक-दम यह निर्णय है कि सब असार है, सब बेकार है। एक अपना स्वभाव स्वरूप परमार्थ है। परमार्थकी दृष्टिमें ही दुःखोंका क्षय है, कर्मोंका हटाव है, ऐसा निर्णय सम्यग्दृष्टि जीवके स्पष्ट बना हुआ है। वह किसी भयसे, आशासे, स्नेहसे, लोभसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका बंदन नहीं करता। थोड़ा लोक व्यवहारमें एक अड़चन सी आती है, जिसके लिए लोग प्रश्न करते है कि कई प्रसंग ऐसे होते है कि हम पड़ौसी लोगोंके साथ हैं और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके बंदनमें भी चल रहे हैं, उनसे हमारें ताल्लुकात अच्छे हैं, हमारे उनसे बड़े काम बनते हैं तब फिर क्यों न उन जैसी क्रियायें करें? ऐसा एक प्रश्न होता है, तो भाई उनकी इस बात का उत्तर मेरे पास नहीं है। उसका उत्तर तो वे स्वयं ले लेंगे। ठीक है, परिस्थितिवश जो करना पड़ रहा सो तो कर रहे, पर यह बात निश्चित है कि जिसकी जैसी भावना है उसको वैसा फल मिलेगा। जिसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके प्रति आस्था है वह अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है, वह नियमसे संसारमें रुलेगा। और जिसे सच्चे देवशास्त्र गुरुके प्रति श्रद्धा है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, उसका संसार बंधन कटेगा। तो चाहे कैसी ही स्थितियां आयें सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान रहे। इस सही श्रद्धानसे विचलित न हों। इसके प्रतापसे अपना सारा भविष्य उज्ज्वल बनेगा।,

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्, मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते॥ ३१॥

सम्यग्दर्शनकी मोक्षमार्गमें कर्णधाररूपता—सम्यग्दर्शनकी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भी विशेषतया आदरणीय रूपसे यों उपासना की गई है कि ज्ञान चरित्रके सम्यक् होनेका मूल सम्यग्दर्शन है, इसी कारण सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें खेवटियाके समान है। आत्मविकासमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दो मूल साधन हैं। सम्यग्ज्ञान तो साथ लगा हुआ है। सम्यक्त्व साथ हुआ, सम्यग्ज्ञान कहलाया। चारित्र विशेष बढ़ा, ज्ञानका विकास बढ़ा, पर विकासका मूल है सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। यह ही कारण है कि गुणस्थानमें इन दो की अवस्थायें ही बतायी गई हैं—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। यों समझिये कि जैसे नौका चलाने के लिए दो की आवश्यकता होती है, एक तो पीछे से कर्णधार चप्पू चलाता रहे और दूसरा—आगे से नाव खेने वाला नावको खेता रहे। इन दो के

बिना नाव इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकती। अब यहां यह विचारो कि नाव खेने वाले का काम क्या है और चप्पू वाले का काम क्या है? खेने वालेका तो काम है नावको आगे बढ़ाना और चप्पू वाले कर्णधारका काम है दिशा देना। कर्णधार जैसा हुक्म देगा उस ओर को नाव चल पड़ेगी, ऐसे ही श्रद्धा जैसा हुक्म देगी आत्मा की गति उस ओर बढ़ जायगी। सम्यग्दर्शनको कर्णधार कहा है। सम्यग्दर्शन होते ही आत्मामें धैर्य हो जाता है। उसके चित्तमें उल्झन नहीं रहती। उसका एक ही निर्णय है कि सहज आत्मस्वभावको निरखना और इस ही में तृप्त रहना, यह ही एक कार्य है। उसके आकुलता नहीं जगती। भले ही चारित्रमोहकृत आकुलता है, पर मूलमें आकुलता नहीं रहती। तब ही तो बताया कि नारकी सम्यग्दृष्टि जीव नारककृत दुःख भोगता है फिर भी भीतर अनाकुल रहता है। देव सम्यग्दृष्टि जीव अनेक देवांगनाओं में रमता है फिर भी उनमें अनासक्त रहता है भरतचक्रवर्तीको घरमें वैरागी बताया। पर घरमें रहते तो विरक्त कैसे? विरक्त तो गृहत्याग पर ही कहलाता वास्तविक मायनेमें, किन्तु घरमें रहते हुए भी लौकिक सर्व बातोंसे उदास थे। उनको अपने अन्दरमें सहज स्वभावका प्रकाश जग गया था। मै यह हूं और मैं ज्ञानकी वृत्तिके सिवाय और कुछ कर सकता नहीं हूं। यह मैं ज्ञानकी वृत्तिको ही भोगता रहता हूं। इसके अतिरिक्त न मैं अन्य कुछ करता हूं न भोगता हूं।

अपनी वास्तविक शान्ति के लिये पौरुष करनेमें विवेकिता—देखिये—सभी मनुष्य अपनी शान्ति के लिए प्रयास करते हैं। सबका ध्येय एक है। मेरेको शान्ति मिले, दुःख न रहे। यही बात तो जैन शासन बता रहा है कि आपको सदा के लिए शान्ति मिले और कभी भी कष्ट न आये, उसका उपाय आपके आत्मामें खुद ही बसा हुआ है। वहां कुछ पराधीनता भी नहीं है, अपने स्वरूपको जानिये और अपने स्वरूपमें ही रमिये—क्या सम्बंध है आपका घरके परिजनोंके साथ, सही बात सोचिये—आपके पुत्र-पुत्री स्त्री भाई बंधु आदिक जो भी हैं उन जीवोंके साथ आप कहां चिपके हुए हैं, कहां लगे हुए हैं, कहां सम्बंध बना हुआ है, निरखिये ध्यान से, कुछ भी नहीं है। आप तो गुजारा करनेके लिए घरमें रह रहे हैं, इससे अधिक और कुछ प्रयोजन नहीं है आपका। गुजारा कर चुके, आगे चल दिया, कुछ भी मतलब सिद्ध होता हो मिले हुए समागमसे तो आप बताओ। कुछ बात नहीं है लेकिन परिजनों के पीछे ही अपना सारा उपयोग तन, मन, धन, प्राण, वचन आदि जो कुछ आपके पास हैं उनको ही समर्पित करते हैं और अपने को दैन्य अनुभव करते हैं। अपने आपमें क्या मंजूर है, कैसा निर्दोष है, कैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसको नहीं निरखते और बाह्य दृष्टि करके बड़ा मौज मान रहे। ठीक है, भला पति है, भली पत्नी है, सब ठीक है, किन्तु परिणमन तो सबका अपने आपका अपनेमें है और जो भी भला हो रहा वह अपनी शान्ति सुखके लिए हो रहा। आपको कुछ भी देनेमें समर्थ दूसरा है ही नहीं, उस ओर तो दृष्टि नहीं। तो कुछ अपने आपको शान्ति चाहिए तो विवेक करना पड़ेगा अगर विवेक नहीं रखते तो संसारमें परिभ्रमण कर दुःख ही भोगते रहना पड़ेगा। आपका विवेक आपके हाथ है। अपने को निरखो सबसे निराला ज्ञानमात्र। इस अंतस्तत्त्वमें ही मग्न होनेकी भावना रखिये।

प्रवृत्तिके बीच रहकर भी निवृत्तिका आशय रखनेवाले ज्ञानीके परिचयके लिये एक पौराणिक उदाहरण—भरत चक्रवर्तीके निवृत्तिका ही भाव था राज्य करते हुए भी इसलिए उनको घरमें

वैरागी कहा जाता है। राजाओंसे बात कर रहे हैं, चित्त अपने आपके स्वरूपकी ओर लगा है। रानियोंके बीच बैठे विनोद कर रहे हैं उपयोग अपने आत्मस्वभावकी ओर खिंचा हुआ है। अरे ऐसा भी हो सकता है क्या? हां हो सकता है चारित्र मोहका मंदउदय होने पर ज्ञानीकी ऐसी ही वृत्ति होती है। एकबार किसी पुरुषने भरतचक्रीसे प्रश्न किया कि महाराज आप घरमें तो रह रहे, राजपाट सम्हाल रहे, फिर भी लोग आपको वैरागी क्यों कहते? तो वहां भरतचक्रवर्तीने उसे तुरन्त कोई उत्तर न दिया, कहा कि फिर बतायेंगे। अब भरतचक्रवर्तीने क्या किया कि अपने यहां के कुछ सिपाहियोंसे समझा दिया कि देखो इस पुरुषको हम कुछ आदेश देंगे, तुम्हें भी इसका सिर उड़ाने का हुक्म देंगे, सो सिर तो न उड़ा देना, पर इस पुरुषको यह न मालूम होने पावे कि चक्रीने यों ही झूठमूठ सिर उड़ानेकी बात कहा है। यों सारी बात समझा दिया सिपाहियोंको। फिर उस पुरुषको हुक्म दिया कि देखो तुमको तेलसे भरा एक कटोरा दिया जायेगा, उस कटोरेको लेकर हमारे राज्यका सारा वैभव तुम्हें देखकर आना है, बादमें पूछेंगे कि कहां क्या देखा, और शर्त यह है कि इस तेलके कटोरेसे एक भी बूंद तेल कम न होने पावे, यदि तेल कम हुआ तो तुम्हारे साथ चलने वाले इन सिपाहियोंको हमारा आदेश है कि वे तुम्हारा सिर उड़ा देंगे। अब वह पुरुष विकट समस्यामें आ गया कि चक्रीका सारा वैभव देखना भी जरूरी है, नहीं तो पूछेगा तो क्या बतायेंगे और तेल पर निगाह रखना भी जरूरी है नहीं तो कम हो जाने पर गर्दन कटेगी। खैर चला वह पुरुष चक्रीका वैभव देखने घुड़साल, रानियों का अन्तःपुर, रत्नोंका भण्डार आदि सब देखा, पर निगाह बराबर तेल पर रही। सब वैभव देखकर वापिस आया। वापिस आने पर चक्रीने पूछा कि बताओ तुमने मेरा क्या क्या वैभव देखा? तो वह पुरुष बोला—महाराज देखनेको तो मैंने आपका सारा वैभव देखा पर मैं उस विषयमें बता कुछ नहीं सकता, क्योंकि निगाह मेरी कटोरेके तेल पर थी। तो वहां किसी मंत्री वगैरहने उस पुरुषसे कहा कि बस यही उत्तर तो चक्रीका है तुम्हारे उस प्रश्नका कि घर के बीच वैरागी कैसे? महाराज घर के बीच रहकर राज्यकी सब व्यवस्था करते हुए भी अपने ज्ञानस्वभावकी सुध से च्युत नहीं होते हैं। मंत्रीकी इस प्रकारकी बात सुनकर समझ लिया उस पुरुषने कि सचमुच भरत जी घरके बीच भी वैरागी हैं। अभी आप यहां भी देख लीजिए जब किसीका कोई इष्ट घरमें गुजर जाता है तो वह यद्यपि घर गृहस्थीके बीच रहकर सब काम करता है फिर भी ख्याल उसको अपने इष्टका बना रहता है। तो सम्यक्त्व जग जाने पर सम्यग्दृष्टि पुरुषकी यही स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन एक सोपान है इसलिए वह बहुत ही उत्कृष्ट तत्त्व है।

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ ३२॥

सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चरित्रकी संभूतिस्थिति वृद्धि आदिकी असंभवता—सम्यग्दर्शन क्यों इतना महत्वशाली है, आदरणीय है, उसकी सिद्धिमें यह श्लोक कहा गया है। ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, ज्ञान और चारित्रका ठहराव, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धि, ज्ञान और चारित्रके फलका उदय सम्यक्त्वके न होने पर नहीं हो सकता। जैसे कि बीज यदि नहीं है तो वृक्षकी उत्पत्ति,

वृक्षका ठहराव, वृक्षकी वृद्धि और वृक्षमें फलोंका लगना नहीं बन सकता। बीज ही नहीं है तो वृक्षमें अंकुर कैसे उत्पन्न होंगे? ऐसे ही सम्यक्त्व ही नहीं है तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहां प्राप्त होंगे?

यथार्थज्ञान और सम्यग्ज्ञानका विश्लेषण—एक यहां जिज्ञासा हो सकती है कि सही ज्ञान न हो तो सम्यक्त्व कैसे बन जायगा? इसलिए सम्यक्त्वसे पहले सम्यग्ज्ञान बताना चाहिए। समाधानमें थोड़ा मनन करें। एक दृष्टान्त लो—जैसे किसीने मानो बाहुबलिकी मूर्ति को नहीं देखा श्रवणबेलगोलमें जो बनी है पर उसके बारेमें साहित्यसे, दूसरोंके कहनेसे या उसकी प्रतिमूर्तिरूप मंदिरमें जो बाहुबलिकी मूर्ति है उसके देखनेसे मूर्तिका सारा ज्ञान तो कर लिया, उसका फोटो भी भली भांति देखा और उसके शरीरके अंगोंकी लम्बाई, चौड़ाई आदि की भी पूरी जानकारी कर लिया, एक तो इस प्रकारका ज्ञान, और एक ऐसा ज्ञानकि वही व्यक्ति श्रवण बेलगोल पहुंचकर पहाड़पर चढ़कर साक्षात् रूपमें उस मूर्तिके दर्शन करे, तो बताओ इन दोनों प्रकार के ज्ञानोंमें कुछ फर्क है कि नहीं? है फर्क। क्या है वह फर्क कि एक तो था अनुभवरहित ज्ञान और एक हुआ अनुभव सहित ज्ञान। उस मूर्तिके देखनेसे पहले उस मूर्तिके बारे में बहुत कुछ ज्ञान करने पर भी वह ज्ञान अनुभवसहित न था उस विषयका और मूर्तिके निरखने पर साक्षात् देखा समझा तो वह ज्ञान हुआ बहुत प्रतीति सहित। ऐसे ही जिस जीवको सम्यक्त्व होता है उसे विपरीत ज्ञानके कारण नहीं होता। होता है सही ज्ञान। जैसा पदार्थ है द्रव्य गुण पर्यायोंका स्वरूप है, जो जो कुछ यथार्थता है उस यथार्थता वाला ज्ञान जिसके है उसको ही सम्यक्त्व होगा। विपरीत ज्ञान वालेको सम्यक्त्व न होगा। लेकिन सम्यक्त्व होने पर वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्त्व होनेसे पहले वही सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। उसमें अन्तर क्या आया कि सम्यक्त्व होने पर अनुभूति सहित ज्ञान बना और सम्यक्त्वसे पहले अनुभूतिरहित ज्ञान था। सो सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिए सही ज्ञान ही काम देगा। विपरीत ज्ञान काम न देगा। जैसा आत्मद्रव्य है, जैसा जैनशासनमें बताया है, जैसा गुरुजनोंने उपदिष्ट किया है उस विधिसे जानें। मैं चैतन्यपदार्थ हूं, मेरे में ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति, चारित्र शक्ति, आनन्द शक्ति आदिक अनन्त शक्तियां हैं। हैं फिर भी यह मैं आत्मा कोई एक अखण्ड पदार्थ हूं और वह मैं निरन्तर परिणमता रहता हूं। मेरा सर्वस्व मैं ही हूं। मेरी करतूत बस उस चेतना की परिणतिभर है। जानने देखनेसे अतिरिक्त मेरी कुछ करतूत नहीं है कि मैं बाहरी किसी पदार्थको कुछ कर सकूं। ज्ञान जैसे बनता है उस माफिक ही अपनेमें मैं अपनेको भोगता रहता हूं। इससे अतिरिक्त बाहरमें मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है।

वर्तमान परिस्थितिमें आत्मनिरीक्षणका अनुरोध—अब ध्यानमें दीजिये कि घरमें रहने वाले जीवों पर आपकी किस तरहकी दृष्टि रहती है। ये मेरे ही तो हैं और मेरा इन्हींसे ही तो बड़प्पन है। ये ही तो मेरे सब कुछ हैं, और किसके हो जायेंगे? ऐसे तीव्र लगावके साथ यदि भीतरी आशय बना है तो इसे आप अपने पर बड़ी विपत्ति समझिये, क्योंकि उस प्रकारका कर्माश्रव होता है। वहां बंध है, उदयकालमें वैसा फल मिलेगा। संसार में जन्म मरण चलता रहता है। मानलो परिस्थितिवश घरमें रहना पड़ता है तो रहो पर श्रद्धामें यह बात रहे कि मैं तो चैतन्यमात्र हूं। मेरेमें एक तो मुझ चेतनाका परिणमन चलता है और मैं चेतनाको ही भोगता रहता हूं। इससे बाहर मेरा रंचमात्र भी किसीसे भी

सम्बन्ध नहीं, पर मैं अकेला ही रहूं, कोई परिग्रह न रखूं और आत्मसाधना ही करता रहूं, ऐसी स्थितिमें मैं अभी नहीं हूं अतएव घर में रहना आवश्यक हो गया। घरमें रहना तब ही ठीक बन पायगा जबकि सबके साथ प्रीतिका व्यवहार रहे। लो यों परिस्थितिवश करना आवश्यक हो गया, पर भीतरमें यथार्थ ज्ञानप्रकाश हो तो वह गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी धर्म मार्गमें चल ही रहा है। मोक्ष मार्गमें चल ही रहा है। तो भाई अज्ञान, मोहको भयंकर विपत्ति मानो। किसी दूसरे जीवको अनिष्ट समझ कर और उसे देखकर ही भीतर दुःखी बने रहना यह कर्तव्य नहीं है किन्तु अपने ही अज्ञान और मोहको अपने बिगाड़ वाला शत्रु समझना। अज्ञान दूर होगा, मोह दूर होगा तो भीतरी ज्ञान प्रकाश होनेके कारण यह कृतार्थ हो जायगा। सम्यक्त्वकी महिमा को कह रहे हैं कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अभ्युदय इस सम्यक्त्वके प्रतापसे होता है। जैसे कि बीजके प्रताप से अंकुर बनता है।

सम्यक्त्वके सद्भावमें सम्यक्चारित्रका विलास—सम्यक्चारित्रकी भी बात देखिये—अणुव्रत महाव्रत रूप चारित्र, यह तो सम्यक्त्वके बाद ही होता है, मगर सम्यक्त्व होते ही सम्यक्त्वाचरण तो हो ही जाता है जो कि स्वरूपाचरणका एक आंशिक प्रारम्भ है। जब अपने आत्माके सहज स्वरूपको जानो तो उसको जानते ही कितना ही क्षोभ मिटा, कषायें मिटीं, उद्वेग मिटा, धैर्य मिला, तो यह क्या चारित्रकी शकल नहीं है? है वह अणुव्रत से नीचे दर्जेका, मगर कुछ तो आत्मामें प्रभाव पड़ा ही है। तो ऐसा सम्यक्त्वाचरण रूप चारित्र यह है चारित्रका अंकुर। फिर वही बढ़ेगा तो अणुव्रत रूप, महाव्रत रूप, समाधिरूप यह बढ़ता चला जायगा। तो चारित्र की उत्पत्ति सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकती। इसी तरह स्थित बना रहे, ठहरा रहे, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनका साधन वह सम्यग्दर्शन है, फिर यह बढ़ता रहे, आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि दृढ़ रहे, यह भी सम्यक्त्वके होने पर ही तो सम्भव होता, सम्यक्त्वके अभावमें नहीं, और फिर सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका फल अनाकुलता, शान्ति, ये फल भी मिले तो सम्यक्त्व होने पर ही तो मिल सके। सम्यक्त्वके अभावमें सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी न उद्भूति है न अनाकुलता का अनुभव बन सकता है इस कारण सम्यक्त्व बहुत प्रधान है।

आत्ममननके कर्तव्यसे विमुख न होनेका कर्तव्य—भैया, थोड़ा चित्तमें बसाओ तो सही कि ये धन वैभव परिग्रह मेरे लिए बेकार हैं। इनके लगावमें, इनके संगममें, इनकी आशामें, तृष्णामें मेरेको मिलता कुछ नहीं है, बल्कि जो उसमें पाप कमाया उसका फल भोगनेको मिल गया सो आगे फल भोगना पड़ेगा। और मेरे स्वरूपका भान हो जाये, मैं सहज अपने सत्वसे किस रूप हूं? अमूर्त चैतन्यस्वरूप, आकाशवत निर्लेप निमित्त नैमित्तिक बंध हो गया है और उसको भी हमारी गल्ती ही बढ़ा रही है, पर स्वरूपको देखिये—स्वरूपमें विकार नहीं, स्वरूपमें कष्ट नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप वैसा मेरा स्वरूप। ज्ञानानन्दकी शक्ति वाला। ऐसे अपने स्वरूपमें कितनी पवित्रता है, कितनी उत्कृष्टता है उस ज्ञानस्वरूपको निहारो और उस ही रूप अपना अनुभव बनाइये। मैं यह हूं यह कोशिश करना है। करेंगे तो पार हो जायेंगे, न करेंगे तो संसारमें रुलेंगे। मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य रूप नहीं हूं। जो इसका नाम धरा गया फलाने चंद, फलाने लाल, या जो जो भी नाम रखे गये वे इस अमूर्त आत्माके नाम नहीं हैं। वे पिण्ड के नाम धरे गए। बोलने वाले तो लोग ही हैं। ये लोग जिसको देखें, जिसको देखकर

कहें नाम उसका। मैं अमुक लाल नहीं, अमुक चंद नहीं, अमुक कार्य वाला नहीं व्यापारी नहीं,सर्विस वाला नहीं, अमुकका बाप नहीं, अमुकका पुत्र नहीं, अमुकका अमुक नहीं। यह सब पिण्डके साथ व्यवहार है। मैं आत्मा तो इस देह देवालयमें विराजमान चेतनामात्र परमात्म पदार्थ हूं। ऐसे इस सहज परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वीकारता आ जाय बस समझिये कि नियमसे वह मोक्ष जायगा। कभी भी जाय। अब वह संसारके समस्त संकटोंसे सदाके लिए मुक्त हो जायगा।

सम्यक्त्वका महत्व—संसार संकटोंसे छुटकारा पानेमें मूलतःमाहात्म्य सम्यक्त्वका है। इसी सम्बंधमें श्री गुणभद्राचार्यने कहा है—शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंमुक्तम्। आत्मानुशासन ग्रंथमें कहा गया यह आर्याछन्द है, अभी तक श्लोकमें वर्णन था। संस्कृतमें श्लोकका राग दूसरा होता है, आर्याछन्दका राग दूसरा होता है। श्लोकमें ३२ अक्षर होते हैं, ८-८ अक्षरोंका एक-एक चरण होता है और उसमें ५वां अक्षर ह्रस्व और छठवां अक्षर दीर्घ, इतना ही उसमें नियंत्रण हैं, बाकी कैसी ही मात्रा कहीं हो, ३२ अक्षरोंमें राग बनना चाहिए। आर्याछन्दमें चार चरण होते हैं। प्रथम चरणमें १२ मात्रायें दूसरे चरणमें १८, तीसरे में १२ और चौथेमें १५ मात्रायें होती हैं। इस छन्दमें यह बताया गया है कि यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कितनी ही मंद कषाय हो, कैसा ही ज्ञान हो, कितना ही चारित्र पालन करें और कितना ही तपश्चरण करें तो वह पत्थरकी तरह बोझमात्र है और यदि सम्यक्त्व है और उसके साथ थोड़ा भी मंदकषाय, ज्ञान, चारित्र और तप हो तो भी वह महामणिकी तरह महत्त्वशाली है। पत्थर अनेक होते हैं। मणि भी पत्थर है और छतोंपर डाले जाने वाले या नीचे बिछाने वाले पत्थर भी पत्थर हैं, मणिकी तो लाखों कीमत है और इन साधारण पत्थरोंका अति अल्प मूल्य है। तो जैसे लोकमें इन पत्थरोंका अधिक महत्त्व नहीं माना जाता और मणिका महत्त्व अधिक है ऐसे ही सम्यक्त्व के साथ यदि चारित्र आदिक हैं तो उनका महत्व अधिक है। और सम्यक्त्व के बिना यदि तपश्चरण आदिक हैं तो उनका महत्त्व नहीं है। यद्यपि सम्यक्त्व रहित पुरुषके भी तपश्चरण मंद कषाय आदिक हों तो उनका भी कुछ फल होता है। सद्गतिमें जन्म हो जाता है, पर मोक्षमार्ग नहीं बनता, इस दृष्टिसे यह कथन चल रहा है। सम्यग्दर्शन ही इस जीवका सर्वस्व है, परम कल्याण करने वाला है, ऐसे पवित्र अच्छे कुलमें जन्म पाकर एक ही धुन बनाना चाहिए मूलमें कि मेरेको मेरेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपका दर्शन हो, अनुभव हो, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए। यह बात हम मुनियोंकी नहीं कह रहे, उनकी तो और ऊंची वृत्ति है, पर गृहस्थोंकी बात कह रहे कि एक ही धुन होनी चाहिए मौलिक कि मेरेको क्या चाहिए। मेरे आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव चाहिए।

जीवनका मूल उद्देश्य सही होने पर जीवनकी सफलता—यद्यपि गृहस्थीमें रहकर अनेक कार्य करने पड़ते हैं, करना पड़ेगा। पर हर एकके मनमें कोई मौलिक अभिलाषा रहती है। ऊपरी इच्छायें भी चलती हैं, पर एक उद्देश्य वाली इच्छा भी साथ रहती है। उद्देश्य वाली यह इच्छा रहती है कि मेरे इतना वैभव हो जाय कि इस दुनियामें मैं प्रथम नम्बरमें कहलाऊं, यह उसके भीतर में मौलिक इच्छा रहती है, पर केवल इतनी ही इच्छा रहती क्या? क्या खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिकी इच्छा नहीं होती है? होती है, अनेक इच्छायें चलती हैं, पर एक इच्छा उसकी मौलिक है यह कि मेरे इतनी सम्पदा

बने, जो दुनियामें सिरमौर कहलाऊं। ऐसी ही बात कह रहे हैं कि वह मौलिक इच्छा हितकारी नहीं है। मान लो तीन लोकका वैभव भी जुड़ गया तो उससे आत्माको क्या मिल जायगा? क्या मरण समय सब कुछ छूट न जायगा? उस वैभवसे क्या लाभ पा लिया जायगा? तो मेरेको इतनी सम्पन्नता हो जाय कि मैं सर्वप्रथम कहलाऊं, यह इच्छा करना मूढ़ता भरी इच्छा है, किन्तु आदत तो है ऐसी कि प्रत्येक मनुष्य कोई एक इच्छा तो मौलिक रखता है, बाकी इच्छायें अनेक होती हैं वे गौण होती है, कुछ कालके लिए होती हैं, कुछ परिस्थितिमें होती हैं। ऐसी अनेक इच्छायें होना और एक मौलिक इच्छा होना ये दो बातें हर एक मनुष्य में पायी जाती हैं। तो गृहस्थको मौलिक इच्छा क्या करना चाहिए, यह बात कह रहे हैं। मौलिक अभिलाषा यह होनी चाहिए कि मेरेको मेरे आत्माके सहज स्वरूपका दर्शन हो, अनुभव हो, यही ध्यानमें रहे, मेरेको यह स्थिति चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए, गौण इच्छायें चलती रहेंगी, पर उन बातों पर जो हम लौकिक बातें चाहते हैं उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। पूर्व जन्ममें कमाये हुए पुण्यके अनुसार यह संयोग मिला। आज कितनी ही कल्पनायें बनायें, कितना ही हम उस सम्पन्नताके लिए कोशिश करें, भाव बनायें, पर सफल नहीं होते। यद्यपि यहां भी कोशिश तो सभी करते हैं मगर कोशिश बनती है, सफल होते हैं, पुण्यके अनुसार। तो इन बाहरी बातोंमें हम मौलिक इच्छा न बनायें किन्तु मूल अभिलाषा यह रखें कि मेरे में वह ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जिससे कि सदाके लिए संकटोंसे छूट जाऊं।

ज्ञानामृतके पानसे अमरत्वकी प्राप्ति—लोग ऐसा कहते हैं। कुछ कुछ पुस्तकोंमें लिखा रहता है कि अमर फल खानेसे अमर हो जाता है, पर यह तो बतलावो कि दुनियामें है क्या कोई ऐसा अमरफल है जिसके खानेसे से मनुष्य अमर हो जाय? असम्भव बात है। न कोई ऐसा अमरफल है और न अमरफल कोई खाया जाता। अरे वह अमरफल ही तो पहले अमर हो जाये। जिसको खाया गया उसका ही जब चूरा हो गया तो फिर वह दूसरेको क्या अमर करेगा? जगतमें कोई अमरफल नहीं है कि जिसके खानेसे यह जीव अमर हो जाय। या अमृत हो कोई ऐसा कि जिसके पीनेसे मनुष्य अमर हो जाय। न कोई अमृत है न कोई अमरफल है, पर है कुछ बात उसमें रहस्य की। अगर अमृत पीले कोई तो नियमसे वह अमर हो जायेगा, इस बातमें कोई संदेह नहीं, मगर वह अमृत क्या है जिसके पीने से यह अमर हो जाता है। वह अमृत है जो न मरे ऐसे तत्वका प्रकाश। मेरा आत्मस्वरूप स्वयं सत् है, परिपूर्ण है। जो सत् होता है उसका कभी विनाश हो नहीं सकता। मैं आत्मा चैतन्यसत् हूं। मेरा कभी विनाश हो ही नहीं सकता। भले ही जैसे कोई पुरुष इस घरमें रहा, दूसरे घरमें गया, तीसरे घरमें रहा, दसों घर बदले, मगर क्या वह मनुष्य वही नहीं है? ऐसे ही यह जीव अनेक शरीर बदले, मनुष्य हुआ, देव हुआ, कुछ भी हुआ, कितने ही शरीर बदले और कभी शरीरसे रहित हो जाय तो आत्मा तो वही है। शरीरके बदले जानेसे आत्माका नाश नहीं है, आत्माका मरण नही है। केवल शरीरके विकारको ही मरण कहा करते हैं, पर आत्माका मरण नहीं है। ऐसा अमूर्त स्वभावका, आत्मतत्वका ज्ञान जग जाय और उसी आत्मस्वरूपमें ध्यान जम जाय और वह अपनेको अविनाशी अनुभव करने लगेगा तो बतलावो इस अमृत तत्त्वके पान करने से यह अमर हो गया या नहीं? अमर तो यह था ही चाहे यह कितना ही

घबड़ाये, पर यह जीव अमर है। परन्तु इसे यदि अपने अमरपनका ख्याल नहीं है तो कहां अमर है? अपने उपयोगमें जब इसको अपने अमरपनका ख्याल आ जायगा तो यह जीव अमर कहलायगा।

अपनेपर अपना उत्तरदायित्व जानकर आत्मकल्याणका प्रयास करनेमें ही विवेक—भैया, जरा अपने कल्याणकी दृष्टिसे सोचिये तो परिवारके लोग मेरे आत्माको सुखी न कर सकेंगे। जगतकी कोई भी घटना मेरेको सुखी शान्त न कर देगी। जगतका एक अणु भी मेरा साथी नहीं है। एक भी कोई जीव मेरा साथी नहीं है। जैसे झंडा हवाके चलनेसे उलझता है, सुलझता है ऐसे ही यह जीव अपने ही भावोंसे उलझता और सुलझता है। हम अपने ही भावोंके द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं। दूसरा कोई भी मेरा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं है। अपनी जिम्मेदारी अपनेमें समझिये तो सही, व्यर्थके विचार, अटपट विकार, अटपट विचार, इनसे लाभ क्या होगा? ऐसा ध्यानमें रखकर कुछ आत्मकल्याणकी अभिलाषा बढ़ाइये और आत्मकल्याणकी अभिलाषा जिसके होगी उसको अन्य सब बातें बेकार लगेंगी। यह है सम्यग्दर्शनकी महिमा। इसके प्रतापसे जीवन शान्त रहता है। जिन जीवोंके सम्यग्दर्शन हैं उनके सम्मुख अल्प भी हो उनका ज्ञान, थोड़ा भी हो उनका चारित्र और तप थोड़ा भी हो तो भी वह महत्वशाली है, और उसके प्रतापसे जितने भव शेष हैं संसारमें वे भव उत्तम मिलेंगे और अन्तमें कर्मोंसे, शरीरसे रहित होकर यह सिद्ध पद प्राप्त कर लेगा।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ ३३॥

निर्मोह गृहस्थकी मोक्षमार्गस्थता—जो गृहस्थ मोहरहित है वह मोक्षमार्गमें स्थित है। जो मुनि मोहवान है वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। क्या यह सम्भव हो सकमता कि निर्मोह होकर गृहस्थ गृहस्थीमें रहे? हां यह सम्भव है, पर यह सम्भव नहीं है कि रागरहित होकर कोई मनुष्य गृहस्थीमें रह सके। राग किए बिना कोई गृहस्थीमें नहीं रह सकता, पर मोह किए बिना भी गृहस्थीमें रहा जा सकता है क्योंकि निर्मोहताका सम्बंध है यथार्थ आशयसे। जहां वस्तुका सही ज्ञान है, प्रत्येक जीव निराला है, किसी जीवके साथ उसका कोई नाता नहीं है। उसका देह और कर्मसे भी सम्बंध नहीं है। सबका सत्त्व जुदा अपने आपमें है, ऐसा स्वतंत्र स्वरूपका ज्ञान हो गया, उसको अब किसी भी पर पदार्थमें आत्मस्वरूपका लगाव नहीं रहा। बस मोहरहित हो गया। मोहरहित होने पर भी जिसकी परिस्थिति ऐसी है कि ज्ञानमें रमनेकी दृढ़ता नहीं है वह पुरुष गृहस्थी बसायगा। वह जब घरमें रहेगा तो लोगोंसे प्रीति भी करेगा, प्रीति बिना घरमें न रह पायगा। दुर्वचन बोलकर कोई कैसे खुद शान्त रह सकेगा या दूसरा भी ठीक रह सकेगा? तो राग बिना गृहस्थीमें रहना नहीं बनता, पर मोह बिना गृहस्थीमें बहुत अच्छा रहना बनता है। मोही गृहस्थ उतने अच्छे ढंगसे घरमें नहीं रह सकता जितना अच्छे ढंगसे निर्मोही रह सकता, क्योंकि मोही गृहस्थकी छाप परिवारके लोगोंपर भीतरमें नहीं रहती। बच्चे लोग जान लेते हैं कि यह मेरा बाप मुझ पर इतना मोही है कि मरा जा रहा है, आसक्त है। तो उन बच्चों के चित्तमें स्वच्छंदता आ जायगी और जहां बच्चे जानें कि मेरे पिताजी निर्मोही हैं, इनको जगतकी किसी भी

चीजसे अनुराग नहीं है, इनके साथ रहकर अपनेको अच्छा व्यवहार रखना चाहिए, नहीं तो हमारे दुर्व्यवहारसे घबड़ाकर या विरक्त होकर यह किसी भी समय हमको छोड़ सकते हैं। क्योंकि इनका ज्ञानप्रकाश जगा हुआ है, ऐसी हृदयमें छाप रहती है परिजनोंपर और इसी सद्भावनाके कारण परिजन योग्य व्यवहार करेंगे।

सोदाहरण निर्मोह गृहस्थका गृहस्थीमें आदर्श निवास—जैसे भगवानकी भक्तिदो कारणोंसे की जाती है। एक तो इस कारणसे कि लोग मानते हैं कि भगवान ही हमें नरक भेजता, भगवान ही हमें सुखी दुःखी करता, भगवान ही हमें गरीब, धनिक बनाता, सो कहीं भगवान हमें दुःखमें न डाल दे, नरकमें न पटक दे इस डरसे या फिर इस आशासे कि भगवान मुझे स्वर्गके सुख देगा···, यों एक तो इस भय या आशाके वश होकर लोग भगवानकी भक्ति करते हैं। भगवान भी उनके लिए क्या हैं? जिसको मान लिया सो भगवान। भगवानका स्वरूप उनको सही-सही ज्ञात नहीं है, पर होते हैं कुछ लोग ऐसे जो कि ईश्वरको कर्ता धर्तारूपमें मानकर उसकी आराधना किया करते हैं। तो उनकी भक्ति है भय और आशासे, लेकिन जिन्होंने भगवानको वीतराग और सर्वज्ञ जाना है धन्य है उनका पवित्र आत्मा जिनमें दोष रंच भी न रहे और गुण परिपूर्ण हो गए ऐसा भगवानके स्वरूपको जानने वाले अपने स्वरूपको भी जानते हैं कि मेरा जो असाधारण गुण है, जो चैतन्यस्वरूप है, उसका कार्य केवल चैतन्य मात्र है, रागद्वेष करना नहीं है। रागद्वेष होते हैं कर्मका सम्पर्क पाकर। मैं तो प्रभुकी तरह अविकार स्वभावी हूं। तो ऐसा जानने वाले पुरुष स्वरूप समताकी दृष्टिसे और स्वरूपके विकासकी दृष्टि से भगवनकी भक्ति करेंगे। तो आप जानें कि तत्त्वज्ञानी पुरुष भगवानके और अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले पुरुष प्रीतिसे भक्ति करेंगे, अनुरागसे भक्ति करेंगे, पर निर्दोष गुणसम्पन्नताकी दृष्टि न रखने वाले लौकिक पुरुष, केवल कर्ताधर्ता मानने वाले लौकिक पुरुष प्रभुकी भक्ति अनुरागसे नहीं कर सकते। वहां प्रतीति ही नहीं उमड़ सकती, वहां परम आल्हाद नहीं बन सकता जिससे भीतरमें उमंग बने, वहां तो डर और आशा ये दो हैं जिस कारण लोग भक्तिमें लगते हैं। तो जो यहां अंतर है वैसा ही अंतर निर्मोह गृहस्थ और मोही गृहस्थके प्रति परिजनोंकी प्रीतिमें है। परिजनोंकी प्रीति मोही गृहस्थके साथ सही अनुराग पूर्वक नहीं होती, आल्हादपूर्वक नहीं होती, पवित्र बुद्धिपूर्वक नहीं होती, पर निर्मोह गृहस्थकी प्रीति परिजनोंके प्रति आल्हादपूर्वक होती है, सत्कारपूर्वक होती है। ये पूज्य हैं, पवित्र हैं, ऐसी बुद्धि रखकर हुआ करती है।

गृहस्थ धर्म द्वारा भी यथोचित धर्मपालनकी संभवता—जो गृहस्थ निर्मोह होकर घरमें रहता है वह तो मोक्षमार्गमें स्थित है, किन्तु मुनिलिङ्ग भी धारण किया हो और उसके अनुकूल बड़े तपश्चरण भी कर रहा हो लेकिन वह मुनि मोही है तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। इस कारण मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ हुआ करता है। देखिये इस बातका रंज न होना चाहिए कि हम गृहस्थीमें हैं, कीचड़में पड़े हैं, हम क्या धर्म साधना कर सकेंगे? धर्मसाधनाका अधिकार तो मुनिजनोंको है, ऐसा सोचकर शोक न करना चाहिए। कारण यह है कि प्रवृत्तिरूप धर्ममें धर्मके दो भेद बताये गए—(१) गृहस्थ धर्म और (२) मुनिधर्म। गृहस्थ भी तो कल्याणका पात्र है। वह रहे सही ढंगसे, मगर वह मोह करता

हुआ रह रहा है तो उसके गृहस्थधर्म है ही नहीं। वह तो अन्य तिर्यञ्चोंकी भांति मुग्ध प्राणी है। उसे धर्मका सवाल ही नहीं उठता। जैसे गाय भैंस आदिक जानवर मोही होते हैं, बच्चोंपर प्रीति करते हैं, उनमें आसक्त होते हैं और अपना ही अपना सोचते हैं, दूसरोंमें मानों जान ही नहीं, इस दृष्टिसे निरखा करते हैं तो जो वृत्ति पशुओं की है वही वृत्ति मोही मुनियों की हो गई, कोई अन्तर न आया, वहाँ धर्मका सवाल ही नहीं उठता, मगर जो सत्य प्रकाश पाये हुये हैं पर द्रव्यों में मोहसे रहित हैं, परिस्थितिवश घरमें रहना पड़ रहा है सो गृहस्थ धर्मका कर्तव्य भी निभाया जा रहा है। ऐसे सद्गृहस्थकी बात कह रहे हैं कि उनकी चर्यामें धर्मपालन बसा हुआ है, जिसके प्रसादसे उनका मोक्षमार्ग बराबर चल रहा है।

सद्गृहस्थकी आदर्शचर्याका दिग्दर्शन—सद्गृहस्थकी चर्या भी तो देखिये—सुबह जैसे उठे तो गृहस्थ सामायिक करते हैं। उस सामायिकमें सर्वविचार करते हैं कि मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, कहां जाऊंगा, मेरा क्या कर्तव्य है, मैं क्या करने लगा इन बातों पर दृष्टि देते हैं प्रातः काल। प्रभुका स्मरण करते हैं, आत्मस्वरूपका भान करते हैं। पहला काम तो सद्गृहस्थोंने यह किया। अब कोई कहे कि प्रातः उठते ही खाट पर बैठे-बैठे चाय पी रहे, अखबार पढ़ रहे या परिजनोंसे गप्पे मार रहे यह काम है गृहस्थोंका तो उनका यह कहना ठीक नहीं। सद्गृहस्थने प्रातःकाल उठते ही सबसे पहले धर्मका ही काम निभाया, दूसरा काम कुछ नहीं किया। उनकी चर्या देखिये—सद्गृहस्थको प्रातः काल उठते ही कुछ गृहस्थीके आवश्यक कार्य भी करने होते जैसे दूध लेने जाना या गाय भैंस दुहना आदिक मगर सब बातें देखिये कि प्रातः कालमें सब धर्मका ही काम चल रहा है। शौचादिक क्रियावोंसे निवृत्त होकर शीघ्र ही नहाना धोना, मंदिर जाना, पूजा, पाठ, जाप, स्वाध्याय आदि करना, ये सब उसके धर्मभावनाकी बातें चल रहीं। सद्गृहस्थकी चर्या बतला रहे। पूजन किया, स्वाध्याय किया, घर आये, घर आकर वह सद्गृहस्थ यह भावना करता है कि कोई अतिथि, त्यागीजन मिलें तो मैं उनको आहार कराकर आहार करूं। अब देखिये—यदि शुद्ध भोजन बन रहे हें तब तो ये भाव कर सकेंगे, अशुद्ध भोजन बनाया, गोभी फूल, आलू वगैरह बनाया, बाजारका आटा लेकर बनाया तो ऐसा अशुद्ध आहार बनाकर कोई यह भाव कर सकेगा क्या कि मैं किसी त्यागी व्रतीको आहार कराकर आहार करूंगा? नहीं कर सकता। पर सद्गृहस्थ शुद्ध विधिसे आहार बनवाकर यह भावना करता है कि मैं किसी त्यागी व्रतीको आहार देकर भोजन करूंगा। भले ही कोई त्यागी व्रती न मिला फिर भी भावनाका फल तो उसने पा ही लिया। आजकल तो शुद्ध विधिसे आहार तैयार करानेका तो चलन ही खतम सा हो गया। खुद हाथसे आटा पीस नहीं सकते, कुवेंसे पानी भरकर नहीं ला सकते, मर्यादाकी चीजें नहीं रख सकते, जीवन इतना विलासी बन गया कि आचरणका कुछ ध्यान न रहा, भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ विवेक न रहा, भला बतलावो जहां ऐसी वृत्ति बन गई वहां त्यागी व्रतीजनोंको शुद्ध आहार करानेका भाव कैसे बन सकता? सद्गृहस्थके अन्दर स्वच्छन्दताकी बातें नहीं होतीं। वह अपने आचरणको शुद्ध ढंगसे रखनेका बड़ा ध्यान रखता है। वह शुद्ध विधिसे आहार तैयार कराकर त्यागी व्रती जनोंको आहार देकर आहार लेनेकी भावना रख रहा तो भले ही आहार न हो सके किसी त्यागी व्रतीका, पर धर्म पालन उस

सद्गृहस्थके निरन्तर चल रहा है। अभी तक तो रहा धर्मपालनका व्यवहारिक पीरियेड, अब आ गया उसके धनार्जनका समय।

सद्गृहस्थकी धनार्जनादिके समय भी सही दृष्टि—सद्गृहस्थ धनार्जन करने जायगा, धनार्जन भी करेगा पर उसका भाव यह रहता है कि न्याय नीतिसे जितने धनका अर्जन होगा उसका कुछ हिस्सा गुजारेके लिए रहेगा, बाकी हिस्सा धर्मके कार्योंमें लगाऊंगा। यदि उसका यह भाव है तो समझोकि धनार्जन करते हुए भी उसके धर्मपालन चल रहा है। यदि धनार्जन करते समय मात्र उद्देश्य रहे अपने परिवारके गुजारेका, धर्मायतनोंमें खर्च करनेका भाव न रहे तो समझो कि वहां धर्मपालन नहीं हो रहा। सद्गृहस्थकी भावना रहती है धर्मायतनोंमें धनको खर्च करनेकी, इस कारण उसके निरन्तर धर्मपालन चल रहा है। तो ऐसा धर्मपालन करते हुए गृहस्थका जीवन धन्य है। वह आगे अवश्य ही उत्तम संग पायगा और जल्दी ही बड़ा कल्याण पायगा। तो यहां इस श्लोकमें बतला रहे कि जो निर्मोह गृहस्थ है वह मोक्षमार्गमें स्थित है और जो मोही मुनि है वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। बाहर से तो यों लग रहा कि गृहस्थ बड़े कीचड़में पड़ा है, पर उसका अंतरंग आशय इतना विशुद्ध है, वह मोक्ष मार्ग में लगा हुआ है। किसी किसी मुनिका ऊपर से यह दिख रहा है कि यह बड़ा निर्लेप है, शुद्ध है। प्रभुका रूप है, पर अंतरंगमें वह कीचड़में फ़ंसा है, क्योंकि उसमें भीतरमें अज्ञान बसा है। तो ऐसे मोही मुनिकी बात कही जा रही है कि उस मुनिसे निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है, तो इस सद्गृहस्थको श्रेष्ठता मिली कैसे? इस सम्यक्त्वके प्रभावसे, इसलिए इस मनुष्य जीवनमें सम्यक्त्व पानेका पौरुष करना चाहिए।

सम्यक्त्व बिना शान्तिके सर्व उपायोंकी व्यर्थता जानकर सम्यक्त्वलाभका यत्न करनेका अनुरोध—सम्यक्त्वकी महिमामें यह बताया जा रहा है कि यदि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्गमें लगा हुआ है। यदि सम्यग्दृष्टि नहीं है मुनि अर्थात् निर्मोह नहीं है मुनि तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। निर्मोह कहो, ज्ञानी कहो, सबका एक अर्थ है। जिसके मोह नहीं रहता वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। राग और द्वेष तो रह जायेंगे पर सम्यग्दृष्टिके मोह रंच नहीं रहता। मोह कहते हैं बेहोशीको। जहां आत्माको होश है.आत्माके स्वरूपका प्रकाश है वहां बेहोशी नहीं है अर्थात् मोह नहीं है। जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह ही पुरुष वास्तवमें भ्रष्ट है। कोई चारित्रसे भ्रष्ट हो गया, सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नहीं है तो उसका उत्थान सम्भव है, वह पुनः चारित्र पा लेगा, पर जो सम्यक्त्वसे रहित है उसकी उन्नतिका कोई उपाय नहीं है। चाहे कोई कितने ही शास्त्र जानता हो, ११ अंग ९ पूर्व तकका जिसका अध्ययन हो गया हो वह भी यदि सम्यक्त्वसे रहित हैं तो वह आराधनासे रहित है। किसकी आराधना करेगा? ऐसा पुरुष संसारमें ही भ्रमण करता है। हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों तक भी यदि कोई तप कर रहा है, लेकिन है सम्यक्त्वसे रहित तो वह कभी रत्नत्रयका लाभ, सम्यग्ज्ञानका लाभ, केवल ज्ञानका लाभ पा नहीं सकता। चारित्रसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहेंगे और सम्यक्त्वसे भ्रष्टको महाभ्रष्ट कहेंगे। भला जहां जड़ कट गई वहां कोई वृक्षका परिवार रह सकता है क्या? वृक्ष वृद्धिको प्राप्त हो सकता है क्या? नहीं, ऐसे ही जहां मोक्षमहलकी जड़ कट गई, सम्यक्त्व नहीं है वहां समाधिका लाभ, मुक्तिका लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? तो बहुत ध्यानसे अपने आपको इस संसारमें अकेला जानकर

अपनी दयाका भाव रखना चाहिए। मैं इस जगतमें अकेला ही दुःख सुख भोगने वाला हूं और अकेला ही मुक्त हो सकूंगा। सर्व स्थितियोंमें मैं अकेला हूं, मेरा साथी कोई दूसरा नहीं है। ये जो व्यर्थके राग प्रेम मोहादिके परिणाम बढ़ रहे हैं परिजनोंके साथ ये सब आपत्ति हैं, इनसे जीवके चैतन्यस्वरूपका घात हो रहा है। उनके लगावमें अपनेको अकेला जानें और अपने आपमें जैसे आपका कल्याण हो वह उपाय बनायें, उन उपायोंमें सर्वप्रथम उपाय है सम्यक्त्वका लाभ।

सम्यक्त्वलाभका उपाय वस्तुस्वरूपविज्ञान—सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए मुख्यतया वस्तुकी स्वतंत्रताका ज्ञान करना होता है। मेरे आधीन दूसरा कुछ नहीं, किसी दूसरेके अधीन मैं कुछ नहीं। जहां विकार भी जगता है तो वहां भी कर्मका उदय उपस्थित भर है, वह कहीं अपनी परिणतिसे जीवको विकारी नहीं करता, किन्तु उसका निमित्त पाकर यह जीव अपनी परिणतिसे विकृत होता है। तो वहां भी स्वतंत्रता निरखिये, यदि कोई दूसरा मेरेको विकारी बनाता तो मेरा कुछ वश न चलता कि मैं उस विकारसे अलग होऊंगा, क्योंकि वह मुझसे बलवान हो गया जो मुझे विकारी बना देता, अब मैं उससे कैसे पेश पा सकता? पर ऐसा नहीं है कि कोई मुझे विकारी बना दे। विकार निमित्त है अन्यथा विकार मेरा स्वभाव बन जायगा। पर उपाधिके सन्निधान बिना जीवमें विकार नहीं बनते, यह बात निश्चित है। स्थिति वहां यह है कि कर्म उपाधिके सान्निध्यमें यह जीव अपनी परिणितिसे अपनेमें विकारभाव करता है। जहां वस्तुका यह स्वातंत्र्य भी जाना, विकारका निमित्त पाकर जाना वहां यह भव्य स्वभावके अभिमुख होकर अपने स्वरूपकी दृष्टि कर लेता है। यह जिन्होंने पाया उन्होंने सब कुछ पाया, बाकी तो बाह्यपदार्थोंकी तृष्णामें, अर्जनमें समय गंवाया तो वह बेकार ही गया। स्वभावदृष्टिमें जितना समय बीते उतना समय सफल है। और सम्यक्त्वका उपाय करना यह इस मनुष्यभवमें आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है। अथवा यही एकमात्र काम है प्रारम्भमें कि मैं अपने सहजस्वरूपका दर्शन और अनुभव करुं।

सम्यक्त्वरहित व व्रतरहित होकर भी अपने पैरोंमें दूसरेको पड़नेदेनेका दुष्फल—जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है और अपने मनमें सब जानता ही है, अथवा उद्दण्डताका भाव भी है और मानलो कोई भेष भी रख लिया धर्मात्मापनेका और यह आकांक्षा रही कि मैं दूसरोंसे नमस्कार चाहूं, दूसरा मेरे पैर छुवे तो ऐसा जीव परभवमें लूला, लंगड़ा, मूर्ख आदिक होकर दुर्दशाको प्राप्त होता है। सम्यक्त्वरहित पुरुषके पैरोंमें पड़ना अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपने पैरोंमें पड़ाना यह सब एक मोक्षमार्गकी प्रक्रियासे बाहर प्रक्रिया है। यहां यह जानना कि सम्यक्त्वका परिचय कौन करता है। अगर जानबूझकर समझमें आये कि इसके सम्यक्त्व नहीं है, इसने सम्यक्त्व किया है मोटे रूपसे समझमें आता है तो उसको ऐसी क्रिया न करना चाहिए किन्तु सम्यक्त्व के लाभके लिए प्रयास करना चाहिए। देखिये व्यवहार पद्धतिमें यह बात बहुत कही गई है कि जैन शासनमें ३ लिङ्ग ही उत्कृष्ट कहे गए हैं। तीन लिङ्ग ही पूज्य माने गए हैं। (१) एक तो मुनिका रूप। (२) दूसरा उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक ऐलकका रूप और (३) तीसरा अर्जिकाका रूप। चौथा लिङ्ग जैन दर्शनमें पूज्य नहीं बताया गया है। तो इन लिङ्गोंके सिवाय बाकी जो जीव हैं वे अपनेको सम्यग्दृष्टि घोषित करें और अपने पैरोंमें दूसरोंका सिर धरावें तो उनके बारेमें बताया गया है कि अन्य भवोंमें वे दुर्गतिके पात्र होते हैं। देखिये देह भी बंदनीक बन गया यदि उस

देहमें रत्नत्रयधारी आत्मा विराजमान है। बताते ना कि मुनिका स्वर्गवास हो गया, मृतक देह पड़ा हुआ है तो भी उसे अजीव मंगल कहा गया है। उसके प्रति कुछ थोड़ी बहुत एक आस्थाकी बुद्धि रहती है। आस्था तो आत्मामें थी मगर उसके प्रति भक्तिकी कुछ बात चित्तमें आती तो है। यद्यपि यह देह तो हाड़ मांसका पुञ्ज है, उसमें पूज्यताकी क्या बात, मगर उसमें गुण रत्नसे भूषित आत्मा बसा हुआ है इसलिए वह बंदनीक बताया गया है।

अपनी भलाईके लिये जीवनमें एकमात्र सम्यक्त्वलाभका आवश्यक कर्तव्य—सम्यग्दर्शन सम्यक्में सम्यक्के द्वारा सम्यग्दर्शन करना कल्याणका प्रथम सोपान है। समीचीन है मेरा आत्मस्वरूप, उसमें सम्यक्के द्वारा अर्थात् शुद्ध परिणामके द्वारा मन और इन्द्रियसे कुछ ज्ञान करके जहां मन और इन्द्रियका आलम्बन भी छूट जाता है, ऐसी अपनी ज्ञानानुभूति द्वारा उस सम्यक्स्वरूपका दर्शन अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्वकी महिमा जानकर अपनेमें एक ऐसा निर्णय बनावें कि मेरेको सम्यक्त्व लाभ हो, बाकी जो संग है, समागम है वह चाहे किसी भी दशाको प्राप्त हो, उससे मेरा क्या मतलब है? मेरा तो प्रयोजन मेरे आत्मासे है। मेरा सही आत्मस्वरूप मेरे ध्यानमें रहे तो मुझे कोई आकुलता नहीं है। जब अपने स्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें विश्वास जमाकर उनके अनुरागी बनते हैं तो वहां कष्ट होना प्राकृतिक बात है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥ ३४॥

देहधारी प्राणियोंको तीन लोक तीन कालमें सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्वके समान विपत्तिकारक अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है। कल्याण और अकल्याणमें लगनेका सर्व कुछ आधार अपने अन्दर है। बाहरी पदार्थोंसे कोई दुःखी नहीं होता। सुखी भी नहीं हो सकता, किन्तु बाह्य पदार्थोंके विषयमें अपने आपमें कल्पनायें बनाकर यह जीव और दुःखी होता है। तो कल्याण और अकल्याणका मूल कहां निकला? बाहर नहीं निकला, अपने आत्मामें ही। इस जीवका स्वरूप अमूर्त चैतन्यमात्र ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है, किन्तु आजकी यह दशा बन रही है कि ज्ञान भी नहीं पूरा है, अतिस्वल्प है और आनन्दका तो ठिकाना ही नहीं है। है ही नहीं। सुख और दुःख इन दोनोंमें चलते रहते हैं तो ऐसी जो स्थिति बनी है उस स्थितिका मूल कारण, साक्षात् कारण तो अपने आपके स्वरूपकी बेहोशी है जिसके कारण अनेक तरहकी कल्पायें उठती हैं, पर यह बेहोशी अनैमित्तिक नहीं है। मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय है जिसका निमित्त पाकर उसकी यह दशा बन रही है। बात बिल्कुल स्पष्ट है। मैं स्वभावसे बुरा नहीं हूं, किन्तु कर्मोदयका सन्निधान पाकर मैं बुरा परिणमन किया करता हूं। सो यदि मैं अपनी शक्तिको सम्हालूं तो उस कर्ममें भी अन्तर आ जायगा उन कर्मोंकी भी निर्जरा बनेगी और मैं कभी निकट कालमें ही उन कर्मोंसे भी छूट जाऊंगा। तो अपना पौरुष यह है कि हम निज सहज स्वभावकी दृष्टिका प्रयत्न करें। सम्यक्त्वके बराबर तीन लोक तीन कालमें कोई सारभूत बात नहीं है।

अपने भविष्यपर दृष्टिपात करनेका परिणाम—आखिर सोचिये—यह एक प्रश्न करते जाइये

कि फिर क्या होगा। पढ़ते हैं बच्चे लोग, स्कूलोंमें पढ़ जायेंगे, फिर क्या होगा? डिग्रीपास कर लेंगे, फिर क्या होगा? सर्विस पा लेंगे, या व्यापार पा लेंगे, फिर क्या होगा? परिवार बसेगा फिर क्या होगा? खूब सम्पदा जुड़ जायगी फिर क्या होगा? वृद्धि हो जायगी फिर क्या होगा? बस मरण हो जायगा, यहांसे कूंच करना पड़ेगा। सारे जीवन भर श्रम किया, मोहकी पुड़िया पूरी और अन्तमें इसे छोड़कर जाना ही पड़ा। अच्छा फिर क्या होगा? शरीर तो यहां ही छूट गया, इसे तो लोगोंने जला डाला। कोई उस मृत शरीरको १० मिनट भी रखना नहीं पसंद करता क्योंकि कुछ ही देरमें उस शरीरमें से बदबू निकलनेकी सम्भावना होती है। तो आप इस अपने शरीरको छूकर बोलो जिस शरीरको लोग जला देंगे, जो जलकर राख हो जायगा और जो मैं हूं, जिसका भीतरमें अहं अहंका बोध हो रहा है वह मैं यहांसे निकल जाऊंगा, निकलकर कहां जाऊंगा? जैसे मैंने जीवनमें पुण्य और पापकर्म किया उसके अनुसार मेरा नया जन्म होगा, फिर वहां वैसा फल भोगना पड़ेगा, इस कारण अपने भावोंको सही शुद्ध रखिये। एक निरन्तर प्रयास रखिये कि कभी भी किसी जीवपर ईर्ष्या विरोध करनेका, दुःखी करनेका भाव न रखिये, क्योंकि खोटे भाव रखे जानेका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। खुद ही कर्मके अनुसार दुःख भोगना पड़ेगा। इस कारण अन्तरंगमें तो आत्माके सही स्वरूपकी सुध रखिये, प्रवृत्तिमें अपने भावोंको निर्मल रखिये, स्वच्छ रखिये ताकि अपने मनसे, वचनसे किसीको अहित न हो। अपने भावोंको सही रखें तो आगे भी सद्गति मिलेगी, धर्मका प्रसंग मिलेगा, आत्मदृष्टि बनेगी, आत्मरमण कर सकेंगे, संकटोंसे छूट सकेंगे। यदि अपने भावोंको खोटा रखा तो उससे आपका काम बन ही जाय यह नियम नहीं है। किसीने भाव किया कि मैं अमुकको दुःखी कर डालूं तो उसके भाव करनेसे वह दुःखी हो जायगा, यह कोई संभव नहीं है। वह दुःखी होगा तो अपने किए हुए पापके उदयसे दुःखी होगा, आपके सोचनेसे दुःखी न होगा। तब फिर बुरा विचारना यह निरर्थक ही तो रहा। इससे कुछ लाभ मिला क्या? तो भावोंको सही रखना, अपने आत्माके स्वरूपकी सुध रखना, ऐसा यह जीवन गुजरे तब तो भला है और यदि यह जीवन अटपट रखनेमें, खोटी हठोंमें, विषयोंकी प्रीतिमें गुजरता है तो मनुष्यभव पाना न पाना समान सा रहा।

तीन लोकमें तीन कालमें सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता—इस मनुष्यभवमें एक सम्यक्त्वका ही लाभ लूटिये। कितना काल व्यतीत हो गया? अनन्तकाल। कितना काल व्यतीत होगा? अनन्तकाल। यह लोक कितना बड़ा है? ३४३ घनराजू प्रमाण। उसमें यह त्रसनाली कितनी बड़ी है? १४ राजूप्रमाण। उसमें भी यह मध्यलोक कितना बड़ा है? तिर्यकलोक, एक राजू प्रमाण, चौड़ाईमें कम। इतने बड़े लोकमें, इतने अपरिमित कालमें सारी चीजोंपर दृष्टि डालकर देख लीजिए, कुछ भी सार न मिलेगा। सार है तो एक अपने आत्माका भाव, आत्माका उपयोग आत्माके स्वरूपको निरखें और आत्माके ही चैतन्यस्वरूपमें रम जाय, सदाके लिए शरीरोंका मिलना खतम हो जाय, कर्मका बन्धन समाप्त हो जाय तो इससे बढ़कर और आप क्या चाहते हैं? सदाके लिए कोई संकट न रहे यह चाहते हैं, तो उसका उपाय है सम्यग्दर्शन। उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित हो जाय तो भी कुछ गया नहीं आपका। सम्यक्त्व पाया तो समझिये आपने सर्वसमृद्धि प्राप्त कर लिया। इस सम्यक्त्वके प्रति, आत्माके सहज

भावके प्रति जिनकी धुन नहीं बनती उनपर क्या विपत्ति छायी हुई है कर्मोदयकी कि जिससे वह बेहोशीमें पड़ा हुआ है। बेहोशीको त्यागना है और अपने सहज स्वरूपका दर्शन करना है। इस लोकमें सम्यक्त्वके समान अन्य कुछ भी उपकार करने वाला नहीं है। देखिये—सम्यग्दर्शन जगने पर यदि संसारमें कुछ समय रहना भी पड़े तो भी इन्द्र, अहिमिन्द्र, बलभद्र, तीर्थंकर जैसी विशाल विभूतियां प्राप्त होंगी और फिर निकट कालमें ही मुक्ति भी प्राप्त होगी। खूब ध्यानमें लायें कि मेरा सम्यक्त्व यह ही मेरे लिए देव है, शरण है, मेरा सर्वस्व है। यह यदि है तो मेरेको कोई आकुलता नहीं है और मेरा आत्मा ही मेरी निगाहमें न रहा, बाहरी पदार्थ ही मेरे लिए सब कुछ कहलाये तो वहां आकुलता है, कर्मबन्धन है, संसारमें रुलना है। तो जानों कि सम्यक्त्वके समान इस जीवका श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्वके समान इस जीवका बुरा करने वाला जगतमें अन्य कुछ नहीं है।

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ् नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ ३५॥

सम्यग्दृष्टिका दुर्भवोंमें अनुत्पाद—जो जीव सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुआ है, सम्यग्दृष्टि है वह पुरुष मरण करके कहां कहां जन्म धारण नहीं कर सकता, उसका वर्णन इस आर्याछन्दमें कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव नरकमें जन्म नहीं लेता, केवल एक अपवाद है कि जिसके क्षायिक सम्यक्त्व हो और उससे पहले नरकायुका बंध किया वह सम्यक्त्वमें मरकर प्रथम नरक तक जा सकता है। तो इस अपवादको छहढालामें स्पष्ट किया है। प्रथम नरक बिना षट्भू, पहले नरकको छोड़कर शेष ६ पृथ्वियोंमें सम्यग्दृष्टि पुरुषका जन्म नहीं होता। किसीको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है और पहले नरकायुका बंध कर लिया तो उसके मरण समयमें क्षयोपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जायगा और वह तीसरे नरक तक जन्म ले सकता है। पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवका सम्यक्त्व छूटता ही नहीं, मरण भी सम्यक्त्वमें होगा और उसका पहले नरकसे नीचे गमन नहीं हो सकता। वहां जन्म नहीं होता। तो सम्यग्दृष्टि जीवका नरकमें जन्म नहीं होता, तिर्यञ्चमें भी जन्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण करके तिर्यञ्चका कोई भी भव धारण नहीं कर पाते। अगर कोई तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि है तो वह भी मरण करके तिर्यञ्चमें जन्म न लेगा। सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसक और स्त्री पर्यायमें जन्म नहीं लेता। भले ही कोई नुपंसक अपने जीवनमें सम्यक्त्व प्राप्त करले, भले ही कोई स्त्री अपने जीवनमें सम्यक्त्व प्राप्त करले पर सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर उन भवोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव खोटे कुलमें, खोटे अङ्ग वाले अर्थात् लंगड़े, लूले, बहिरे जैसे अङ्गों वाले क्षुद्र आयुमें उत्पन्न नहीं होता। उसके दरिद्रता भी नहीं होती।

सम्यग्दृष्टिके दरिद्रताकी अप्राप्ति—जिसके सम्यग्दर्शन हो, सम्यक्त्वमें मरण हो तो आगे भवमें जब उत्पन्न होगा तो सम्पन्न घरमें उत्पन्न होगा, और कोई दरिद्र घरमें हो, वहां सम्यग्दर्शन हो जाय तो दरिद्रता वहां नहीं रहती। दरिद्रता कहते किसे हैं, और धनवान होना कहते किसे हैं? आप उसकी कोई सीमा रख सकते हैं क्या? बताओ कितना धन हो तो धनिक कहलाये? सारे विश्वके धनिक लोग एक गोष्ठी करके यह निर्णय तो दे दें कि कितना धन हो जाये तो धनिक कहलाये। तो धनिक कहलानेकी

कोई सीमा नहीं होती। एक हजारपति लखपतिके आगे अपनेको निर्धन अनुभव करता, लखपति कसेड़पतिके आगे अपनेको निर्धन अनुभव करता · · ; यों अपनेसे अधिक धनिकोंके आगे लोग अपनेको गरीब अनुभव करते हैं। यह धन वैभव कितना ही हो जाय पर इससे अपना बड़प्पन न मानिये। सबसे बड़ा धन तो है संतोष धन। चाहे कैसी ही स्थिति हो, यदि संतोष धन है तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं है। क्या साधारण स्थिति वाले लोगोंका गुजारा नहीं होता? क्या वे नहीं खाते पीते पहिनते ओढ़ते? अरे उनका भी सब गुजारा चल रहा है। साधारण रोटी कपड़ेके गुजारेके लिए कोई अधिक परिश्रम करनेकी जरूरत नहीं। अधिक परिश्रम करके धनका संचय तो लोग इस पर्यायबुद्धिके कारण करते हैं। मैं दुनिया में बड़ा कहलाऊं, सेठ साहूकार कहलाऊ · · ; सेठका अर्थ है श्रेष्ठ पर रूढ़ि हो गई सेठ शब्द बोलनेकी। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष जब अपना ही प्रकाश पाये हुए है, उसे किसी भी पर पदार्थके प्रति आशाका भाव नहीं रहा, फिर उसके लिए दरिद्रता क्या है? आत्मानुशासनमें बताया है कि निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हिजीवितम्। किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता। निर्धनताको जिसने धन समझा याने मुनि महाराज, परिग्रह ही कोई धन नहीं, उस निर्धनताको ही अपना धन समझ रहे, संतोष है ना उन्हें, मृत्यु ही जिनके लिए जीवन बन गया, आत्मस्वरूपको समझने वाले पुरुषको मृत्यु क्या चीज हैं? जैसे कहीं बैठे हुए किसी पुरुषसे कहा गया कि आप यहां बैठ जाइये, तो वहांसे उठकर वह वहां बैठ गया, बताओ इससे उस पुरुषका क्या घट गया? ऐसे ही यह आत्मा अभी इस मनुष्य भवमें है, इस शरीर में न रहा अन्य नये शरीर के स्थान में पहुँच गया तो इस आत्मा का क्या घट गया? कुछ भी नहीं घटा। ज्ञानी पुरुषके लिए मृत्यु मृत्यु नहीं है, वह तो उसके लिए नया जीवन है। तो ऐसे जीवका कर्म अब क्या कर लेंगे? कर्म अधिकसे अधिक दो खोटी बातें कर सकते थे कि निर्धन बना दें या मरण करा दें, पर जो मरणमें प्रसन्न हैं, निर्धनतामें प्रसन्न हैं उन पर कर्म अपना क्या प्रभाव बनायेंगे? तो ऐसी दरिद्रताकी बात कही जा रही है कि जो अपने स्वभावको देखकर परमात्मस्वरूपकी तरह मान रहा, ज्ञानानन्दसे सम्पन्न समझ रहा उसे कैसे दरिद्र कहा जा सकता? जिसको अपने ज्ञानानन्द सम्पन्न आत्माकी सुध नहीं वह करोड़पति हो तो भी दरिद्र है और जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी सुध है वह कैसी ही अवस्थामें हो तो भी सम्पन्न है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसी दुर्दशावोंमें जन्म नहीं लेता।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके संवृत ४१ प्रकृतियोंमें मिथ्यात्वप्रत्ययक १६ प्रकृतियोंका नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे व्रतरहित भी हो याने अविरत सम्यग्दृष्टि है उसके भी ४१ कर्म प्रकृतियोंका बंध नहीं होता। उन ४१ प्रकृतियोंमें कुछ तो है मिथ्यात्वके कारण बनने वाले और कुछ हैं अनन्तानुबंधी कषायके कारण बनने वाले। सम्यग्दृष्टि पुरुषके न मिथ्यात्वका उदय है न अनन्तानुबंधी कषायका उदय है, इस कारण इन प्रकृतियोंकी वजहसे बनने वाली कर्म प्रकृतियोंका सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता। वे प्रकृतियाँ कौन हैं जो मिथ्यात्व प्रकृतिके कारण बंधती हैं? मिथ्यात्व। मिथ्यात्व प्रकृतिका बंध मिथ्यात्वके उदयसे ही सम्भव है। जब मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता तो मिथ्यात्व प्रकृतिका बंध नहीं होता। इस सम्बन्धमें एक बात और समझ लीजिए कि जिस प्रकृतिका आगे उदय न आ सकेगा उसके बंधकी जरूरत क्या है? वे प्रकृतियाँ प्रायः नहीं बंधतीं। मिथ्यात्वके उदयमें ही हुंडक संस्थानका बंध होता है।

हुंडक संस्थान छठा संस्थान है। कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय पशु पक्षी इनमें हुंडक संस्थान ही तो पाया जाता है। इससे शरीरका आकार सुन्दर नहीं रहता, विडरूप रहता है। कैसा ही कितना फैला हो, कैसी शाखायें बन रहीं, कैसे लम्बे-लम्बे केंचुवे कैसा विडरूप आकार रहता है तो हुंडक संस्थानके उदयमें खोटा आकार रहता है। तो मिथ्यात्व प्रकृतिके न रहनेपर इसके हुंडक संस्थान नहीं रहता। नपुंसकवेद यह बहुत खोटा वेद है, इसमें बड़ा खोटा भाव होता है। नपुंसक वेद मिथ्यात्वके उदयमें होता है। मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व नहीं है इसलिए नपुंसक वेदका संवर है। उसके यह कर्मप्रकृति नहीं बंधती। असृपाटिका संहनन छठा संहनन है। यह हम आपके मौजूद है पंचमकालमें, और जो पशु पक्षी हैं उनके भी यह संहनन चल रहा है। यह संहनन बहुत दुर्बल संहनन है। थोड़ा सा भी झिटका लग जाय तो कहो शरीरकी हड्डी टूट जाय। वह मिथ्यात्वके उदयमें ही बंधता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वका उदय नहीं उनके ऐसा संहनन नहीं बनता। एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्मपना, अपर्याप्त, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इन साधारण, प्रकृतियोंका संवर सम्यग्दृष्टिके होता है। इससे यह भी जानें कि सम्यग्दृष्टि पुरुष इन जगहोंमें उत्पन्न नहीं होता। उदय ही न आयगा। तो ऐसे सम्यग्दृष्टिके एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक प्रकृतियोंा संवर चलता है। नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु आदिकका बंध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्व नहीं है सो इन प्रकृतियोंका संवर होता है। कर्म ८ बताये गए हैं और बिनतियोंमें लोग सुनते हैं, उन ८ कर्मोंके और भेद होनेसे १४८ कर्म प्रकृतियां हो जाती हैं। जीवके साथ ये प्रकृतियां बंधी रहती हैं। उनका उदय होता है और जीवको अनेक प्रकारकी वेदनायें होने लगती हैं। विकार हो जाते हैं। तो ये प्रकृतियाँ तो हम लोगोंके संसार संकटका कारण है, इनका क्षय हो तो मुक्ति मिले। तो इन कर्मोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, ऐसी माला जपनेसे या मंत्र आदिक बोलनेसे या इनकी चर्चा करनेसे कर्मोंका क्षय न होगा किन्तु आत्माका अविकार स्वभाव यह मैं हूं, चैतन्यमात्र हूं, मैं अन्य कुछ नहीं हूं, इस प्रकारकी अनुभूतिके बलसे कर्मोंका क्षय अपने आप होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टिके संवृत ४१ प्रकृतियोंमें अनन्तानुबन्धीकषाय प्रत्ययक २५ प्रकृतियोंका नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त १६ प्रकृतियोंका संवर है और अनन्तानुबंधी कषायके कारण जिन प्रकृतियोंका बंध होता है उनका भी संवर है। वे प्रकृतियों कौन हैं? तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जहां अनन्तानुबंधी कषाय न रही ज्ञानी पुरुषके उसके यह कषाय क्यों बंधेगी? स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला ये तीन नींदकी खोटी प्रकृतियाँ हैं। नींद आनेपर भी नींद आती रहे, इसकी प्रकृतिसे बहुत तेज नींद आये वह निद्रा निद्रा है। नींदमें ही लार बहे, अनेक प्रकारकी जहां अङ्गकी चेष्टायें होती रहे यह प्रचला प्रचला है। सोते हुएमें कोई बड़ा काम कर आये, काम करके फिर सो गए और जगनेपर उसका कुछ ख्याल ही न रहे। जो किया सोतेमें किया, जगनेपर उस किए हुएका कुछ पता ही न रहे, यह स्त्यानगृद्धि है। बचपनमें हमारे एक साथीने बताया था—जब हम सागर विद्यालयमें पढ़ते थे तबकी बात है तो उस साथीने मेरेसे बताया कि आज रात्रिको तुम १२ बजेके करीब उठकर मंदिरके द्वार तक जाकर मंदिरके किवाड़ खटखटा रहे थे। पूछा कि रात्रिमें तुम क्यों गए थे? तो मैंने कहा—कहां मैं गया था, मुझे तो कुछ नहीं मालूम। तो ऐसी स्थिति बन जाती

है स्त्यानगृद्धिमें। ये नींदकी तीन खोटी प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होतीं। इनका संबर होता है। और भी जो खोटी प्रकृतियां हैं—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामनसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीपना, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चआयु, उद्योत, इनका भी सम्यग्दृष्टि पुरुषके संवर होता है।

सम्यग्दृष्टिके कर्मप्रकृतियोंके संवरके अनुसार फलित अर्थका प्रकाश—सम्यग्दृष्टि पुरुष केवल वज्रवृषभनाराचसंहनका बंध कर सकता है। इस प्रकृतिके उदयमें शरीरका आकार बड़ा सुन्दर होता है, जैसा कि तीर्थंकर महाराजका शरीर बताया, जिसकी हड्डी बज्र जैसी मजबूत होती हैं, इस संहननसे मोक्ष होता है, अन्य संहनन वाले पुरुषका मोक्ष नहीं होता, कारण यह है कि इतना ऊंचा ध्यान अन्य संहननमें नहीं बनता जिससे आत्मा आत्मामें ही मग्न हो सके। इसके अतिरिक्त अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीच गोत्र, इन प्रकृतियोंका बंध सम्यग्दृष्टिके नहीं है और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु इनका भी बंध नहीं है। इसीसे ही यह बात जानी जा सकती कि जब सम्यग्दृष्टिके इन प्रकृतियोंका बंध नहीं है, पहलेसे ही रुक गया तो तिर्यञ्चायुमें जानेका सवाल क्या? सो ही बात बतायी गई थी। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरकमें नहीं जाता। यदि कोई ऐसी स्थिति हो कि उस जीवने पहले नरकायु बांधा, बादमें क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो वह पहले नरकमें जा सकता, उससे नीचे नहीं, इसी प्रकार यदि किसी जीवने तिर्यञ्चायु, खोटी भी आयु बांधी पर सम्यग्दर्शन होने पर, क्षायिक सम्यक्त्व होने पर वह तिर्यञ्चमें तो जायगा मगर भोगभूमिया तिर्यञ्चमें उत्पन्न होगा, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वमें मरकर कर्मभूमिया मनुष्य नहीं बनता। जैसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वमें मरकर विदेह क्षेत्रमें भी नही जा सकता। हां जितने जीव विदेह क्षेत्रमें जायेंगे ज्ञानी पुरुष, उनके मरणकालमें सम्यक्त्व न रहेगा। वहां जाकर ८ वर्ष बाद सम्यक्त्व हो जाय यह उनकी योग्यताकी बात है। हां तो किसी कर्मभूमिया सम्यग्दृष्टि मनुष्यने पहले मनुष्यायु बांध ली, बादमें क्षायिक सम्यक्त्व हुआ तो वह भोगभूमिया मनुष्य होगा। क्षायिक सम्यक्त्व क्षयोपशम सम्यक्त्वके बाद ही होता है। इन सब प्रकरणोंसे यह जानना कि सम्यग्दर्शन होनेपर फिर दुर्दशा नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उदात्तता—वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने इस शरीरसे निराले अपने आपके आत्मामें उस सहज चैतन्यस्वभावका अनुभव किया है। मैं यह हूं, जिसको सम्यक्त्व हो जाता है वह इस शरीरके मान और अपमानके विकल्प नहीं करता। वह तो योग्य बात ही करेगा। अयोग्य बात कभी न करेगा। अयोग्य कार्य करनेमें तो अपमान होता ही है। अज्ञानी जीव ज्ञानी जीवको प्रायः भली निगाहसे नहीं देख सकते क्योंकि अज्ञानीकी प्रकृति है अज्ञानमें रमनेकी। तो अज्ञानमें रमने वाले योग उस अज्ञानीके नित्य हुआ करते हैं, इसलिए अज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें ज्ञानी पुरुष घृणाके योग्य होते है। और कहने भी लगते हैं कि ये लोग तो बेकार हैं, इनसे देशको क्या लाभ है? यदि ये खुद कमाने लगते तो देशका कुछ अंश तो ठीक होता ··· इस तरह बोलने लगते। तो अज्ञानीजन ज्ञानीजनोंका कभी सम्मान नहीं कर सकते, संसारमें अज्ञानियोंका समुदाय विशेष है, ज्ञानी तो बिरले ही होते हैं। तो

अज्ञानीजनोंके द्वारा किया गया अपमान ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पर कुछ प्रभाव नहीं उत्पन्न करता। वह तो अपने ज्ञानकी ही धुनमें रहा करता है। इसी तरह अज्ञानीजन या कोई भी पुरुष ज्ञानीका सम्मान भी करें तो समझो कि ज्ञानीने अपने धर्मका सम्मान किया है, किसी व्यक्तिका नहीं। और जिसका सम्मान होता वह सम्यग्दृष्टि जीव उससे प्रभावित नहीं होता। अपने देहके मान अपमानका ज्ञानी जीवको कोई असर नहीं होता। वह अपनी ही योग्य साधनामें रहा करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे क्रोध सहित हो तो भी दुर्दशाको प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानीकी अन्तः निरापदता—देखिये कर्मबंध ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके प्रायः पुण्य प्रकृतिका होता है। भले ही पूर्व पापके उदयसे ज्ञानी पुरुषको कोई उपसर्ग सहना पड़े पर चूंकि पाप प्रकृतिका बंध नहीं हो सकता इसलिए उसके अगले भवमें किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं आ सकती। और जो आज वर्तमानमें विपत्ति आयी हो, जैसे सुकुमाल सुकौशल आदिकको गीदड़ीने चीथा तो भी उनके पूर्वकृत पापकर्मका उदय है। ज्ञानका दोष नहीं है, और ज्ञानके कारण उपसर्ग समय भी वे अपने आपके स्वरूपमें मग्न रहे। तो इस जगतमें सम्यग्दर्शनसे बढ़कर अन्य कुछ वैभव नहीं है। एक निर्णय हो जाय जिसका कि मेरा जीवन धर्मके लिए है, धर्मके लिए ही मेरा सर्वस्व है ऐसा जिसका निर्णय हो जाय उस पुरुषके पुण्य प्रकृतियोंका ही बंध होगा, पापप्रकृतियोंका बंध न चलेगा। यद्यपि जब तक संसारमें हैं तब तक पुण्यके साथ पाप भी चलते हैं मगर मुख्यतया उसके पुण्यका ही आश्रव होता है। जो भीतरमें मोक्षमार्गमें बढ़ रहा है उसके शुद्ध ज्ञान ध्यान बन रहा है। तो सम्यग्दर्शनकी अपूर्व महिमा है। एक इस भवमें जिस किसी भी उपायसे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो समझो कि मैंने कुछ कमायीकी और भविष्यमें मैं सब संकटोंसे बच गया।

ओजस्ते जो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥ ३६॥

सम्यक्त्वसे पवित्र जीवोंके मानवतिलकताकी उद्भूति—जो आत्मा सम्यग्दर्शनसे पवित्र हो चुका है वह मनुष्यभवमें उत्पन्न हो तो कैसे प्रताप वाला होता है इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है। वह पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। महान पदवीके धारक जितने पुरुष हुए हैं वे सम्यक्त्वके प्रतापसे हुए। तीर्थंकर, इन्द्र, बलभद्र, तीर्थंकर आदि ये सब सम्यक्त्वके प्रतापसे हुए, और यहां तक कि नारायण भी चाहे नारायणके भवमें सम्यक्त्व न रहा और मिथ्याभावके कारण उनपर घटनायें घटीं और कुछ घटेंगी, लेकिन पूर्वभवमें सम्यग्दर्शन था और उस सम्यक्त्वके प्रतापसे स्वर्गमें उनका जन्म हुआ था और वे स्वर्गसे आकर नारायण हुए हैं। तीर्थंकर तो नरकसे भी आकर तीर्थंकर बन जायें, पर नारायण नरकसे आकर नहीं बनता। नारायण, स्वर्गसे आकर ही नारायण बनता है तब ही तो देखो नारायणकी कितनी महिमा लोकमें गायी जा रही है। वह आत्मा पहले सम्यग्दृष्टि था, पर नारायणके समय राज्य वैभवमें मस्त होकर एक भाव ऐसा बनाया कि वे तत्काल निर्वाणको न प्राप्त हुए, पर निकटकालमें ही वे निर्वाणको प्राप्त होंगे। तो ऐसी बड़ी बड़ी पदवियां सम्यक्त्वके प्रतापसे मिला करती हैं। ऐसे मनुष्य

जिनका पराक्रम अद्भुत हो, जिनका प्रताप अद्भुत हो ऐसे मनुष्यभवमें जन्म लेना यह सम्यग्दर्शनसे पवित्र पुरुषोंका कार्य है। जिनमें अतिशय विद्या है, अतिशय सुन्दरता है, उज्ज्वल यश है, वैभव आदिककी वृद्धि है, गुणोंमें वृद्धि है ऐसे बालक जब उत्पन्न होते हैं वे सब सम्यग्दृष्टि जीव थे पहले और उन्होंने धर्मकी आराधना की। उनके साथ शेष रहे रागके कारण जो पुण्यबंध हुआ उसका प्रताप है।

बड़प्पनका आधार समीचीन भाव—लोग चाहते हैं कि मैं बहुत बड़ा बनूं, मगर बहुत बड़ा बनना कोई संक्लेश करनेसे होगा क्या? अधीरतासे होगा क्या? बड़ा बनना यह शुभ और शुद्ध भावोंके प्रतापसे होगा। जीव भाव ही कर सकता है, और कुछ कार्य नहीं कर सकता। बाकी जो कार्य होते हैं वे सब ओटोमेटिक याने निमित्त नैमित्तिक योग पूर्वक होते हैं, परजीवकी करतूत है तो केवल अपने भाव करना। जब भाव ही जीव करता है तो अपने आपमें सोचिये कि अशुद्ध खोटे भाव करनेसे क्या लाभ है? उसका फल बुरा है। पापका बंध है, भविष्य अच्छा नहीं। इसलिए शुभ भाव ही करें। सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखिये। धर्मके प्रसारणके लिए अपनी उमंग रखिये—तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो, ऐसा अपने आपका प्रयत्न करें, जगतके जीवोंको तत्त्वज्ञान बने, उसका उपाय बनाइये। ऐसे शुभ और शुद्धभाव होते रहें तो आपका यह जीवन भी आनन्दमें गुजरेगा, पर कर्मका उदय विचित्र है। पापकर्मके उदयसे ही तो जीवकी दुर्गति होती है, दुःख होता है और जीव उन दुःखोंमें व्याकुल रहता है। ऐसे व्याकुल हृदयमें अच्छी बात समाना यह बहुत बड़े ज्ञानका ही प्रताप हो सकता है। अन्यथा दुर्दशामें उसके दुर्भाव ही हुआ करता है। प्रायः ऐसा ही अनादिसे चला आया, पर ज्ञानबल यदि हो तो पूर्व पापके उदयसे चाहे दुर्दशा हो, पर सही भाव आज हो तो आगे दुर्दशा न होगी। जब हम आप केवल भाव कर सकते हैं तो फिर ये खोटी भावनायें न बनायें, उत्तम भावनायें ही बनायें, उसके फलमें सारा भविष्य अच्छा जायगा। खुद ही खुदके कर्ता हैं, खुद ही खुदके भोक्ता हैं। कोई किसी दूसरेका मददगार नहीं। तो अपना भविष्य उज्ज्वल बने इसका उपाय यह है कि हम अपने भाव शुद्ध रखें। सब जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना रहे। गुणीजनोंको देखकर हर्ष जग जावे, विपरीत चेष्टा वालोंमें माध्यस्थभाव हो, दुःखी जीवोंको देखकर दयाका भाव उमड़े, ऐसी वृत्ति यदि आपकी है, तो आप अपने पर दया कर रहे हैं, और यदि अशुभ परिणाम है, क्रूर परिणाम है, धर्मके विपरीत परिणाम चल रहे हैं तो यह अपने आपकी आप हिंसा कर रहे हैं, जिसका फल भविष्यमें खोटा ही भोगना पड़ेगा। जो जीव सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं वे सर्वत्र पूज्य हैं। वे वैभवसे युक्त होते हैं, महान्, पूज्यविशिष्ट कुलमें उनका जन्म होता है। वे चार पुरुषार्थोंके स्वामी होते हैं जिनके सम्यग्दर्शन हुआ है। जब कभी गृहस्थ दसों कामोंमें एक कामको अधिक लाभदायक समझता है तो बाकी उन ९ कामोंको गौणकर लाभदायक काममें ही अपना पूरा समय देता है। अब आप जरा अपने लाभदायक कार्योंमें समझो कौनसा कार्य लाभदायक है? क्या परिजनोंके पीछे मोही बने रहना लाभदायक है आपके आत्माके लिए? क्या धन वैभव आदिकमें तृष्णा करना लाभदायक है? क्या दुनियामें इसभवके देहकी इज्जत बना देना, यश प्रतिष्ठा पा लेना, यह लाभदायक है आत्माके लिए? अरे ये कोई आत्माके लिए लाभदायक नहीं, आत्माके लाभका साधन केवल अपना सहजस्वरूप है। मैं हूं। जब मैं हूं तो स्वयं ही पूरा हूं। कोई

भी है। कोई भी अस्तित्व अधूरा नहीं रहता। मैं हूं परिपूर्ण हूं जो मुझमें असाधारण गुण हैं उन गुणोंमें तन्मय हूं। मैं अमर हूं, मेरा कहीं विनाश नहीं है।

जगवैभवकी भवकी अविश्वास्यता अरम्यता—मैं आज यहां हूं, कलको न रहा यहां, किसी दूसरे भवमें चला गया तो मैं आत्मा तो वही हूं। इसको तो एक सराय जानें, एक धर्मशाला मानें। यहां अपना कुछ नहीं है। एक सन्यासी किसी नगरमें एक गलीसे जा रहा था। रास्ते उसे एक बड़ी हवेली दिखी। उस हवेलीके द्वार पर एक पहरेदार खड़ा था। तो सन्यासीने उस पहरेदारसे पूछा भाई मैं यह जानना चाहता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है। तो पहरेदार बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है, धर्मशाला तो इस गलीमें थोड़ी दूरी चलकर आगे है। यह तो अमुक सेठकी हवेली है। तो फिर सन्यासी बोला—भाई मैं तो यह पूछता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है। तो पहरेदार उसके मनकी बात ठीक-ठीक न समझ सका सो फिर वही उत्तर दिया। इतनेमें ऊपरसे देखा उस मकान मालिकने, वह सन्यासीको देखकर नीचे आया और पूछा—महाराज आप क्या पूछ रहे हो? तो सन्यासी बोला—मैं यह जानना चाहता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है? तो सेठ बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है। धर्मशाला आगे है, यह तो आपकी हवेली है। हां यदि आप ठहरना चाहते हों तो इस हवेलीमें ठहर जाइये। तो सन्यासी बोला—भाई हमें ठहरना नहीं है। हम तो जानना भर चाहते है कि यह धर्मशाला किसकी है। तो सेठने फिर वही बात कही। आखिर सन्यासीने पूछा—बताओ इसको किसने बनवाया था? ··· मेरे बाबाने। ··· वह इसमें कितने वर्ष तक रहें? ··· महाराज वह तो पूरी बनवा भी न सके थे तभी मर गए थे। ··· फिर पूरी किसने बनवाया? ··· हमारे पिताजी ने। ··· वह इसमें कितने वर्ष रहे? ··· महाराज वह तो कुल ३ वर्ष रहे। ··· और आप इसमें कितने वर्ष रहेंगे? तो वहां वह सेठ निरुत्तर रह गया और ज्ञान जग गया कि सचमुच यह धर्मशाला है। सन्यासीजीने ठीक ही बताया। बल्कि धर्मशालामें तो ऐसा भी हो सकता कि यदि कोई १०-५ दिन ठहरना चाहे धर्मशालामें तो मंत्री या अध्यक्षसे मिन्नत करके और भी ठहर सकता है, पर यहां कोई कितनी ही मिन्नत करे एक दिन भी ठहरनेको नहीं मिल सकता। मरण हुए बाद इसमें कोई एक मिनट भी नहीं ठहर सकता। तो यह सारा जगत रमने योग्य नहीं, विश्वास किए जाने योग्य नहीं।

सहजपरमात्मतत्त्वकी विश्वास्यता—भैया! विश्वास कीजिए अपने आत्मामें बसे हुए परमात्मस्वरूप पर। वह मैं अमर हूं, अविकार हूं, वहां कोई कष्ट नहीं, मेरा स्वभाव ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है। मुझे अब जगतमें करनेको कुछ नहीं रहा। मैं अपने स्वरूपको ही निरखूं और इस ही में यहमैं उस ही की भावना कर करके निर्विकल्प होऊं। बस यह ही एक कर्त्तव्य शेष रह गया, बाकी तो इस अनन्त कालमें न जाने क्या-क्या उद्दण्डतायें बनाया, कितने ही अपने अधिकार बनाया, सब कार्य कर डाला, पर यह ही एक काम शेष रह गया कि मैं अपने आपको जानूं, अपने आपको मानूं और इस ही स्वरूपमें मग्न हो जाऊं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका धारण बस यह ही काम नहीं कर पाया जीवने, बाकी तो प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त बार जन्मले चुके, कितने कितने परिवर्तन कर चुके, जो आज भोगते हैं वे अनेक बार भोगे जा चुके, ये सबके सब जूठे ही भोगे जा रहे हैं। सब काम अनेक बार हुए मगर

सम्यग्दर्शनका लाभ इस जीवको नहीं हुआ। तो एक जरा चित्तको स्वच्छ और स्थिर करके एक ही धुन बनालें कि अन्य कार्य जैसे हों सो हों पर मुझको तो अपने स्वरूपका अनुभव करके ही रहना है। उसके लिए चाहे कितना ही उत्सर्ग करना पड़े पर मैं अपने स्वरूपको जानूंगा और उसी स्वरूपमें रमूंगा। यह ही एकमात्र मेरा काम है।

अष्टगुणपुष्टि तुष्टाः दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरंरमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥ ३७॥

जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीवोंका देवभवमें ऐश्वर्य—जिनेन्द्रके भक्त सम्यग्दृष्टि जब स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं और ऐसे जिनेन्द्र भक्त जीव देवांगनाओंकी परिषदमें चिरकाल तक रमण करते हैं। यद्यपि यह कोई सम्यक्त्वका खास गुण नहीं है, प्रभाव नहीं है कि सांसारिक सुख मिले, मगर सम्यक्त्वके होते सन्ते जो अवशिष्ट रागादिक भाव रहते हैं उनका प्रभाव है यह। यों समझिये कि जैसे किसी बड़े मिनिस्टर या आफीसरके साथ कोई क्लर्क हो तो उस क्लर्कका भी बड़ा महत्त्व है और लोग उससे भी मिलनेका प्रयत्न करते हैं और उसके द्वारा वे कुछ अपना काम सिद्ध करना चाहते हैं, अथवा जैसे बड़े जजका क्लर्क। तो जैसे बड़े नेताओंके साथ, राज्याधिकारियोंके साथ रहने वाले सेवकका भी इतना प्रभाव होता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनके साथ रहने वाले पुण्यभावका भी बड़ा प्रभाव है। यद्यपि पुण्यबंध मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है पर मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य निरतिशय होता है और सम्यग्दृष्टियोंका पुण्य सातिशय होता है। जैन शासनमें हम आप लोग अपना जीवन बिता रहे हैं। तो इतनी दृढ़ता और निश्चितता तो होनी चाहिए कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभके लिए है और यथोचित चारित्रपालनके लिए है। बाकी सारे दंदफंद सब मेरे लिए बेकार हैं। उनसे मेरे आत्माकी कुछ सिद्धि नहीं होती। व्यर्थके विकल्प होते, अन्य जीवोंपर आसक्ति, व्यामोह ये सब थोथे ऊल जलूल तथा अटपट चेष्टायें हैं। यह ही तो एक पौरुष करना है कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभके लिए रहे। मोही जीवोंको अपने परिजन ही सर्वस्व दिखते हैं, धर्म या धर्मात्माजनोंके प्रति उनको अनुराग नहीं जगता, पर जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके धर्म और धर्मात्मावोंपर अनुराग होता है, परिजनोंपर उनके अन्तः अनुराग नहीं होता, केवल एक गुजारेका साधन होनेसे परिजनोंसे उस प्रकारकी प्रीतिभर है। ऐसी जिनेन्द्रभक्त ज्ञानी जीवकी वृत्ति होती है।

ज्ञानी देवोंकी अणिमा ऋद्धि—ज्ञानी जीव ८ गुणोंकी पुष्टिसे पुष्ट रहते हैं। देवोंमें ८ गुण ऋद्धि वाले उनके जन्मतः होते हैं। (१) पहिला गुण है अणिमा, विक्रियासे अपने शरीरको कितना ही छोटा बनालें। छोटा बनाकर भी उनका वजन थोड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। छोटा भी शरीर हो और बड़ा वजन हो जाय यह तो देवोंमें एक नैसर्गिक ऋद्धि है। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमार जो कि कितने ही वर्ष बाद अपने घर आये, उनको जन्मसे ही कोई देवता हर ले गया था और प्रद्युम्न दूसरे राजाके यहां रहे, वहां अनेक विद्यायें प्राप्त कीं। जब वे अपने घर आये तो बड़े पुरुष यों ही सीधे सादे अपने घर आ जायें यह बात तो उनसे नहीं बनती, उनका कोई ढंग होना चाहिए। तो उन्होंने अपनी विद्याका प्रताप

फैलाना शुरु किया, और जब वे राजद्वारके निकट पहुंचे तो अपना एक बहुत बड़ा शरीर धारण करके लेट गए। उनको उठाने के लिए बड़े बड़े बलवान आये पर कोई उठा न सके। बादमें छोटा शरीर बनाकर लेट गए फिर भी कोई लोग उसे उठा न सके। उस समय उनका बड़ा यश फैला और यह तथ्य प्रकट हुआ कि यह प्रद्युम्नकुमार हैं। इसका एक बड़ा कथानक है। जब मनुष्योंमें ऐसी बात देखनेको मिलती तब फिर देवताओंकी तो बात ही क्या है? उनमें तो ऋद्धियां स्वभावतः होती हैं। देखिये आज हम आप मनुष्य हैं। देवताओंकी बात सुनकर चित्तमें यह बात आती है कि मेरा भी जन्म देवगतिमें हो। जहां हजारों वर्ष तक भूख नहीं लगती और कभी भूख लगे तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है। उनका है वैक्रियक शरीर, हम आप लोगोंका है औदारिक शरीर। कभी हम आप भी विश्रामसे बैठे हों तो थूकका गुटका कंठमें उतर जाता है, उस समय बड़ा आनन्द मालूम होता है। उन देवोंके हजारों वर्ष बाद कंठसे अमृत झड़ जाता, जिसकी जितनी आयु है उस अनुरूप सीमायें हैं, कदंसे अमृत झड़ जाता है और उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है। वैक्रियक शरीर होनेसे रोगका भी काम नहीं, पसीनेका भी काम नहीं, ऐसा सुनकर आता होगा चित्तमें कि ऐसा ही देह मुझे मिले तो अच्छा है, लेकिन जिसको जो देह मिला है उस कालमें उसके लिए वह न कुछकी तरह रहता है। और मिले हुएको लोग कुछ अधिक संतोषप्रद महत्त्व नहीं देते। जैसे यहां जिसको जितना धन मिला है उसके चित्तमें यही बात रहती है कि मेरेको तो बहुत कम धन मिला है। ऐसा कोई नहीं मिलता जो यह मानता हो कि मेरे पास तो आवश्यकतासे अधिक धन है। ऐसे ही उन देवोंको भी वैक्रियक शरीर मिला है, देवांगनायें मिली हैं, ८ प्रकारकी ऋद्धियां मिली हैं फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता। और लाभ कषाय तो देवोंके मनुष्योंसे अधिक बतायी गई है। तो जहां लोभ और तृष्णा आ गई वहां सुख सब खतम हो जाता है। हम लोग ऐसा सोचते हैं कि देवताओंको बड़ा सुख होता होगा मगर देवता लोग तृष्णावश दूसरोंकी ऋद्धियोंको देखकर अपनेमें कम जानकर भीतर दाहअग्निसे जलते रहते हैं। खैर यह तो है एक मोक्षमार्गकी दृष्टिसे बात मगर लौकिक प्रसंगोंमें स्वर्गमें उत्पन्न होना और ऐसी बड़ी ऋद्धि वाले देव होना एक बड़ी बात मानी गई है। यह पुण्यका फल बताया जा रहा है। वैसे जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे संतुष्ट रहते हैं। उनके संतोषका कारण है ज्ञानबल। तो उन देवोंकी पहली ऋद्धि है अणिमा। अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बना देना।

ज्ञानी देवोंकी महिमा ऋद्धि—कैसा वह वैक्रियक शरीर है कि वह आपको आंखों दिख भी सकता और नहीं भी दिख सकता। शरीर देखनेमें बड़ा हो पर कहीं भींटके छोटे छिद्रमेंसे निकल जाय। यों न जाने क्या क्या उनकी ऋद्धियाँ हैं। यही तो सम्पन्नता है। तो वैक्रियक देव अपनी अणिमा ऋद्धिके कारण अपनेमें एक सुखका अनुभव करते हैं। जिसमें कलायें अधिक होतीं वह अपनी कलावोंसे शान्ति और सुख तो अनुभवता ही है। देवताओंमें एक महिमा ऋद्धि है बड़प्पन, बड़ा देह बना लेना। कहीं इतना बड़ा देह बनालें कि आपकी निगाह पूरे देहमें न पहुंच सके। कहीं आपको आंखें घुमानी पड़ें या गर्दन घुमानी पड़े। इतना बड़ा तो आकार हो शरीरका फिर भी कहीं दिखाई न पड़े। तो ये कलायें हैं ना, ये सब बातें बड़े पुण्य प्रतापसे प्राप्त होती हैं। भले ही सम्यग्दृष्टि जीव उन कलावोंका आदर नहीं

रखते, ये तो सांसारिक बातें हैं। इनसे आत्माका उद्धार नहीं है, मगर है तो पुण्यका फल। सम्यग्दृष्टि जीव कभी दुःखी नहीं रह सकता। चाहे किसी भी स्थितिमें हो, स्वर्गोंमें हो तो वहां भी उसको क्षोभ अधिक नहीं है। भला आप थोड़ा विचार तो कीजिए, यहां जो बड़े आचार्य हो गए—कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, धरसेनाचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि, अकलंक देव आदिक बड़े बड़े दिग्गज आचार्य हुए, जिन्होंने बड़े-बड़े राजपाट ऐश आराम छोड़ा, विरक्त हुए, मुनि हुए उनके उपकारका बदला हम आप नहीं चुका सकते। हमारे पास कोई ऐसी कला नहीं कि हम उनके उपकारका बदला चुका सकें, जिन्होंने जिनवाणीका इतना उद्धार किया, युक्ति और आम्नायके अनुसार जिन्होंने वह तत्त्व दिखाया जिससे स्वपरका भेदविज्ञान जगे, मोह दूर हो, अपने आपके स्वरूपकी सुध मिले, उनके उपकारका बदला कोई किसी प्रकार चुका सकता है क्या? यदि उनके उपकारको कोई न माने तो वह तो एक बड़ा पाप करता है, कृतघ्न है संसारमें रुलने वाला है। हम अपने पूर्वाचार्योंका किसी भी उपायसे बदला नहीं चुका सकते। हां तो वे ऋषीजन जो कि इतना विरक्त थे और ज्ञानध्यानमें जो इतना अधिक रत रहे वे इस समय हम आपके बीच नहीं हैं फिर भी अंदाज तो होता है कि वे इस समय स्वर्गमें होंगे। अब स्वर्गमें जाकर ८वें स्वर्गसे ऊपर तो जा नहीं सकते इस पंचम कालमें, इतना ऊंचा संहनन नहीं है कि इससे ऊपरके स्वर्गोंमें उत्पन्न हो सकें, तो वे उन स्वर्गोंमें अब क्या कर रहे होंगे, इसका अंदाज तो करो। अरे वे बड़ी बड़ी देवांगनाओंके बीच बैठकर बड़ा गान तान सुन रहे होंगे, बीच बीच अपना सिर भी हिला रहे होंगे, राग रागनीके अनेक प्रसंगोंके बीच रह रहे होंगे। आखिर अब वे खोटे भव तो धारण कर न सकेंगे, पशु पक्षी, या दीन दरिद्र भिखारी मनुष्य बनें ऐसी बातें तो अब नहीं बनती तो उनको कैसा भव मिला करता है? यह भव बताया जाता है कि मनुष्य हो तो मनुष्योंमें उत्तम, देवमें हो तो देवोंमें भी महान् ऋद्धि वाले देव बनेंगे।

ज्ञानीदेवोंकी लघिमा व गरिमा ऋद्धि—एक ऋद्धि है लघिमा। शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना। शरीर चाहे कितना ही बड़ा हो पर उसे कहीं कोई फूलकी तरह उठाकर अंगुलीपर धरले। जैसे यहां आप हाथ पैर हिलायें यह कुछ करनेमें आपको अधिक श्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही देवोंको इसमें कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती, भाव किये कि उसके अनुरूप विक्रिया हो गई। हर एककी विचित्र-विचित्र बातें हैं। गायकी पीठ पर मक्खी बैठ जाय तो गायको पूंछसे भी मक्खी भगानेकी जरूरत नहीं पड़ती, यो ही खाल हिल जाती है। हम आप लोग तो ऐसा न कर पायेंगे। सब जीवोंकी एक विचित्र-२ बात है। कर्मोदयसे स्वयं हो जाता है। देवताओंको अपने शरीरकी ऋद्धि विकसित करना हो तो उनको कोई चेष्टा नहीं करनी होती। इच्छा भरकी कि बस परिणमन भी वैसा ही चल उठा। यह ऋद्धि उन देवोंको प्राप्त है जिनकी धर्ममें रुचि है। एक ऋद्धि है गरिमा। कहो शरीरको अत्यन्त छोटा बना लें फिर भी इतना वजनदार कि उसे कोई योद्धा भी तिल भर न हटा सके। ऐसी ऋद्धि भी जिनेन्द्र देवके भक्तके प्रकट होती है।

ज्ञानी देवोंकी प्राप्ति और प्राकाम्य ऋद्धि—एक ऋद्धि है प्राप्ति। इसके फलमें चाहे कितनी ही दूर वस्तु हो पर वहीं बैठे-२ उस चीजकी प्राप्ति हो जाती है। एक ऋद्धि है प्राकाम्य, इसकी वजहसे

जैसा सुन्दर रूप चाहे वैसा बना लें। ऋद्धिके सम्बंधमें एक दृष्टांत आया है कि कोई एक सेठ था, वह विद्याधर था उसको यह ऋद्धि प्राप्त थी। उसने अष्टान्हिकाके दिनोंमें अपनी सेठानीसे कहा कि हम तो नन्दीश्वर द्वीपकी वंदना करने जायेंगे। तो सेठानीने कहा कि वहां तुम नहीं जा सकते। ··· क्यों? इसलिए कि मानुषोत्तर पर्वतसे आगे मनुष्योंकी गति नहीं है। ढाईद्वीप जिसे कहते, मानुषोत्तर पर्वतसे इधर ढाईद्वीप कहलाता, एक जम्बूद्वीप, उसे घेरकर लवण समुद्र, फिर उसे घेरकर धातकी खण्ड, उसे घेरकर कालोदधि इसे घेरकर पुष्करद्वीप इस द्वीपके ठीक बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है, उसके आगे मनुष्योंकी गति नहीं है। यह सब सेठानीने समझाया पर सेठने न माना। आखिर उसके पास विद्या तो थी ही, चल दिया अपने विमानमें बैठकर। जैसे ही मानुषोत्तर पर्वतकी सीमा आयी उसके विमानमें ऐसी गहरी टक्कर लगी कि उसका विमान उलट गया और सेठका वहीं देहान्त हो गया। चूंकि उस समय उसके शुभ भाव थे, जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें प्रेम था इसलिए वह मरकर देव हुआ, और अन्तर्मुहूर्तमें ही जवान बनकर अवधिज्ञानसे पूर्वभवकी सब बात विचारकर एकैदम उसका भाव हुआ कि नन्दीश्वर द्वीप वंदना करना चाहिए। अब देव होने पर तो वह जा ही सकता था। सो उसने नन्दीस्वर द्वीपकी वंदना किया और वंदना करनेके बाद उसके मनमें एक कौतूहल आया कि मैं अपने पूर्वभवकी सेठानीसे जाकर बता दूं कि मैं नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना करके आ गया। सो वह झट उस सेठका रूप रखकर सेठानीके पास पहुंचा। (देखिये यह सब काम कोई डेढ़ घंटेके अन्दर ही हो गया) हां तो सेठानीने उसे सेठ ही समझा पर जब वह बोला कि हम आ गए नन्दीश्वर द्वीपकी वंदना करके तो वहां सेठानीने उत्तर दिया कि आप झूठ कहते। यदि आप मनुष्य हैं तब तो आपकी नन्दीश्वर जानेकी बात झूठ है और यदि आपकी बात सच है तो आप मनुष्य नहीं हैं। आप तो देव हैं। तो वहां उस सेठने अपना असलीरूप प्रकट किया और सारा हाल बताया कि मैं मानुषोत्तरपर्वतमें विमान टकरा जानेसे मर गया, मरकर देव हुआ तब नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना कर सका। धन्य है तुम्हारे दृढ़ श्रद्धानको। तो बात यहां यह कह रहे थे कि प्राकाम्य ऋद्धिके प्रतापसे जैसा चाहे वैसा रूप रखले, यह तो देवताओंमें एक स्वाभाविक बात है। एक ऋद्धि होती है।

ज्ञानी देवोंकी ईशित्व व वशित्व ऋद्धि एवं महती विभूति—ईशित्वऋद्धि—इस ऋद्धिके प्रतापसे महान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। एक होती है वशित्वऋद्धि—इस ऋद्धिके प्रतापसे जिस चाहेको अपने वशमें कर लिया जाता है। इस वशित्वऋद्धिके कारण देव अपनी देवांगनाओंमें यथेष्ट रमण करते हैं। यह सब महिमा है सम्यग्दर्शनकी। वे देव सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट हैं, उनकी बड़ी उत्कृष्ट शोभा है, उनके इन्द्रतुल्य वैभव हैं। न भी इन्द्र हो सकें तो भी सामानिक, लोकपाल आदिक ये भी बड़े वैभव वाले देव कहलाते हैं। सामानिक देव ऐसे रहते जैसे यहां किसी बड़े परिवारका कोई बड़ा बुजुर्ग आदमी। हुक्म चलेगा सब इन्द्रका, इन्द्रपर किसीका हुक्म नहीं चलता। सामानिक देवोंमें इन्द्रका जैसा सारा वैभव पाया जाता है, पर सब पर उनका हुक्म नहीं चलता। इन्द्रादिकके वैभव ये सब बातें सामानिक देवोंमें पायी जाती हैं। केवल हुक्म नहीं रहता। इन्द्र बने, सामानिक बने, त्रायस्त्रिंश बने। शायद ये त्रायस्त्रिंश ३३ ही होते होंगे तभी इनका नाम त्रायस्त्रिंश पड़ा। कोरम भी देखो, ११ का बन

गया तिगुना, बाहरी प्राकृतिक घटना। त्रायस्त्रिंश वे धर्मक्रियावोंमें संविधान, मंत्रणा देनेमें कुशल, बड़ी ऋद्धिवाले देव हैं। लोकपाल भी बड़े वैभव वाले होते हैं, ये मनुष्यभव धारण करके मोक्ष जाते हैं, लोकपालकी इतनी महिमा है। लोकपालका अर्थ है—जैसे यहांका कोतवाल। लोकपालका बड़ा पवित्र भाव है पर यहांके कोतवालका भाव पवित्र होता या नहीं होता, आप लोग ज्यादह समझते होंगे। अरे लोकपाल तो नगरके पिताकी तरह होता है। कोतवालको नगरवासियोंके प्रति बड़ा पवित्रभाव रखना चाहिए। जैसे घरका कोई बुजुर्ग, बच्चोंका पिता बच्चोंपर बड़ा पवित्रभाव रखता है ऐसा ही भाव नगरके कोतवालको नगरवासियोंके प्रति रखना चाहिए। कोतवालको बड़ा न्यायप्रिय होना चाहिए, पर वह तो अन्याय करने पर भी उतारू रहता है। खैर मनुष्य चाहे कैसा ही करें पर देवोंमें जो लोकपाल देव होतेवे बड़े न्यायप्रिय होते। तो जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे ऐसे पुण्यवान होते कि जिनके समान ऋद्धि, वैभव, यश अन्य असंख्याते देवोंमें नहीं होता।

देवोंकी गणना व आयु—देखिये देवोंकी संख्या मनुष्य और नारकियोंसे भी अधिक है। तिर्यञ्चोंकी संख्याके बाद दूसरा नम्बर आता है देवोंका। देवोंकी बहुत अधिक संख्या है। अभी ये जो तारे दिखते हैं उनकी ही गिनती करना अशक्य है। ये तारे तो असंख्यात द्वीप समुद्रोंके ऊपर रह रहे हैं, एक-एक ताराके विमानमें अनेकों देवी देवता रहते हैं। यह तो एक ज्योतिषी देवोंकी बात है भवनवासी आदि फिर अन्य देव फिर वैमानिक देव। १६ स्वर्ग ९ ग्रेवेयक, ८ अनुदिश, ५ अनुत्तर यों देवोंकी संख्या बहुत अधिक है, वे बहुत बड़ी बड़ी ऋद्धि समृद्धि वाले हैं। ऐसे वैभव, ऋद्धि, आभरण इस जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीवको प्राप्त होते हैं। इनकी आयुसागरों पर्यन्तकी होती है। १० सागर २० सागर और सागर भी कितना? जिसकी हद हम नहीं मान पाते हैं, है जरूरहद जिसको बताया है कि मानलो कोई दो हजार कोशका लम्बा चौड़ा, गहरा गड्ढाहो। उसमें उत्तरकुरू भोग भूमिके बच्चे मेढ़ेके बारीक रोमके टुकड़े इतने छोटे छोटे उसमें ठसाठस भरे जायें कि जिनका दूसरा टुकड़ा कैंची आदिकसे न किया जा सके। फिर उन टुकड़ोंको प्रत्येक १०० वर्षमें एक टुकड़ा निकालें तो जितने कालमें वे सब रोमखण्ड निकल सकें उतने कालका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यातगुना होता है उद्धारपल्य, उससे अनगिनते गुणा होता है अद्धापल्य, और एक करोड़ अद्धापल्यका एक करोड़ अद्धापल्यमें गुणा करनेसे जितना आये उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे १०-२० आदि सागर पर्यन्तवे देव अपसराओंके परिषदमें यथेष्ट प्रसन्न रहता करते हैं। यह बतलाया जा रहा है एक पुण्यका फल, ऐसा पाकर क्या करना चाहिए, यह उन सम्यग्दृष्टि देवोंकी अलग बात है, पर जो मिला है वह पुण्यका फल है। ऐसा पुण्य जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त किया करते हैं।

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमियतयश्चक्रं।
वर्तयितुं प्रभवन्तिस्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥ ३८॥

सम्यग्दृष्टिके स्वर्गसे चयकर मनुष्यभवमें हुए चक्रीको प्राप्त नवनिधिमें कालनिधिका

निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीव सागरोंपर्यन्त स्वर्गमें सुख भोगकर वहांसे आयु पूर्ण करके मनुष्यलोकमें आते हैं तो उनमें कितने ही चक्रवर्ती बनते हैं, इस श्लोकमें चक्रवर्तीका संकेत किया गया। चक्रवर्ती ९ निधि और १४ रत्नके स्वामी होते हैं, ये सम्पूर्ण भरत क्षेत्रके राजा होते हैं। जो कि ६ खण्डमें विभक्त हैं, इनमें मुख्य चक्ररत्न उत्पन्न होते हैं और उस चक्र रत्नके स्वामी होनेसे इन्हें चक्रवर्ती कहते हैं। जम्बूद्वीपके दक्षिण किनारे भरत क्षेत्र है जो $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है। एक योजन २ हजार कोशका होता है, इतना विशाल क्षेत्र है जिसके बीचमें विजयार्द्ध पर्वत होनेसे छह खण्ड हो जाते हैं उन समस्त छह खण्डोंके ये अधिपति होते हैं। इनके ९ निधियां उत्पन्न होती हैं जिनके नाम और कार्य इस प्रकार हैं। (१) काल—इस काल निधिके द्वारा उनको अपने ऋतुके योग्य द्रव्य प्राप्त होते रहते हैं। जैसे यहां लोग एयर कंडीशन, कूलर, हीटर आदिक ऋतुवोंके अनुकूल रख लेते ऐसे ही जिन-जिन ऋतुवोंमें जो जो पदार्थ चाहिए उन ऋतुवोंके योग्य पदार्थ उन्हें इस कालनिधिसे प्राप्त होते हैं। यहां यह जानना कि चक्रवर्तियोंको जो निधियां उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षा करने वाले, व्यवस्था करने वाले देवगण होते हैं। तीर्थंकरके बाद पुण्य वैभवका कोई स्वामी है तो ये चक्रवर्ती हैं। ये सब चक्रवर्ती स्वर्गसे आते हैं। ये सम्यग्दृष्टि होते हैं। भले ही चक्रवर्तीकालमें कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि रह जाय और कितने ही चक्रवर्ती मोक्ष जाते हैं, कितने ही चक्रवर्ती पुनः ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं, और कितने ही चक्रवर्ती तो नरक गए। जिसकी जैसी भावना होती उसके अनुसार वह फल पाता। कितने ही चक्रवर्तियोंने इतना विशाल चक्रवर्तीका वैभव पाया, यह बहुत बड़े पुण्यका फल है। भला बतलावो अपने ही नगरमें कोई एक चेयरमैन हो गया तो उसका ही लोग कितना बड़ा महत्त्व मानते हैं, फिर जो पूरे जिलेका नेता है, वह कितना बड़ा, फिर पूरे देशका नेता है वह कितना बड़ा, फिर पूरे विश्वका कोई अधिपति है वह कितना बड़ा, फिर कोई छह खण्डका अधिपति है वह कितना बड़ा, इसका विचार तो करो। ऐसा छह खण्डका अधिपति होना यह बहुत बड़े पुण्यका फल है। अब पुण्यके फलमें हर्षित न हों, पुण्यफल पाकर भरत चक्रवर्ती जैसे उन सबमें उदास रहे, यह उनका ज्ञानबलका काम था जो कि भविष्यके लिए उनको लाभदायक था, पर लोकमें चक्रवर्तीका वैभव वर्तमानमें बड़ा आनन्ददायक माना जाता है। ऐसा ऊंचा पुण्य सम्यग्दर्शन होनेपर ही प्राप्त हो पाता है। चक्रवर्ती पूर्वभवमें उस कालमें सम्यग्दृष्टि थे और उस सम्यक्त्वकालमें रहने वाले भक्तिराग आदिके कारण ऐसा विशेष पुण्यबंध हुआ कि उनको छह खण्डका वैभव प्राप्त हुआ।

चक्रीके महाकाल, पाण्डु, व मानवनिधिका निर्देश—चक्रवर्तीकी दूसरी निधि है महाकाल। इस निधिके द्वारा मनमाने भाजनवर्तन प्राप्त होते हैं। नहाने धोनेके लिए, रसोईगृह के लिए, अनाथालयके लिए तथा अन्य कार्योंके लिए जहां जितने बर्तन चाहिए वे सब इस निधिके प्रतापसे उन्हें प्राप्त होते हैं। भला बतलावो जिनके पुण्यके कारण देव उनके सेवक बनते उनका कितना विशाल पुण्य है। सो ऐसा विशाल पुण्य सम्यग्दर्शन होनेपर ही प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टिको ऐसा विशाल पुण्य नहीं प्राप्त होता। यद्यपि पुण्य मिथ्यादृष्टिको भी प्राप्त होता मगर इतना विशाल नहीं। मिथ्यादृष्टि जीवके इतना ऊंचा परिणाम कहां है? (३) चक्रवर्तीकी तीसरी निधि है पाण्डु। इस निधिके प्रतापसे धान्यादिककी

भारी उत्पत्ति होती है। अनाजकी समस्या वहां नहीं रहती, प्रजाजनोंमें बड़ा सुख बर्तता है। (४) चौथी निधि है मानव। इसके प्रतापसे सर्वप्रकारके आयुध याने शस्त्रादिककी प्राप्ति होती है।

चक्रवर्तीके शङ्ख, पद्म व नैसर्प निधिका निर्देश—(५) पांचवी निधि है शंख, जिसकी वजहसे वादित्य बाजोंकी प्राप्ति होती है। देखिये आत्माके भावोंको परिणाम। यह सब ठाठ किसका है? पुण्यका, और पुण्य बना कैसे है? आत्माके उच्च भावोंसे। जिन्हें अपने आपपर दया हो, अपने आपकी उन्नतिकी वाञ्छा हो उनका कर्तव्य है कि वे अपने भावोंको बिगड़ने न दें, भावोंको ऊंचा बनायें। किसी भी जीवके प्रति विरोधकी बात रंच भी चित्तमें न रहे, यह सबसे बड़ी भारी विशुद्धि है। अपना विरोधी कोई है ही नहीं। जो विरोधी है वह अपनी शान्तिके लिए अपना प्रयास करता है। जब मेरे प्रति कोई कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर वह मेरा विरोधी कैसे? यदि विरोध भावना जगती है तो वह उसका भाव है। उसकी योग्यता है, उसके लिए है, मेरे लिए नहीं। सब लोग अपने लिए सोचिये कि इस जगतमें मेरा कोई विरोधी नहीं, ऐसी एक सद्भावना बने। सब जीवोंमें उस सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन हों, यह ही है उच्च भावना। हम भावनाके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर पाते। अपने ही भाव सही बनायें रहें बस यह ही हमारा वैभव है, यह ही मेरा सर्वस्व है। (६) चक्रवर्तीकी छठी निधि है पद्म। इसके प्रतापसे मनमाने वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। राजघरानेको, सेवकोंको, सेनाको या जिस किसीको भी जितने वस्त्र चाहिए वे सब इस निधिके प्रतापसे प्राप्त होते हैं। (७) सातवीं निधि है नैसर्प, इस निधिके द्वारा हम्यभवनोंकी प्राप्ति होती है। देखिये तो सही, यह तो चक्रवर्तीकी बात है। श्रीरामचन्द्रजीको बनमें एक बार ऐसी जगह भी ठहरना पड़ा जहां कि कोई पुरुष तो था नहीं, सिर्फ एक स्त्री थी, तो वहां उस स्त्रीने उन्हें बड़े अपशब्द सुनाया। वहां लक्ष्मण तो उस स्त्री पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए, पर श्रीरामने लक्ष्मणको समझा बुझाकर शान्त कर दिया। वही श्रीराम जब जंगलमें जाकर ठहरे तो उनके पुण्य प्रतापसे वहां नगरी बस गई, जिसका नाम रखा गया रामनगर। उसी नगरीमें एक बार वह स्त्री भी पहुंची तो वहां श्रीरामने उसपर द्वेषभाव नहीं किया बल्कि क्षमाभाव रखा। देखिये—महापुरुष बड़े क्षमाशील हुआ करते हैं। यही गुण तो उनको बड़ा बनाता है। बड़े पुरुष छोटे लोगोंसे द्वेष नहीं रखते बल्कि उनके प्रति क्षमाभाव रखते। तो हम सदैव क्षमाशील रहें, किसी बातमें घमंड न आये, मायाचारीसे भरा हुआ हृदय न बनायें, लोभलालचकी बात अपने चित्तमें न बसायें, समय-समय पर अपनेमें एक त्याग वृत्ति रखें। क्रोधादिक चारों प्रकारकी कषायोंके दूर होते ही अपने भावोंमें एक उदात्तपना आता है। भाव ही अपना एक धन है, जिसके कारण हम इस लोकमें भी सुखी रह सकते और अन्य लोकमें भी। यहां चक्रवर्तीकी ऋद्धियां बतायी जा रही हैं कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे अविशिष्ट रागके कारण कितना विशिष्ट पुण्यबंध हुआ करता है जिसके फलमें ऐसा वैभव प्राप्त होता है।

चक्रीके पिङ्गल व नानारत्न निधिका वर्णन—(८) आठवीं निधि है पिङ्गल—इसके प्रतापसे बड़े-बड़े स्वर्ण रत्न आदिक जड़ित आभूषण प्राप्त होते हैं। (९) नवमी निधि है नानारत्न—इस निधिके प्रतापसे बड़े बड़े रत्नसमूहोंकी प्राप्ति होती है। अब देखिये यह सब वैभव कितना कूता जायगा? क्या करोड़ोंका, या अरब, खरब, नील आदिकका? अरे कुछ कह ही नहीं सकते। यह सब वैभव चक्रवर्तीके

सामने पड़ा है, पर उससे चक्रवर्तीके आत्माको क्या लाभ? ये सब बाहर पड़े हैं। पौद्गलिक ठाठ हैं, उनसे इस आत्माका कौनसा हित होता है? मगर वह सब पुण्य वैभव है जिसके प्रति लोग ललचाते रहते हैं। यहां ललचाया जाने योग्य कोई वस्तु नहीं है। इनका लालच ही तो इस जीवको संसारमें रूलाता है। हां देखिये यह भी एक विचित्र बात है कि ज्यों ज्यों वैभवकी चाह कम होती जाती हैं त्यों-त्यों वैभवकी वृद्धि होती रहती है। इस आने वाले वैभवको देखकर उसमें मस्त न हों। उसके प्रति निर्लेप रहें ऐसा भाव रहता है भव्यात्माका। चक्रवर्तीकी ये ९ निधियां होती हैं। इतना विशाल पुण्य सम्यग्दृष्टि जीवके बंध करता है, इतने पर भी पुण्यका जो फल प्राप्त होता है वह रमने योग्य नहीं है। जो इनमें रमा सो संसारमें रुला।

चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमें ७ सजीवरत्नोंका निर्देश—चक्रववर्तीके १४ रत्न होते हैं, जिनमें ७ रत्न तो सजीव हैं और ७ रत्न अजीव है। (१) पहला रत्न है पवनंजय—इसके प्रतापसे पवनके समान उड़ने वाले अश्व (घोड़े) प्राप्त होते हैं। (२) दूसरा रत्न है विजयगिरि—इस रत्नके प्रतापसे विशाल बलशाली गज (हाथी) प्राप्त होते हैं। वैसे लोग तो सिंहको हाथीसे भी अधिक बलशाली बताते पर हाथीका बल और किस्मका है सिंहका बल और किस्मका। सिंहमें फुर्तीलापन होता है, हाथीमें गम्भीरता होती है। सिंहको लोग पंचमुख कहते हैं। उसके ५ मुख होते, कैसे कि एक मुख तो रहता ही, बाकी चार पंजे भी उसके मुखका जैसा ही काम करते हैं। वे पंजे दांतोंकी तरह तीक्ष्ण नुकीले होते हैं, इससे सिंह हाथीपर भी हमला कर बैठता। वैसे बलमें सिंह हाथीसे कम होता है। हाथी एक गम्भीर प्राणी है, उसमें बल बहुत अधिक होता है। (३) तीसरा रत्न है भद्रमुख। इसके प्रतापसे गृहपति ऐसा मिलता है कि जो राज्यकी सारी व्यवस्था बहुत सही बनाता है। बड़े घरके लोग राजागण या चक्रवर्ती ये स्वयं अपने घरकी व्यवस्थामें नहीं रहते, इनका तो एक विशाल कर्तव्य होता है। घरकी व्यवस्थाके लिए उनका एक सुपरिन्टेन्डेन्ट (गृहपति) होता है जो कि गृहकार्यकी व्यवस्था करनेमें बड़ा कुशल होता है। (४) चौथा रत्न है कामवृष्टि—इसकी वजहसे स्थपति याने कुशल कारीगरोंकी प्राप्ति होती है। ऐसे ऐसे कुशल कारीगर प्राप्त होते हैं जो कि लौकिक सब व्यवस्थायें तुरन्त बड़ी कुशलता पुर्वक कर देते हैं। (५) पांचवां रत्न है अयोध्य—इसके प्रतापसे ऐसा कुशल सेनापति प्राप्त होता है जो किसी दूसरेसे जीता नहीं जा सकता। जैसे भरत चक्रवर्तीके समयमें जो जय कुमार नामका सेनापति था उससे किसी कारणसे भरत चक्रवर्तीका पुत्र अर्द्धकीर्ति भिड़ गया था तो वह भी उससे हार गया था। वहां कोई वैतनिक सेनापति नहीं होता, स्वयं कोई बड़े राजघरानेका होता है और चक्रवर्तीका सेनापति बननेमें अपना महत्त्व समझकर वह सेनापति बनता है। तो वह सेनापति अयोध्य होता याने वह किसीके द्वारा युद्धमें जीता नहीं जा सकता। (६) छठा रत्न है सुभद्रा—इस रत्नके प्रतापसे सुभद्रा युवती याने कुशल सुभग पट्टरानीकी प्राप्ति होती है, उसमें इतना बल होता कि कहो रत्नोंका चूरा मुट्टीमें रत्न भरकर यों ही हाथसे मल देनेमें हो जाय और उस चूरासे चौक आदि पूर दे। इतना बल पट्टरानीमें होता है। पट्टरानीके अतिरिक्त अन्य ९६ हजार रानियाँ होती हैं। (७) सातवां रत्न है बुद्धि समुद्र—इस रत्नके प्रतापसे बड़ा

बुद्धिमान पुरोहित प्राप्त होता है जो सलाहकारका काम करे, मंत्रीके साथ बैठकर मंत्रणा करे, जो सब प्रकारके कार्योंकी बड़ी कुशलतापूर्वक व्यवस्था करे ऐसा पुरोहित प्राप्त होता है।

चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमें ७ अजीव रत्नोंका निर्देश—उक्त ७ रत्न तो चक्रवर्तीके सजीव होते हैं, और ७ ही अजीव रत्न होते हैं। (१) पहला रत्न है छत्र, उसमें सूर्य जैसी प्रभा होती है। यह छत्ररत्न उनकी आयुधशालामें उत्पन्न होता है। (२) दूसरा रत्न है असि जिसका नाम है भद्रमुख, ऐसी तलवार प्राप्त होती जिसके धारण करनेसे वह सुभट किसी दूसरेके द्वारा जीता नहीं जाता सकता। (३) तीसरा रत्न है दण्ड। चक्रवर्तीके पहरेदार बड़े बलशाली होते हैं वे ऐसे प्रवद्धबेग वाले दण्ड धारण करते हैं कि जिनकी वजहसे शत्रु उनपर विजय नहीं पा सकते। (४) चौथा रत्न है चक्र—यह चक्रसुदर्शन ऐसा यंत्र होता कि यदि चक्रवर्ती किसी शत्रुका लक्ष्य करके उसे फेंक दे तो शत्रु उसके आधीन बन जाय। (५) पांचवां रत्न होता है काकिणी—इसके प्रतापसे शत्रुके हृदयमें ऐसा प्रभाव पड़ता कि उसमें चिन्ता व्याप जाती है जिससे वह पराजयको प्राप्त होता है। (६) छठा रत्न है चिन्तामणि—यह चिन्तामणि रत्न ऐसा अद्‌भुत होता है कि इसके प्रतापसे जो कुछ मनमें विचारा गया उस कामकी सिद्ध हो जाती है। (७) सातवां रत्न है चर्म—यह एक बड़ा मजबूत, विशाल पंडाल सा समझिये। इसका उपयोग चक्री कब करता है जबकि मानों वह चक्री अपनी विशाल सेना सहित कहीं जा रहा है। कहीं मानों मेघवर्षा तेज होने लगी या बिजली चमकने लगी, ऐसी कोई परिस्थिति आये तो उस समय उस चर्मरत्नका उपयोग होता है। वह ऊपर बड़ा विशाल अनेकों कोशों तक ऐसा ऊपर छा जाता है कि उनको फिर कोई प्रकारकी बाधायें नहीं होतीं। ऐसे १४ रत्न चक्रवर्तीको प्राप्त होते हैं। यह सब सम्यग्दर्शनके होते सन्ते शुभ भावोंका प्रताप है, जिसका सारे भरत क्षेत्रपर एकछत्र राज्य है। तो अब आप समझिये कि छह खण्डके अन्दर जो कुछ भी वैभव पड़ा है वह सब, उस चक्रवर्तीका है।

चक्रवर्तीके अन्य वैभवोंका दिग्दर्शन—चक्रवर्तीपर ३२ यक्ष चमर ढोरते हैं। एक-एक यक्षके बन्धु कुल साढ़े तीन करोड़ हैं। ऐसे ३२ यक्ष चक्रवर्तीपर चमर ढोरते हैं, एक-एक यक्षके बन्धुकुल साढ़े तीन करोड़ होते हैं। चक्री जब जाता है तो शंख ध्वनि होते मालूम पड़ता लोगोंको। शंख २४ होते हैं जो कि दक्षिणकी तरफ आवर्त किए हुए होते हैं। इनमें बड़ी ऊंची ध्वनि होती है जो ४८ कोश तक सुनाई देती है। अब यहां चक्रवर्तीका और भी वैभव देखिये—जैसे यहां मान लो किसी किसानका वैभव बताना है तो कहते कि इसके इतने हल चलते हैं, मानलो चार हल चलते, ५ हल चलते। जब उससे बड़े जमींदारका वैभव बताना है तो बताते कि इस जमींदारके २० हल चलते २५ हल चलते, जब उससे बड़े किसी राजाका वैभव बताना है तो कहते कि इस राजाके हजारों हल चलते, ऐसे ही चक्रवर्तीका वैभव बताना है तो कितने बताये जायेंगे? एक कोड़ा कोड़ी हल। याने एक करोड़में एक करोड़का गुणा करनेपर जितनी संख्या आवे उतने हल। देखिये इतने बड़े छह खण्डके राज्यमें एक कोड़ा-कोड़ी हल चलना असम्भव बात नहीं। चक्रवर्ती केवल भरतक्षेत्रमें ही होते हों सो बात नहीं, भरतक्षेत्रके चक्रवर्ती अलग है, ऐरावत क्षेत्रके अलग हैं और विदेह क्षेत्रके अलग हैं। जैसे बताया है कि १६० तीर्थंकर विदेह क्षेत्रमें एक साथ हो सकते हैं। वैसे बताया है २० तीर्थकर, २० से कम तीर्थकर

तो होंगे नहीं, पहले २० कह दिया है पर सभी नगरियोंमें जो वहांकी महानगरियां हैं वे बड़ी विशाल हैं, वहां एक-एक तीर्थकर एक-एक नगरीमें हो सकता है। एक समयमें १६० तीर्थकर हो सकते हैं, उसी समय ५ भरतमें ५ तीर्थंकर होते, ५ ऐरावतमें ५ तीर्थंकर होते, तो कोई समय ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय ढाई द्वीपके अन्दर १७० तीर्थंकर विराजे हों। तो छह खण्डकी पृथ्वीपर जगह जगह उनके फार्म्स हैं, सब कुछ उनकी व्यवस्था है। तो चक्रवर्तीके एक कोड़ाकोड़ी हल होते हैं। उनका राज्य छह खण्डकी पृथ्वीपर है ना? वहां रमणीक १२ भेरी बजती हैं। उनकी ध्वनि इतनी तेज होती है कि ४८ कोश तक सुनाई देती है। चक्रवर्तीके पास गायें तीन करोड़ होती हैं। आखिर छह खण्डमें सर्वत्र उनके स्थान बने हैं, उनके गायें ३ करोड़ होती हैं। अब जरा चक्रवर्तीके बर्तनोंका अंदाज लगाइये—थालियां एक करोड़, जब केवल थालियां ही एक करोड़ होतीं तो फिर लोटा, कटोरी, गिलास, चम्मच आदि कितने होते होंगे इसका अंदाज तो लगाइये। देखिये कहां कहां होता है उस चक्रवर्तीका उपयोग। उसके पास ८४ लाख हाथी, ८४ लाख भद्ररथ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ वीरपुरुष, कई करोड़ विद्याधर, ८८ हजार म्लेच्छं राजा ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा, ३२ हजार नाट्यशाला, ३२ हजार संगीतशाला, ४८ करोड़ पदाति सेना, ३२ हजार देश, ये सब वैभव होते हैं चक्रवर्तीके। ये सब वैभव जानकर हमें ललचानेकी शिक्षा नहीं लेना है। ये सब बाहर पड़े हुए पौद्गलिक पदार्थ हैं। उनसे चक्रीके आत्माका क्या भला होता? पर सम्यक्त्व होनेपर शुभ भाव होनेके कारण ऐसा विशाल पुण्यबंध होता है जो कि मिथ्यादृष्टियोंके नहीं हो सकता। ऐसे ये चक्री राजा जिनके राज्यमें ९६ करोड़ गांव थे, ७५ हजार नगर थे और १६ हजार छोटे-छोटे खेड़े थे, याने कितना विशाल उनका राज्य था जिनकी रक्षाकी जगह ५६ तो ऐसे अन्तर्द्वीप थे कि समुद्रके बीच टापू वगैरह जहां हर एकका जाना अशक्य है, और २८ हजार दुर्ग थे। देखिये सभी जगह छह खण्ड मौजूद था, सब जगहकी बराबर व्यवस्था बनी हुई थी। कहां कौन लोकपाल रहता है, किस राजाको कहां नियुक्त किया है, ऐसे विशाल वैभव वाले चक्रवर्ती इस सम्यक्त्वके प्रतापसे उन शुभ भावोंके कारण होते हैं। सम्यग्दर्शनका काम नहीं है वैभव दिलाना। वह तो मोक्षका मार्ग है, पर उसके होते हुए जो शुभ भाव हुए भक्ति आदिकके उन्हें इतना विशेष पुण्यका लाभ होता है।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥ ३९॥

सम्यक्त्वकी महिमाके सम्बन्धमें गत वर्णनका संक्षिप्त स्मरण—सम्यग्दर्शनकी महिमाका प्रसंग चल रहा है। अब तक बताया गया कि जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव हैं वे नरक, तिर्यञ्च, नपुंसक, स्त्री पर्याय, खोटे कुल वाले, विकृत अङ्ग वाले, अल्प आयु वाले और दरिद्र नहीं होते। कुछ अपवाद हैं—जिसने पहले नरकायुका बंध कर लिया हो और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त हो और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह पहले नरक जायगा, नीचे नहीं, ऐसे ही जिसने पहले तिर्यञ्च आयु का बंध कर लिया हो और बादमें सम्यक्त्व हो, क्षायिक सम्यक्त्वहो तो वह भोग भूमि तिर्यञ्च होगा। ऐसे ही किसीने मनुष्यायुका पहले बंध कर लियाहो, पीछे सम्यक्त्व हो जाय, क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह

भोगभूमिया मनुष्य होगा। इन तीन अपवादोंके सिवाय बाकी ये सब व्यवस्थित हैं। फिर बताया गया कि जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं वे मनुष्योंमें भी ऊंचे मनुष्य हैं। जिनका ओज, तेज, विद्या, शक्ति, यश, वैभव, कुल ऊंचा हुआ करता है, जो पुरुषार्थी होते हैं, बताया गया कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, जिनेन्द्रभक्त हैं वे स्वर्गोंमें अच्छे देव होते हैं इसके बाद कहा गया कि सम्यग्दृष्टि पुरुष, जीव देव स्वर्गसे चलकर चक्रवर्ती होते हैं।

सम्यग्दृष्टियोंके तीर्थङ्कर होनेके वर्णनमें गर्भ व जन्मकल्याणकका निर्देशन—आज बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव तीर्थंकर हुआ करते हैं। तीर्थंकर शब्दका अर्थ है जो तीर्थको करे। धर्मतीर्थमें प्रवृत्ति करें उसका नाम तीर्थंकर है। १४८ कर्मोंकी प्रकृतियोंमें तीर्थंकर नामकी एक प्रकृति है। जिसका उदय तीर्थंकरके भवमें १३वें गुणस्थानके प्रारम्भमें हो जाता है मगर वे तीर्थंकर उस भवमें जन्मसे ही कहलाने लगते हैं, क्योंकि उनका पुण्य वैभव इतना विशाल है कि गर्भ जन्म तप कल्याणक तीर्थंकर होनेसे पहले भी होने लगते हैं। वास्तवमें तीर्थंकर १३वें गुणस्थानमें कहलायेंगे, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका उदय १३वें गुणस्थानमें ही होता है। किन्तु जब पहलेसे इन्द्रको पता पड़ गया और पुण्य वैभव भी अनूठा है तो जैसे जिसे राजा होना होता है उसका लाड़ प्यार उसकी कुमार अवस्थासे ही चलने लगता है ऐसे ही जिसको तीर्थंकर होना है उसके गर्भमें आनेसे ६ माह पूर्वसेही रत्नोंकी वर्षा होने लगती है। ५६ कुमारियां, देवियां, ६ प्रकारकी महादेवियां वहां आकर माताके मनको बहलाती हैं और १५ महीने तक रत्नवर्षा होती रहती है। जब प्रभुका जन्म होता है तब जन्मकल्याणक मनाया जाता है। जन्म कल्याणकका लोकमें बड़ा प्रभाव समझा जाता है। आजकल भी जहां पंचकल्याणक होता है वहां जन्म कल्याणकमें जितनी भीड़ और उमंग जनतामें मिलती है, उतनी अन्य कल्याणकोंमें नहीं मिलती। तो लोगोंको जैसे अपना बालक होना यह प्रिय है तो ऐसी ही भावनाके कारण तीर्थंकरोंके जन्मके समयकी उमंग बहुत अधिक होती है। अब प्रभुका जन्म होता है तो अपने आप ही इन्द्रका आसन कम्पायमान होता है। स्वर्गमें भवनवासियोंके भवनमें, व्यन्तरोंमें, ज्योतिषियोंमें कहीं घंटा, कहीं भेरी, कहीं शंखके शब्द होने लगते हैं। कर्मप्रकृतिके उदयका निमित्त नैमित्तिक योग भी अथाह है, उसे कोई यों प्रकट नहीं बता सकता। कितनी ही बातें हैं। जैसे एक रेडियो ही बोलता है तो दिल्ली, लंदन या कहीं की भी बात आप सुन लीजिए। भले ही रेडियोके निर्माणकर्ता लोग जानते हैं कि कहाँ कैसे तार लगाना, क्या करना, पर उसका स्पष्ट परिचय उन तकको भी नहीं हो पाता। कहां शब्द होते हैं कैसे वे कैच करते हैं, किस ढंगसे आते हैं पर सामान्यतया जानते हैं। तो भला प्रभुका जब जन्म हुआ उस समयमें पुण्यविपाकका निमित्त पाकर ये घंटा घड़ियाल आदिक स्वयं बजने लगते हैं। यहां भी जिनका पुण्योदय होता है उनके पास वैभव सम्पदा कहां किस तरह आनेको है वे कुछ नहीं जानते। अपनी कल्पनायें करते हैं, पर सर्व योग अपने आप जुड़ते हैं।

पराधीन संयोगोंका विकल्प न कर स्वाधीन एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका कर्तव्य—यहां संसारमें जितने भी जीवोंको सुख दुःख लगे हुए हैं वे सब कर्मोदयानुसार चलते हैं। कर्तव्य तो अपना यह है कि कर्मोदयसे होने वाली बातोंको असार जानकर, कर्मोदयजन्य विकारको

असार जानकर इन सबसे उपेक्षा करना चाहिए और अपने स्वभावको सारभूत जानकर यह ही दृढ़ दृष्टि रखना चाहिए और मोक्षमार्गका ऐसा ऊंचा काम है। निशंक, धोखारहित कामकी जो आत्मस्वभावकी रुचि करके, सहज परमात्मस्वरूपकी भक्ति करके जो अपने मोक्ष मार्गकी साधनामें लगा है, उसका जब तक संसार शेष है तब तक अच्छे कुलमें जन्म होगा। यहां भी उसे आपत्ति नहीं सहनी पड़ती, तो मोक्षमार्ग तो चल ही रहा है। मुक्तिके मार्गमें वह बढ़ रहा है, इसलिए जीवनमें एक ही निर्णय बनाइये कि मुझे अपने आत्मामें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपकी उपासना करना मुख्य काम है। एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय, एक यह न रहे साथमें और बाकी आप सब क्रियायें करते रहें, वे धर्मके नामपर भी करते रहें, ऊंचे तपश्चरण भी करते रहें, पर एक मूल यह आत्मस्वभाव न जान पाया तो समझिये कि संसारकी ही वर्तना करने वाले हैं। संसार संकट मिटा सकने वाले नहीं है। इसलिए एक ही निर्णय हो। प्रधान कार्य एक मात्र यह ही है कि मैं अपने आत्मस्वभावको नजरमें रखूं, दृष्टिमें लूं। चैतन्यस्वभावमात्र, जिसकी दृष्टिमें आनेपर बाह्यविकल्प मिट जानेके कारण अलौकिक सहज आनन्द जगता है। कर्मोंका क्षय आनन्दके कारण हुआ करता है कष्ट से नहीं होता। पर वह आनन्द होना चाहिए आत्मीय सहज आनन्द। तो कर्मोंकी निर्जरा, कर्मोंका क्षय, आनन्दसे होता है, क्लेशसे नहीं होता क्लेश, संक्लेशमें तो ध्यान बिगड़ा हुआ होता है, पर जहां सहज आनन्दका अनुभव चल रहा हो वहां ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि कर्म अपने आप अपनी परिणतिसे झड़ने लगते हैं। जैसे यहां लोकमें स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक योग दिखाई दे रहा है—अग्नि जलाया, तवा रखा, उस पर रोटी चढ़ाया तो रोटी सिक जायगी। कोई शंका नहीं करता, ऐसा ही योग है, जानते हैं और ऐसा ही पौरुष करते हैं। तो यहां भी ऐसा ही योग है कि जब हम अपने आपको सम्हालेंगे, अपना उपयोग सहज सहज चैतन्यस्वभाव दृष्टिमें रखेंगे, अनुभवेंगे कि यह हूं मैं, तो वहां जो एक सहज आनन्द जगता है उसके निमित्तसे ये कर्म अपने आप झड़ने लगते हैं। तो अपनेको करने योग्य काम केवल एक ही है। न कर्मपर दृष्टि देना है कि कर्म मेरे बैरी हैं, न बाहरी क्रियाकाण्डोंमें दृष्टि देना है, कि मैं ऐसा ही शरीर चलाऊं, ऐसे ही वचन बोलूं तो मेरे कर्म कटेंगे। होगा उसके सहज, मन, वचन, काय कहाँ जायेगे? जब लगे हुए है साथ? यदि शुद्ध दृष्टि बनेगी तो उसके अनुरूप मन, वचन, काय चलेंगे, पर मैं मन, वचन, कायको ऐसे चलाऊं और कर्म काटूं इन भावोंसे कर्म न कटेंगे।

कल्याणके मूल साधनभूत अन्तस्तत्त्व दृष्टिकी सुगमता व स्वाधीनताका दिग्दर्शन—भैया, हम आपको कितनी सुगमता है कि केवल एक ही कार्य करना है इसे। जो अपना सहजस्वरूप है उसको अनुभवना है कि मैं यह हूं दूसरा ख्याल ही न लाइये, और कोई झगड़ेकी जरूरत ही नहीं है। मैं आत्मा हूं, मैं अमर हूं, सदा रहूंगा, जैसा मुझमें भाव जगे वैसा ही मेरा भविष्य बनेगा। मैं खुद अपना ही अपना जिम्मेदार हूं। ऐसा भाव करके एक इस एकत्व निश्चयगत आत्माको निरखिये मैं क्या हूं। बस इसका सही उत्तर आ जायगा, कल्याण हो जायगा। जो भी तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने क्या किया था पूर्व भवमें? बस यह ही आत्मस्वभावकी साधनाकी थी। जितने भी जीव अब तक मोक्ष गए हैं उन्होंने क्या किया था? इस सहज आत्मस्वरूपकी उपासना की थी। अब आप देख लीजिए कि धर्मपालन बिना किसीका

ठीक-ठीक गुजारा न चलेगा। संसारमें नाना कुयोनियोंमें जन्ममरण होंगे और वह धर्म पालन कितना सुगम है और कितना अपनी दृष्टिके वश है कि जब ही दृष्टि निर्मल हुई, दृष्टिमें अपना आत्मस्वरूप हुआ, यह ही मैं हूं इस प्रकारका अनुभव जगा तो सारे काम जैसे होने हैं वे सब ओटोमेटिक ढंगसे होने लगेंगे। जैसे किसी बड़े मिलमें एक बटन ही नीचे किया कि सारे काम अपने आप चल रहे हैं। भले ही उनकी व्यवस्थामें बड़ा प्रयत्न पहले करना होता है मगर जब व्यवस्थित ढंग रहता है तब वहां सिर्फ एक बटन दबाया कि सारे काम होने लगे, तो ऐसे ही पहले तो तत्त्वका श्रद्धान करनेके लिए तत्त्वका परिचय करना, वस्तुका स्वरूप समझना ये सब बातें करनी होती हैं, पर जब व्यवस्थित ढंग बन जाता है तब केवल एक बटन ही नीचे करना होता है अर्थात् अपनी दृष्टिमें इस सहज आत्मस्वरूपको ही अनुभवना होता है। कर्म कैसे कटते? कट जाते हैं, विकार कैसे हटते? हट जाते हैं। संस्कार कैसे टलते? टल जाते हैं। आपका केवल एक ही काम है, मगर यह काम उस ही के होता है जिसका कि पवित्र चित्त हो, जिसका कि निर्मल आशय हो।

स्वभावदृष्टि पानेके पात्र जीवोंका अन्तरङ्ग आचरण—धर्म और धर्मसाधनोंके प्रति जिसकी अतिशय उमंग हो वह दृष्टिमात्रमें अपने स्वभावके अभिमुख हो जाता है। तो ऐसी स्वभाव अभिमुखता पानेके लिए अपना आचरण भला होना चाहिए, नहीं तो वह पात्रता न आयगी कि जहां आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव बन सकता है। सदाचारमें किया, पर वे चार भावनायें हृदयंगम कर लीजिए। (१) सब जीवोंमें मैत्री भावना रहे, किसी जीवमें कषाय न जगे, किसीके प्रति विरोधभाव न आये। कषाय और विरोधभाव तो ये फाल्तूसे काम हैं। मैं अपने परमात्माका क्यों घात करूं? परमात्माका घात न हो और किसी जीवके प्रति विरोधभाव न रहे, सर्व जीवोंमें मैत्री भाव रहे। (२) दूसरी भावना यह रहे कि गुणीजनोंको देखकर हर्ष हो जाय। देखिये यह द्वितीय भावना जिसके नहीं है उसमें स्वानुभवकी पात्रता नहीं आ सकती। कोई भीतरका कलंक कषाय ही तो है, कोई अज्ञान भ्रम ही तो है जिससे गुणी जीवोंको देखकर हृदयमें प्रेम नहीं उत्पन्न होता, प्रमोद नहीं जगता, हर्ष नहीं होता। आप उसकी तुलना करें। घरके बच्चोंको निरखकर या विषय कषायोंमें लगाने वाले मित्रोंको निरखकर जैसे आप हर्ष और उमंग करते हैं, उससे भी कहीं अधिक उमंग गुणी जीवोंको देखकर होना चाहिए। यह अपने आप पर दया करनेकी बात कही जा रही। इससे न कहीं समूह पर एहसान है न गुणोंपर एहसान है, न कोई उलाहनेकी चीज है। यह तो अपने आपमें पात्रता कैसे आये और मैं स्वानुभवका अधिकारी कैसे बनूं ऐसी अपने आपकी दयाकी बात है। जितना तन, मन आदिक जो कुछ अर्पण आप किसी दूसरेके लिए कर सकते हैं उससे भी अधिक उमंग यदि धर्म और धर्मसाधनके प्रति हो तब समझिये कि हम इस स्वानुभवके अधिकारी हैं। गुणीजनोंमें प्रमोद भावना होनी चाहिए। (३) तीसरी भावना है दुःखी जीवोंको देखकर दया उमड़ जाना। जो दुःखी जीवोंको देखकर भी हर्ष मानता, खुश होता वह तो उसकी कठोरता है ही जो उपेक्षा कर जाता उसके भी कठोरता समझिये। सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखनेकी कला जिसमें नहीं आयी वह मोक्षमार्गका पात्र नहीं होता। दुःखी जनोंको देखकर दयाका भाव आये। (४) चौथी भावना है विपरीत वृत्तिवाले पुरुषोंको देखकर माध्यस्थ भावना

जगता। म राग न द्वेष, क्योंकि उद्दंडोंसे रागमें भी आपत्ति है, द्वेषमें भी आपत्ति है, उद्दंड पुरुषोंके प्रति प्रीति करे या विरोध करे, दोनोंमें संकट है अतएव माध्यस्थ भाव हो। जिसने जीवनमें ऐसी भावना पुष्ट की है उसको वह पात्रता मिलेगी कि वह तत्त्वज्ञानके बलसे इस सहज परमात्म तत्त्वकी दृष्टि कर सकता है।

तीर्थंकर प्रभुके जन्म व तप कल्याणकका दिग्दर्शन—जिन जीवोंने सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी उन्होंने दर्शनविशुद्धि भावनाके प्रतापसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया और जिस भवमें तीर्थंकर होंगे उस भवमें उनके कल्याणक मनाये जाते हैं। हां जन्म कल्याणके समय इन्द्र देवतावोंके साथ बड़े समारोह ठाठसे उस नगरीमें आता है और वहां इन्द्राणी प्रसूति गृहमें जाकर मायामयी बालक सुलाकर उस बालकको ले आती है। इन्द्रके हाथमें वह इन्द्राणी उस तीर्थंकर बालकको देती है। उस समय जो उनके चरणोंमें चिह्न दिखाई देता है उस चिह्नकी प्रसिद्धि करते हैं, ध्वजायें बनाते हैं और मेरु पर्वतपर ले जाते हैं। कवि कहता है कि चूंकि तीर्थंकर बालकका प्रथम दर्शन इन्द्राणीको होता है और उस समय उसके निरखनेकी उमंगसे उसके बड़े ऊंचे भाव होते हैं। कितने ही तीर्थंकर बालकके दर्शन किया है इन्द्राणियोंने, वे इन्द्राणी भी पुरुषभव पाकर मनुष्य होकर मोक्ष चली जाती हैं। एक इन्द्रका जितना समय है स्वर्गमें उतने समयमें करोड़ों नहीं, अरब नहीं, नील महानीलकी संख्यासे इन्द्राणियां मुक्तहो जाया करती हैं, जन्म कल्याणक मनाया, क्षीर समुद्रके उस प्राकृतिक प्रासुक जलसे अभिषेक किया भक्तिगान करके उसी महलमें माता पिताको सौंपा और अपने-अपने स्थान चले गए। देखिये बताया है कि जन्मकल्याणकके समय स्वर्ग खाली हो जाता है। रहते थोड़े देव मगर बहुत देव यहीं आ जाते हैं इसलिए सब देवोंका आना कहा जाता है? उनका मूल शरीर नहीं आता, वैक्रियक शरीर यहां आता है, मूल शरीर तो वहीं रहता है। जन्म कल्याणकके बाद प्रभु गृहस्थीमें रहे, किन्हींका कैसा ही जीवन गया, आखिर एक समय ऐसा आता है कि उनके विरक्ति होती है और राजपाट सब त्यागकर वे वन जानेकी तैयारीमें हो जाते हैं। लौकांतिक देव जो कभी भी मध्यलोकमें नहीं आया करते, प्रभुके गर्भ, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणकमें भी नहीं आ पाते, क्योंकि वे लौकांतिक देव द्वादशांगके पाठी हैं ब्रह्मर्षि हैं। ब्रह्मचारी हैं, वे सदा तत्त्वचिन्तनमें लगे रहते हैं, उनको उसीमें संतोष है, पर जिस समय तीर्थंकरको वैराग्य होता है, वैराग्यप्रिय होनेसे वहां सब आते हैं। तीर्थंकरके वैराग्यका समर्थन करके चले जाते हैं, वहां तप कल्याणक मनाया जाता है।

मनुष्यभवकी श्रेष्ठताका एक चित्रण—जिस समय इन्द्र पालकी सजाकर तीर्थंकर महाराजको उसमें बैठाकर ले जायेंगे उस प्रसंगमें एक कविकी भावनाके अनुसार एक झगड़ा विशेष हो जाता है, वह झगड़ा क्या है? मनुष्य और देवका। मनुष्य कहते हैं कि तीर्थंकर प्रभुको पालकीमें बैठालकर हमले जायेंगे, देव कहते हैं कि तुम्हारी क्या ताकत है? हमने तो गर्भ कल्याणक मनाया, जन्म कल्याणक मनाया, मनाते चले आये, तप आदिक भी मनाते हैं, तुममें क्या शक्ति है, इसका अधिकार तो हमको है। उस समय मनुष्य भी हठ कर गए बोले आप इसे नहीं छू सकते। पालकी ले जानेका ऐसा विवाद होनेपर एक दो प्रमुख पंच बनाये गए। दोनोंने अपने-अपने बयान दिये। बहुत कुछ सुननेके बाद पञ्चोंका न्याय होता है कि इस पालकीको वह ले जायगा जो भगवानकी तरह दीक्षा ले सके। यह

बात सुनकर वे देव बड़े अप्रसन्न हुए, अपना माथा धुनने लगे, और अपनी झोली फैलाकर मनुष्योंसे भिक्षा मांगने लगे कि हे मनुष्य, तुम मेरा सारा देवत्व ले लो, सारे वैभव ले लो और अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो। भला बताओ यह मनुष्यत्व क्या भीख मांगनेसे मिलता है? नहीं, बड़ा दुर्लभ है यह मनुष्य भवका पाना। इस मनुष्यभवको पानेके लिए बड़े बड़े देव देवेन्द्र तरसते हैं। ऐसे दुर्लभ मानवजीवनको पाकर यदि विषय कषायोंमें इस मनुष्यपनेको खो दिया तो यह कोई विवेक नहीं है। यह तो महा मूढ़ता है। उसका कर्तव्य इस प्रकारका है कि जैसे किसीको बर्तन मलनेके लिए राख चाहिये थी तो उस राखको पानेके लिए चंदनकी लकड़ी जलावे। अरे चंदन तो एक मूल्यवान लकड़ी है, उसे राखके प्रयोजनके जलाना एक मूर्खता भरी बात है, ऐसे ही मनुष्यभव जो कि इतना दुर्लभ भव है कि जिसे पानेके लिए बड़े बड़े देव देवेन्द्रतरसे उसे पाकर विषय कषायोंमें गंवाना एक मूर्खता भरी बात है। तो अपने मनमें एक ऐसी दृढ़ता लाइये कि मेरा यह मानवजीवन विषय कषायोंके लिए नहीं है, किन्तु धर्मधारणके लिए है। धर्मात्मावोंकी प्रीतिके लिए धर्मसाधनाके अनुरागके लिए मेरा जीवन होगा, और मूलमें आत्मस्वभावकी दृष्टि करना ही लक्ष्य होगा।

तीर्थकरोंके चरित्रपरिचयसे अपने लिए शिक्षण—तीर्थंकर प्रभुका तप कल्याणक भी ठाठसे मनता है। वे तपश्चरण मौन पूर्वक करते। उनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञानके समय भी कल्याणक, समवशरणकी रचना, उनके दिव्योपदेशके कल्याणक, कुछ काल बाद और योगनिरोध बाद अयोग केवली होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं। वहां निर्वाण कल्याणक मनाया जाता है। तो ऐसे ये तीर्थंकर जिनके कल्याणक मनाये जायें, देव, राजा आदिक १०० इन्द्रोंके द्वारा जो पूज्य हों, ऐसे तीर्थकर होते हैं सम्यग्दर्शनके प्रभावसे। सम्यग्दृष्टि जीव तो विशुद्ध भावनामें आते हैं। उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। तो यह सम्यक्त्वकी महिमाका प्रकरण है। सम्यग्दर्शनके प्रभावसे इस आत्मामें कैसे कैसे अतिशय प्रकट होते हैं, वैसे आनन्दमें बढ़ते हैं, यह सब प्रसंग जानकर चित्तमें एक ही निर्णय करें कि इस जीवनमें मुझे सम्यक्त्वका लाभ करना है और बातें इस मुझ आत्माके लिए इस प्रकार हैं जैसे कि अनन्त भवोंमें ये बेकार बातें होती चली आयी हैं। सो भाई जिस धर्मके प्रतापसे तीर्थंकर आदिक मुक्त होते हैं वह धर्म हमारे लिए शरणहै। वह धर्म मेरेमें मेरे अन्तः विराजमान है, उसकी रुचि हो जाय तो कल्याणका मार्ग अवश्य ही मिलेगा।

शिवमजर मरुजमक्षय-मव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनाशरणाः॥ ४०॥

सम्यग्दृष्टिजीवके मोक्षपदका लाभ—सम्यग्दर्शनका शरण जिसको मिल चुका है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्वके प्रतापसे इसही स्वभाव दृष्टिमें बढ़कर सम्यक्चारित्र पाकर सम्यक्चारित्रकी पूर्णतासे मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं। वह मोक्षपद कैसा है? अनेक लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि जितना संसारमें सुख है उससे कई गुना सुख मोक्षमें है, पर संसारका सुख है अन्य जातिका, क्षोभ वाला तो क्षोभ वाले सुखसे अनन्तगुना सुख है, इसका क्या अर्थ हुआ? सांसारिक सुखसे कई

गुना सुख है ऐसा न सोचना किन्तु उनका आनन्द विलक्षण जातिका है। इस सुखसे बिल्कुल विपरीत जाति है। केवल आत्मासे ही विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है, जहां आकुलताका क्षोभका नाम नहीं है। प्रथम तो यह विचारें कि उस जीवके शरीर नहीं है, केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा। ज्ञानमात्र आत्मा जो ज्ञानमात्र आत्मा है उसके शरीरजन्य सुखका क्या काम है? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसलिए परम आल्हाद पूर्ण निराकुलता, केवल ज्ञाता दृष्टा रहना, यह स्थिति होती है मोक्षमें। जहां पूर्ण निराकुलता है और ऐसी निराकुलता अनन्तकाल तक बर्तती रहेगी, ऐसा पद है मोक्ष।

अजर अरोग अक्षय अव्यावाध विशोक विभय अशङ्क. शिवपदका गुणगान—मोक्षपदमें जीर्णताका नाम नहीं है। आत्मामें कोई कमजोरी या जीर्णता नहीं आती इसलिए वह शिवपद अजर है, रोग रहित है। रोगका आधार है शरीर और शरीरसे अत्यन्त जुदा हो गया है, उस मोक्षमें रोगका क्या काम? वह शिवपद अनन्य है, अविनाशी है। जो अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है, अनन्त ज्ञान, केवलज्ञान उसका कभी विनाश न होगा। समय समय प्रति समय केवलज्ञान केवलज्ञान रूपके परिणमन चलते रहेंगे, ऐसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द ये सदा बर्तते रहेंगे, ऐसा अक्षय है वह शिवपद। जिस मोक्षमें बाधाका नाम नहीं। बाधाका यहां कारण था शरीर, मन, अनेक शारीरिक कष्ट थे, अनेक मानसिक कष्ट थे, जहां शरीर न रहा, वहां मानसिक कष्टका भी काम नहीं, वह आत्मा है, ज्ञानमात्र है, परिपूर्ण सत् है वह शुद्ध विकास है, दोषका नाम नहीं, धर्मादिक द्रव्योंकी तरह अब वह पूर्ण शुद्ध अवस्था है। वहां बाधाका काम नहीं है, वह शिवपद शोकरहित है। शोकका भी कारण है तन, मन और वचन। तो वचनसे होने वाला जो कष्ट है वह मानसिक कष्टमें ही शामिल होता है और शरीरमें होने वाले कष्ट शारीरिक कष्ट हैं। तो जहां शरीर नहीं वहां शंकाका आधार कुछ रहा ही नहीं, मन नहीं तो शोकका आधार कुछ रहा ही नहीं। वह आत्मस्वरूप स्वयं सहज ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ है। जैसे यहां पुद्गल देखते हैं तो पुद्गल क्या? जो रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड हो, तो आत्माको बतलावो, आत्मा क्या? जो ज्ञान और आनन्दका पुञ्ज हो। आत्माका रहस्य बड़ा अद्भुत है, जिसकी दृष्टि आत्माके अंतस्तत्त्वपर पहुंच जाती है वह पुरुष धन्य है। आत्मा अमूर्त है, पर जैसे आकाश अमूर्त है किन्तु सत् है, प्रदेशवान है ऐसे ही आत्मा स्वयं सत् है, प्रदेशवान है और उसका असाधारण स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जहां शुद्ध हुआ है, अकेला रह रहा है वह परिपूर्ण विकसित है, वहां शोकका क्या काम? भय भी किस बातका? विकल्प ही कुछ नहीं है और अमूर्त आकाशमें आपत्ति क्या आती? जैसे लाठी मारी गई तो बताओ आकाशमें लगेगी क्या? आग जलाया तो आकाश जलेगा क्या? जैसे अमूर्त आकाशको किसी पर पदार्थसे कोई बाधा नहीं आती, ऐसे ही अमूर्त आत्माको किसी भी प्रकारसे कोई बाधा नहीं आती। वहां भयका कोई अवकाश ही नहीं, और फिर निर्विकल्प है। तो वह शिवपद भयरहित है और इसीप्रकार शंकारहित है।

शिवपद की काष्ठागतविद्याविभवता—इस शिवपदमें ज्ञान और आनन्दका वैभव उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट बन गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेपर यह ज्ञान कम हो जाता है। न्यायके ढंगसे विचार करें, जब ही आवरण हटता है तो वह ज्ञान बढ़ता है, तो एक ही नियम है कि

पर पदार्थके कारण जो चीज घटी और पर पदार्थके हटनेसे जो चीज बढ़ी वह वस्तु कभी किसीके एकदम उत्कृष्ट बढ़ी हुई भी होती है। सामान्यतया यह दृष्टि दें कि जो चीज घटती है वह घटकर कभी बिल्कुल भी मिटती है, जो चीज बढ़ती है वह बढ़-बढ़कर कभी भी पूर्ण बढ़ जाती है। अभी इसमें दोष आयेंगे, उन दोषोंका निराकरण करनेके लिए विशेषण आयगा, पर सामान्यतया अभी यह जानें कि जो चीज घटा करती है वह घट-घटकर एकदम घट सकती है। जैसे रागद्वेष विकारभाव ये घटा करते हैं। किसी जीवमें राग कम है किसीमें और कम है, तो कोई जीव ऐसे भी होंगे कि जिनमें राग बिल्कुल न रहेगा। दूसरी बात ज्ञानमें दिखती है कि इसका ज्ञान अधिक है, इसका ज्ञान और भी अधिक है तो कोई आत्मा ऐसा भी होता होगा जिसके पूर्ण अधिक परिपूर्ण ज्ञान हो गया? सामान्यतया एक युक्ति लगावो, पर इसमें एक आपत्ति आती है कि हम उल्टा फेरकर रोक लगा दें कि ज्ञान किसीमें कम है किसीमें बहुत कम है तो किसीमें बिल्कुल भी ज्ञान खत्म है। तथा किसीमें राग अधिक है किसीमें और अधिक है तो कोई ऐसा होता होगा कि जिसमें परिपूर्ण व सदा राग रहेगा। क्या ऐसा भी होता होगा कि जहां ज्ञान बिल्कुल न रहेगा? या राग सदाके लिए परिपूर्ण रहेगा। भैया, यह आपत्ति यों नहीं आती कि यहां यह समझना होगा कि आवरणके हटनेपर जो घटे वह कभी पूर्ण घट सकता है, आवरणके मिटनेपर जो बढ़े वह कभी पूर्ण बढ़ा हुआ हो सकता। ये दो विशेषण साथ लेनेसे यह समस्या ठीक बैठती है। आवरणके हटनेसे राग बढ़ता है क्या किसीके? आवरणके हटनेसे तो राग घटता है। इसलिए जब आवरण पूरा हट गया तो राग कहीं पूरा मिट गया। आवरणके हटनेसे ज्ञान बढ़ता है। तो जहां आवरण पूरा हट गया वहां ज्ञान पूरा हो गया। इस युक्तिसे आप यह जानें कि कोई आत्मा ऐसा है कि जहां ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। जहां ज्ञान परिपूर्ण है वहां लोक अलोक सब एक साथ स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं।

देखिये—ज्ञान तो है जानने वाला और सारे पदार्थ हैं विषयभूत। तो विषय और विषयी इन दोनोंके सम्बंधको देखा जाये तो कह सकते हैं कि भगवानके ज्ञान होनेका निमित्त कारण सारा विश्व है। है वह निमित्त कारण विषय रूपसे, पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि पदार्थोंके परिणमन होनेका निमित्त कारण भगवानका ज्ञान है। जैसे कि आसानीसे यह कह दिया जाता है कि भगवानने जाना सो हो गया याने भगवानने जाना इसलिए हो गया, यह कारण कार्य न बनेगा पर यह कारण कार्य तो बन जायगा विषयीके रूपसे कि चूंकि ऐसा होना था सो भगवानने जान लिया। तो भगवानका ज्ञान केवल ज्ञाता मात्र है। जो था, जो है, जो होगा वह सब भगवानके द्वारा ज्ञात है।

प्रभुकी उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्णता—कोई शंका कर सकता है कि तीन कालकी बात भगवान जानते हैं। यह बात कैसे समझें? अरे जो वर्तमानमें पड़ा होगा सो झलकेगा, भूत भविष्य कैसे ज्ञानमें आयगा? तो आप भगवानकी बात थोड़ी देरको छोड़ो, अपनी ही बात सम्हाल लीजिए, अपनेको किसी भी ढंगसे हो, भूत कालकी कुछ चीजोंका ज्ञान होता है या नहीं? कमसे कम इसी भवमें ५-७ वर्षकी उम्र तकका अबसे पहलेका बहुतसा ज्ञान चलता है। जो जो देखा जो जो परिचयमें आया उस सब विषयक ज्ञान चलता है। तो इसमें भी तो भूतकाल विषयक ज्ञान चलता है, भविष्यका

भी चलता है। चाहे वह सही निकले या नहीं, मगर कला है ऐसी कि भविष्यका जाने। किसके सही निकल आता है, तो भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान प्रभुके होता है, सबका होता है। स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है? यों मोक्षपद उत्कृष्ट ज्ञानसे परिपूर्ण है। आनन्द भी वहां परिपूर्ण है, क्योंकि आनन्दके बाधक हैं अष्ट कर्म—चार घातियाकर्म, मोहनीयकर्म, वेदनीयकर्म, संसारके विषयोंका आश्रय लेना, ये सारीकी सारी बातें शिवपथमें नहीं है, इस कारण वहां सुखमें कोई बाधा नहीं है। जो सुख थोड़ा बहुत यहां मालूम होता है वह सुख क्या है? वह शान्तिकी वस्तु नहीं है, किन्तु कल्पनामें बड़ा दुःख न रहा उससे कुछ सुखका अनुभव किया जाता है। जैसे मानों किसीको १०५ डिग्री बुखार है, उतर कर रह गया १०१ डिग्री, अब उससे कोई पूछे कि भाई अब कैसी तबियत है? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है। अरे ठीक कहां है? अभी तो १०१ डिग्री बुखार है, पर वह थोड़ा कम हो जानेसे मानता है कि ठीक है, तो ऐसी ही आप संसारकी सारी स्थितियोंमें परखलो कि जिसको हम सुख मानते हैं वह सुख नहीं है। है वास्तवमें दुःखरूप, पर अन्य दुःख कुछ कम हो गया इस कारण अपनेको सुखी मान लेते। वस्तुतः देखा जाय तो संसारके सभी सुख आकुलतासे भरे हैं। भले ही मोहके कारण उन आकुलतावोंपर दृष्टि नहीं डाल पाते। तो जहां इष्ट समागमका आश्रय नहीं, वेदनीय कर्म नहीं; मोहनीय नहीं, चार घातिया नहीं, अष्ट कर्म नहीं,शरीर नहीं, वहां पर सुख दुःखका क्या प्रसंग है। और सुख दुःखसे रहित जो अवस्था है वह अनन्त आनन्दरूप अवस्था है। तो वह शिवपद उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ है।

जैन शासनका सर्वत्र प्रसार न हो सकनेके तीन कारणोंमें प्रथम कारणका निर्देश—युक्त्यनुशासनमें पूज्य समंतभद्राचार्यने प्रभुकी स्तुति करते हुए बताया है कि हे भगवान आपके गुण इतने अपार हैं कि कोई उनका वर्णन कर ही नहीं सकता है। हां हम अगर कुछ कह सकते हैं तो इतना ही कह पाते हैं कि भगवान काष्ठागत ज्ञान और आनन्द वाले हैं अर्थात् सर्वाधिक ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण हैं। इतना ही हम बोल सकते हैं, इससे अधिक हम कुछ कह नहीं सकते। अब बात देखो कि कह तो सब डाला, इससे अधिक कहनेको क्या था? उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट आनन्दसे परिपूर्ण है। खैर यह तो स्तुतिकी बात है किन्तु वहां कोई मानो भगवानकी ओरसे वकील बोला कि यह तो बताओ कि जब स्तुतिमें बताया है कि हे प्रभु आप अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दमय हो, और तुम्हारा शासन निर्मल है जीवोंको तार देने वाला है तो इतनी बड़ी अच्छी चीज है जैन शासन, किन्तु सारे विश्वमें इसका सर्वाधिक प्रचार क्यों नहीं है। याने सर्वत्र केवल एक शासन क्यों नहीं माना जा रहा है? तो उसका उत्तर श्री समंतभद्राचार्यने कहा है—कालः कलिर्वा कलुषाशयोवा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयोवा। त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः। अर्थात् हितकारी शासनका आधिपत्य सर्वत्र न होनेके क्या हैं कारण सो सुनो—तीन कारण हैं उसके। (१) प्रथम कारण तो यह है कि आजका काल पंचमकाल है, कलिकाल है। इस कलिकालमें लोगोंकी भावनायें खोटी होती हैं, धर्मके प्रतिकूल होती हैं विषय सुखोंमें प्रगतिकी भावना होती है, धार्मिक चीजोंमें विघ्न करनेमें संतोष माननेकी प्रकृति बनती है, ये सारी बातें कलिकालके दोषसे होती रहती हैं। सो प्रभु आपका यह शासन जो सर्वत्र नहीं फैल

पा रहा है उसका प्रथम कारण है कलिकाल। पंचमकालके अन्तसे जैन शासन तीर्थरूपमें नहीं रहनेका। वस्तुमें तो धर्म रहेगा पर तीर्थरूपमें न रहेगा। जैन शासनने बताया है कि वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त है। तो क्या वस्तुका धर्म भी मिट जायगा। जो पदार्थका धर्म है मेरा असाधरणस्वरूप है, आत्माका असाधारण चैतन्य स्वभाव है वह कभी नहीं मिटता। धर्म कभी खतम न होगा। धर्म है वस्तुका स्वभाव। धर्म है तो वस्तुमें, वस्तुका धर्म सदा रहेगा, पर उसके जानकार न रहेंगे और उस ज्ञानपर अमल करने वाले न रहेंगे, यह स्थिति बनेगी पंचमकालके अन्तमें। यह कहलाता है धर्मका विनाश। तो प्रभु आपका शासन जो एकाधिपति रूपमें जगतमें नहीं है उसका पहला कारण है कलिकाल।

जिन शासनका सर्वत्र आधिपत्य न होनेका दूसरा कारण है—श्रोतावोंका मलिन अभिप्राय होना। यद्यपि एक सभावोंके रूपसे प्रवचनके रूपसे श्रोता वक्ताका सम्बंध चलता रहेगा और सभी श्रोता मलिन आशय वाले हों ऐसा भी नहीं है। श्रोता और वक्ता हितकी इच्छा करने वाले भी होंगे मगर वे बहुत कम। बहुतसे श्रोताजन तो यही बात देखेंगे कि वक्ताकी कोई बात पकड़ें और श्रोतावोंके बीचवक्तासे कोई ऐसी चर्चा छेड़ दें कि जिससे श्रोताजन समझलें कि यह श्रोता तो बड़े जानकार हैं, अथवा कोई ऐसा प्रश्न छिड़ जाय कि जिसका उत्तर वक्ता न दे सके तो इससे हमारी महिमा जाहिर होगी या अन्य-अन्य प्रकारके अनेक भाव श्रोतावोंके बन सकते हैं। तो जब श्रोतावोंका आशय कलुषित है तो फिर जैन शासनकी प्रभावना बन कैसे सकेगी? तो दूसराकारण है—श्रोतावोंका कलुषित आशय। एक ऐसी कथा बड़ी प्रसिद्ध है कि एक राजाको एक पुरोहित प्रतिदिन कथा सुनाया करता था। एक दिन उस पुरोहितको किसी कामसे कहीं बाहर जाना पड़ा तो उसने अपने बेटेको शास्त्र सुनानेके लिए कह दिया। सो उस पुरोहितका बेटा उस दिन राजाको कथा सुना रहा था। उस कथामें एक प्रकरण ऐसाआ गया कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा। अब राजा तो मांस बहुत खाता था सो उसको वह बात काफी खटकी। दूसरे दिन जब पुरोहित आया तो राजा नाराज होने लगा उस पुरोहित पर। तुमने कल कैसा कथा बांचनेवाला भेज दिया था, वह तो कुछ नहीं जानता। ··· अरे कैसे नहीं जानता महाराज? वह तो बनारसका पढ़ा हुआ है। काफी विद्वान है। अरे वह तो कह रहा था कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा ···। तो राजाके मनकी बात समझ गया पुरोहित और बोला—हां उसने ठीक कहा था महाराज। ··· कैसे? ··· इस तरह कि उसने यही तो कहा था कि जो रत्ती भर मांस खावे वह नरक जायगा। उसने यह तो नहीं कहा कि जो बहुत अधिक मांस खाता हो वह नरक जायगा। तो इस प्रकारका अपने मन माफिक उत्तर सुनकर राजा उस पर बड़ा प्रसन्न हुआ। तो इस कालमें श्रोतावोंका मलिन आशय है। वे अपने मनपसंद बात सुनना चाहते हैं। यदि मनपसंद बात न हुई तो झट कह उठते कि यह प्रवचन तो बेकार है। इससे किसीको क्या लाभ?

वीरशासनका एकाधिपत्य न होनेके कारणोंमें तीसरा कारण—वीर शासनका एकाधिपत्य न होनेका तीसरा कारण है कि वक्ताओंको नयोंका ज्ञान नहीं है। अभी कल ही एक जिकर आया था ज्ञप्ति और निष्पत्तिका। चर्चामें था कि ज्ञप्तिकी दृष्टिसे वर्णन और तरह होता है और निष्पत्ति याने उत्पत्तिकी दृष्टिसे वर्णन और प्रकार होता है। जैसे एक दृष्टान्त लो—ऊपर पानी खूब बरषा और यहां

नीचे हम आप रह रहे, यहां पानीका बाढ़ आ गया तो जानकारीकी ओरसे तो यों कहा जायगा कि यह बाढ़ आयी है तो ऊपर पानी बरषा है। याने बाढ़ आना तो वर्षाकी ज्ञप्तिका कारण बन गया और पानी बरसना ज्ञप्तिमें कार्य बन गया। साधनसे साध्यका ज्ञान हुआ। साधन हुआ बाढ़का आना और साध्य हुआ पानीका बरसना। पर उत्पत्तिकी अपेक्षा देखिये तो यों बोला जायगा कि ऊपर पानी बरसता है यह तो है कारण और बाढ़ आयी यह है कार्य। अब कोई उत्पत्तिकी बात समझाना चाहे और ज्ञप्तिका प्रसंग छोड़कर उसमें बताये कि देखो जब बाढ़ आयी है तो पानी बरसता है, यह बात जाननेके लिए तो ठीक बैठती है मगर उत्पत्तिके लिए ठीक नहीं बैठती कि देखो बाढ़ आना कारण हुआ ना और पानी बरसना उसका कार्य हुआ। तो देखो एकदम उल्टी बात समझायी गई। जो बात ज्ञप्तिसे समझना था उस रूपमें उत्पत्ति बात समझा दी गई। तो वहां नयोंका ज्ञान नहीं है यह ही तो कहा जायगा द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है। अब कोई अनित्यकी बात कहे तो यही तो कहेगा कि पर्याय दृष्टिसे जीव अनित्य है। अगर पर्याय न हो तो जीवकी सत्ता नहीं रह सकती। पर्यायशून्य कोई द्रव्य नहीं होता। तो पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है, द्रव्य दृष्टिसे नित्य है। अब इन नयोंका कोई परिचय न पाये और वक्ता बन जाय तो उससे जगह-जगह त्रुटि होगी। तो वक्ताजनोंको नयोंको ज्ञान न होनेसे जैन शासनकी प्रभावना नहीं हो पाती। ये तीन कारण हैं जिसकी वजहसे हे प्रभो आपके शासनका एकाधिपत्य रहे यह बात नहीं बन पाती।

काष्ठागतविद्या विभव एवं अमल शिवपदकी प्राप्तिका उपाय—तो देखिये—शिवपदकी बात कही जा रही है। वहां उत्कृष्ट तो ज्ञान है और उत्कृष्ट आनन्द है। ज्ञान और आनन्दका वैभव काष्टागत है, ऐसा वह शिवपद है, जहां कोई मल नहीं रहा। मल तीन प्रकारके होते हैं। (१) द्रव्यकर्म, (२) भावकर्म और (३) नोकर्म। द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म हैं, वे न रहे मोक्षमें। भावकर्म हैं रागद्वेषादिक विकार। ये भी नहीं हैं मोक्ष में। नोकर्म कहलाता है शरीर, वह भी नहीं है मोक्षमें। इस कारणसे सिद्ध प्रभु अत्यन्त निर्मल कहलाते हैं, ऐसा अमल है वह शिवपद। अब उस मोक्षपदमें अन्दरकी बात देखिये—और यह भी सोचिये कि इन तीन मलोंको हटाया कैसे गया? इन मलोंकी बात चित्तमें रखकर मैं इनका नाश करूं, मैं इनको हटाऊं, ऐसा कहकर ये हटाये नहीं जा सकते। उनके हटानेका भी साधन स्वभावदृष्टि है। आत्माका जो असाधरण स्वभाव है, उस स्वभावकी दृष्टि करना यह ही है एक पौरुष जिस पौरुषके बलसे यह आत्मा मोक्षपद प्राप्त करता है। जो व्यवहारचारित्र है, अणुव्रत, महाव्रत, ऐसी प्रवृत्ति करना, ऐसा चलना, ऐसा निरखना आदिक जो भी स्वाध्याय आदिक व्यवहार धर्म हैं वे धर्म इस लिए करने पड़ते हैं कि इस जीवपर अशुभ विषयवासना हावी है, क्योंकि अनादिकालसे इनका संस्कार है, सो वे अशुभ विकार विदा हों, मेरेमें न आ सकें, शुद्धोपयोग तो अभी बन नहीं रहा, अशुभोपयोग और शुभोपयोगकी योग्यता है तो ये विकार हमपर हावी न बन जायें, उस अशुभोपयोगको टालनेका तत्काल सीधा सुगम उपाय शुभोपयोग है। उन व्यवहार धर्मोंसे हम अशुभोपयोगको टालते और शुद्धोपयोगके पात्र रहते हैं, उसी शुभोपयोगके प्रतापसे कभी शुभोपयोगकी सीमासे आगे बढ़कर शुद्धोपयोगमें भी पहुंच जायेंगे। तो यह एक स्वभावदृष्टिको दृढ़ बनानेके लिए ये शुभोपयोगके भी

प्रयत्न होते हैं और शुद्धोपयोगका पौरुष होता है। कार्य एक ही है हम आपको करनेका कि हम अपने स्वभावकी दृष्टि रखें, इस ही के प्रतापसे ये दर्शन ज्ञान चारित्रवान भव्य जीव मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं।
धर्मेंद्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवंच जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

सम्यक्त्वके प्रतापसे लोकमें महिमायुक्त बनकर अन्तमें शिवपदका लाभ—जिनकी जिनेन्द्रदेवमें भक्ति है ऐसे भव्य जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष कैसे कैसे भव धारण करके ये मुक्तिको प्राप्त हुए यह वर्णन इस छंद में किया गया है। जैसे एक यह क्रम बताया गया है कि निगोदसे निकलकर यह जीव पृथ्वीकाय आदिकमें हुआ। वहांसे दो इन्द्रिय, फिर तीन इन्द्रिय, फिर चार इन्द्रिय फिर पञ्चेन्द्रियआदिक बताते हैं, तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि निगोद सभी इसी क्रमसे उद्धार करते हैं, पर एक क्रम बताया है कि यदि ओटोमेटिक एकके बाद जो पास वाला विकास है उसे प्राप्त कर करके विकसित होगा तो इसढ़ंगसे विकसित होगा, ऐसे ही यहां समझिये कि इस छंदमें सम्यग्दृष्टि जीवके उत्थानकी बात कही जा रही है, सो कोई ऐसा नियम नहीं है कि इसी ढंगसे ही उत्थान हर एक कोई करेगा। किन्तु कोई भव्य प्राणी अच्छेसे अच्छे ढंगसे लौकिक वैभवको प्राप्त होता हुआ निर्वाणको प्राप्त करे तो उसका चित्रण यहां किया गया है। वह सम्यग्दृष्टि भव्य इस मनुष्यभवसे चलकर स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। जहां ऊंची शक्तियां सुख वैभव है ऐसे ऊंचे देवोंमें उत्पन्न होता है। इन्द्र होता है, देवेन्द्र समूहमें पूज्य होता है, यह सम्यग्दृष्टिकी एक पहली बात कही है। उन स्वर्गोंमें नाना प्रकारके सुख भोगते हुए भी अपने आत्माकी सुध बराबर बनाये रहता है। जब उस देवेन्द्रकी आयु पूर्ण होती है, महर्द्धिक देवकी आयुका क्षय होता है, नई आयुका उदय होगा मनुष्यका तो वह पृथ्वीपर आकर ३२ हजार राजावोंके मस्तिष्कसे पूज्य ऐसा चक्रवर्ती बनता है और चक्रवर्ती भवमें धर्मपालनकर अहिमिन्द्रलोककी महिमाको प्राप्त होते हैं। अहिमिन्द्र कहां रहते हैं? लोकके अन्तमें। जिसे अन्य लोग बैकुण्ठ कहा करते हैं वहांसे अहमिन्द्र प्रारम्भ होता है। उनका बैकुण्ठ किस प्रकारका है सो उनका उन जैसा अभिमत है पर बैकुण्ठ कहो, वैकण्ठ कहो या नवग्रैवयक कहो, शब्ददृष्टिसे दोनोंका एक अर्थ है। कंठ कहो, ग्रीवा कहो, इस कंठका ही नाम है। और लोककी रचनामें यह कंठ पड़ता है स्वर्गसे ऊपर, उनकी अहिमिन्द्रलोकमें उत्पत्ति होती है, तो मानों उन्होंने इस सारे लोको नीचा कर दिया। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्द्धलोक, इनमें मध्यलोकसे ऊपर यह अहिमिन्द्रलोक है, वहां यह सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है। वहां वह आयुको पूर्ण करके मनुष्यलोकमें तीर्थंकर होता है जो धर्मेन्द्रचक्रका स्वामी है, तीर्थंकर तीर्थका करने वाला है, ऐसे उस तीर्थंकर पदको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त होता है, याने सम्यग्दृष्टि जीव खास ऊंचे भव पायगा तो इस क्रमकी बात कही गई है कि वह देवलोकमें गया, फिर चक्रवर्ती हुआ, फिर अहमिन्द्र लोक गया, फिर तीर्थंकर हुआ, इसने तीर्थंकर प्रकृतिका कहां बंध किया चक्रवर्ती पदमें। ऐसा ही ऊंचा धर्मध्यान दर्शन विशुद्धि हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर अहिमिन्द्र लोक गया, वहांसे चलकर तीर्थंकर हुआ। जो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है। उसके प्रायः तीन भव होते हैं।

सम्यग्दृष्टिकी अध्यात्मप्रगति—यहां यह जानना कि उस सम्यग्दृष्टि जीवने दर्शनविशुद्धि भाव किया तत्त्वार्थश्रद्धान किया और अनन्तानुबंधीके अभावसे उसकी स्वरूपदृष्टि बनी। यह एक प्रताप जगता है सम्यक्त्वके अभ्युदयमें। अनन्तानुबंधी कषाय स्वरूपाचरणका घात करती है। अनन्तानुबंधी कषाय न रही तो स्वरूपाचरण प्रकट होता है। स्वरूपाचरण पूर्ण प्रकटनहीं हुआ यहां, कुछ अंशमें प्रकट हुआ है। पूर्ण स्वरूपाचरण तो कहलाता है स्वरूपमें मग्न हो जाना। यह स्वरूपाचरण तो उत्तम कषायरहित जीवोंके हुआ करता है, पर वही स्वरूपाचरण है, जिसकी श्रद्धा होनेसे, स्वरूपकी श्रद्धा होनेसे वह सम्यक्त्वाचरण रूप है। देखिये—स्वरूपाचरणको तो मान लीजिए एक विकास और कम जगह होना, अधिक जगह होना, उत्कृष्ट विकास होना, इन रीतियोंसे देखिये तो सम्यक्त्वाचरण रूप स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानमें होता है। अणुव्रतरूप स्वरूपाचरण ५वें गुणस्थानमें होता है। महाव्रतरूप स्वरूपाचरण छठवें सातवें गुणस्थानमें होता है। फिर स्वरूपरमण रूप स्वरूपाचरण श्रेणियोंमें है और स्वरूप मग्नतारूप स्वरूपाचरण कषायरहित जीवोंमें है। तो स्वरूपाचरण एक आधार मान लीजिए और उनके विकासके इस प्रकार विभाग बना लिये जायें तो कोई विवाद नहीं रहता। अब स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानसे होता, स्वरूपाचरण भगवानके होता, ऐसी बात लेकर जो विवाद उठ रहा है वह विवाद इस विकासके भेदसे जहां जिस भूमिकामें जितने अंशमें प्रकट है उतना स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं है। तो चौथे गुणस्थानमें अभी अप्रत्याख्यानावरणका उदय है मायने देश चारित्रको घात करने वाले कषायका उदय है इस कारण अणुव्रत नहीं हो पाता। देश चारित्र नहीं हो पाता और प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे सकल चारित्र नहीं होता फिर भी सम्यग्दृष्टि जीवके दृढ़ भेदविज्ञान है।

सम्यग्दृष्टिका तत्त्वचिन्तन—मैं क्या हूं, मैं अपने आपमें अमूर्त ज्ञानमात्र परिपूर्ण सत् सामान्य कारण समयसार हूं। चूंकि जो द्रव्य होते हैं वे परिणमे बिना रह नहीं सकते निरन्तर परिणमते रहेंगे, तो उसके परिणमनमें ये गुणस्थान हुए हैं। गुणस्थान परिणमनके निमित्त है, ऊंचे हुए तो वे विकासमें निमित्त हैं। तो यह विकास होता है, गुणस्थान होता है पर मैं स्वयं अपने आप सहज क्या हूं? तो वह हूं मैं एक सामान्यचैतन्यस्वरूप। वह मैं देहसे निराला हूं, देह मूर्तिक है मैं अमूर्त हूं। कर्मसे निराला हूँ, कर्म मूर्तिक पुद्गल हैं, मैं अमूर्त हूं, कर्मका उदय होनेपर जो विभाव जगते हैं उन विभावोंसे मैं निराला हूं, वे विभाव औपाधिक हैं, मैं सहजस्वभाव हूं ऐसा अपने आत्माके स्वरूपका जिसके दृढ़ भेद विज्ञान है, परिचय है और यह जीव अपने ज्ञानस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि लिए हुए है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानतत्त्व हूं, ज्ञानी जीवके पर्यायमें आत्मबुद्धि स्वप्नमें भी नहीं होती, यह मुख्य बात है। यह भव, यह शरीर यह सब पर्याय है, इस पर्यायके प्रति यह मैं हूं, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीके नहीं जगती। उसकी यह श्रद्धा होती कि इस शरीरसे निराला ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्महितके अर्थ चिन्तन करता है कि हे आत्मन ! तू भगवानके परमागमका शरण ग्रहण कर। वस्तुतः आत्माके सही सहज स्वभावका परिचय है। परिचय ही मात्र शरण है और वह परिचय मिलता है भगवानके आगमके अध्ययनसे। इस लिए हमको प्रभुका उपदेशही शरण है। यह जिनागम, परमागम ही शरण है। परमागमका ग्रहण कर उसका शरण लें और ज्ञानदृष्टिके द्वारा अपने अन्दर अवलोकन करें। यह स्पर्श रस, गंध, रूपमय शरीर तेरा

कुछ भी नहीं लगता यह पौद्गलिक है। कर्म भी पौद्गलिक हैं और क्रोध, मान माया, लोभादिक जो विकार तेरेमें उछलते हैं ये भी कर्मोदय जनित हैं, विकार हैं ये भी तेरे स्वरूप नहीं हैं। हर्ष घमंड जो कषायरूप प्रवर्तन ये भी कर्मजनित विकार हैं। ये तेरे स्वरूप नहीं हैं। "सर्वगतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमें रह उनसे न्यारे।" तू जिस गतिमें रह रहा है उस गतिसे निराला है, तू जिन भावोंमें रह रहा है उन भावोंसे निराला है। यह पर्याय तेरा स्वरूप नहीं।

ज्ञानीके पर्यायबुद्धिका अभाव—जो अज्ञानी है वह ही ऐसा विकल्प रखता है कि मैं काला हूं, गोरा हूं, राजा हूं, रंक हूं आदिक। ज्ञानी जानता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, गोरा नहीं, काला नहीं, राजा नहीं, रंक नहीं, व्यापारी नहीं गृहस्थ नहीं, मुनि नहीं, परिवार वाला नहीं, मैं तो स्वतंत्र सत् चैतन्यमात्र हूं। ये सब बातें हो तो रही हैं पर मैं नहीं हूं, कर्मोदयसे सब बातें हो रही हैं, अज्ञानीजनोंके ही विकल्प चलते हैं। मैं स्वामी हूं, सेवक हूं, बलवान हूं, कुरूप हूं, पुण्यवान हूं, पापी हूं आदिक अनेक तरहके विकल्प चलते है क्योंकि उसके पर्यायबुद्धि लगी है। पर ज्ञानी जीवके पर्यायबुद्धि नहीं है, इसलिए वह देहादिक सम्बंधी किसी भी पदार्थरूप अपनेको मानता नहीं है। परपदार्थोंके सम्बन्धसे भी मैं धनी हूं। न रहे सम्बन्धसंयोग निकट तो मैं निर्धन हूं आदिक विकल्प करता है। पर अत्यन्त प्रकट परवस्तुसे मेरा क्या सम्बंध है? मेरा तो औपाधिक भावोंसे भी मेरे स्वरूपका सम्बंध नहीं है। तो ज्ञानी जीवके यथार्थ भान रहता है। मैं पुरुष नहीं, मैं स्त्री नहीं, मैं ब्राह्मण नहीं, मैं क्षत्रिय नहीं, मैं वैश्य नहीं, मैं शूद्र नहीं, ये सब विकल्प शरीरके आधारमें जगते हैं। मेरे आधारमें तो मेरा सहज ज्ञानस्वरूप है। मैं इस रूप नहीं, धार्मिक प्रसंगोंमें अज्ञानी जानता कि मैं धर्मात्मा हूं, गुरु हूं, शिष्य हूं आदिक पर ज्ञानी जीवके यथार्थ प्रतीति है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूं। ये सारे कर्मोदयसे उत्पन्न हुए ठाठ हैं। मेरा स्वरूप है ज्ञानमात्र, मेरा काम है ज्ञाता दृष्टा रहना। ज्ञानी जीव साधु भी हो जाय तो भी उसकी यह दृढ़ प्रतीति है कि मैं साधु नहीं, मैं चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूं, क्योंकि साधुपना पर्यायकी चीज है। पर्यायरूप यह आत्मा अपनेको मानता नहीं है। यह लोक मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं, ग्राम मेरा नहीं, सब कर्मोदयकी बात है। कौन-कौन क्षेत्रमें कैसे कर्म उत्पन्न करता है। कर्म नहीं उत्पन्न करता, निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि जो जैसा कार्य होना होता है उस निमित्तको पाकर इस कर्मविपाकसे मैं किन-किन अवस्थावोंको प्राप्त होता हूँ? मिथ्यादृष्टि जीव परकृत पर्यायमें ममत्व मानता है, मिथ्यादृष्टि जीव अपनेको किस-किस प्रकसंकी, परसंसर्गकी स्थितियोंमें मानता है कि यह मैं हूं, इसीसे मेरा बड़प्पन है। इसीसे मेरा यश है। इसके साथ मेरी घटी है, वृद्धि है, इस प्रकार नींच ऊंच सब प्रकारके विकल्प करता है।

ज्ञानीकी संचेतना—ज्ञानी पुरुष अपने आपमें केवल ज्ञानमात्र तत्त्वको निरखता है। ज्ञानवृत्ति, इस कार्यको देखता है और ज्ञानके साथ आनन्द जुटा है सो उसका अनुभवन यह कर्मफल देखता है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना, निश्चयसे तो ज्ञान चेतना है, ज्ञानमें ज्ञानका चेतना। पर उसके दो प्रतिफल बनते हैं—कर्म और कर्मफल चेतना जो ज्ञान द्वारा किया जा रहा है वह ज्ञानका कर्म है। और ज्ञानसे किये गये को जो भोगा जा रहाहै वह ज्ञानके कर्मका फल है। पौद्गलिककर्म, पौद्गलिक कर्मफल ये सब व्यवहारसे चेते गए हैं पर निश्चयः परमार्थतः क्या देखना—यह है वह परिणमता है

और अपनेको भोगता है, ऐसा अद्वैत अभेदरूप अपने आपको अन्तः स्वरूप निरखता है ज्ञानी। अज्ञानीजन परवस्तुवोंमें अपना संकल्प करके आर्तध्यान रौद्रध्यान इनमें ही व्याकुल रहते हैं, इष्टका वियोग हो तो उसके संयोगके लिए चिंतन चलता है, अनिष्टका संयोग हो तो उसके वियोगके लिए चिन्तन चलता है। वेदनासे दुर्ध्यान बना, आगेका निदान करके दुर्ध्यान बना। क्यों बना दुर्ध्यान कि उसने परवस्तुमें आत्मत्वका अनुभव किया। यहां एक बात और भी समझें कि मूलमें यह जीव विकारमें आत्मतत्त्व अनुभवता है। तो जहां जड़ ही खोटी है, भीतर विकारको ही आत्मस्वरूप मानता है तो उस आधारपर इन बाह्य पदार्थोंको भी आत्मा मानने लगा। तो जब यह पर तत्त्वोंमें आत्मत्व मान रहा तो कदाचित यह धर्ममार्गमें लगे, धर्ममार्ग तो नहीं पा सकता, पर व्यवहारमें जैसे लोग समझा करते हैं कि अब यह धर्ममार्गमें लगा, तो वहां समझता है कि मैं धर्मका अधिकारी हूं और कुछ जिनधर्मकी बात सीख ली जो अज्ञानी होनेके कारण उसमें नवीन नवीन अपने परिणाम बनाता है, अपनी नई नई युक्तियां खोजता है, लोगोंको भ्रम उपजाता है और अपने ज्ञानीपनेका अभिमान रखता है और फिर सूत्र विरुद्ध, आगमविरूद्ध अनेक कथनी करता है। जिनागमके प्रसादसे थोड़ा ज्ञान करता है, यह जानकर मिथ्यात्वके उदयमें जिनागमका कृतघ्न बन जाता है। उसका उपकार नहीं मानता और अपनी युक्तियां नवीन-नवीन बनाकर नई-नई बातें करता है किन्तु ज्ञानी जीव अपनेआपमें अपने ही तत्त्वको अनुभवता है। कितने ही अज्ञानी जीव जिनके पर्याय बुद्धि नहीं छूटी जो इस देहमें ही आपा मानते चले आ रहे हैं वे एक भावुकताके कारण सर्व बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर दें, निर्ग्रन्थ दिगम्बरभेष धारण करलें और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका सेवन त्याग दें, तिसपर भी यह मैं हूं, मैं मुनि हो गया हूं। मुझको इस तरह चलना चाहिए, ऐसा पर्यायमें आपा मानकर वे अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं और जगतके अन्य जीवोंकी निन्दा करते हैं। मैं अच्छा आचरण करता हूं, अन्य लोग मुझ जैसा आचरण नहीं कर सकते, इस तरह निन्दाकी दृष्टि रखते हुए अपने आपमें अपनी प्रशंसाका भाव रखते हुए मिथ्याभावमें वह जाते हैं, किन्तु जिन्होंने अन्दरमें स्वभाव और विभावका भेद पहिचाना वे विभावोंसे हटकर स्वभावमें रमते हैं। अज्ञानीजन दूसरोंके दोष देख देखकर उन दोषोंको दूसरोंसे बता बताकर अपनेमें मौज मानते हैं। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव प्रत्येक जीवमें मूलमें उस स्वभावको निरखते हैं और ऐसा ध्यान रखते हैं कि मेरे इस आत्माका कोई विरोधी नहीं है। आत्मा तो स्वभावसे स्वरूपसे ज्ञानानन्दमय है। यह जो कुछ हुआ है यह सब उपाधिकृत हुआ है।

ज्ञानी और अज्ञानीके आशयमें महान् अन्तर—ज्ञानीकी दृष्टि सहज स्वभावपर रहा करती है और उसे ही वह आत्मतत्त्व मानता है। कितना अन्तर आ जाता है स्वरूपके निरखनेमें और स्वरूपसे बेसुध रहनेमें ही सारी पलट हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवका व्यवहार मोक्षमार्गके अनुकूल बनता है तो अज्ञानी जीवका व्यवहार संसारमें रुलनेके अनुकूल बनता है। कदाचित् थोड़ासा कुछ अच्छा पा लिया तो वह धर्मकी बड़ी बातें भी करने लगता और वहां अनन्तानुबंधी मानका उदय भी आ जाता जिससे वह अपने आपको तो धर्मात्मा मानता है और अन्य जीवोंकी निन्दा करता हुआ उनको अधर्मी बताता है। बाहरमें अगर कुदेव आदिकको नमस्कार नहीं किया तो कुदेव आदिकको तो तिर्यञ्च भी

नहीं नमस्कार करते। इतने मात्रसे बड़प्पन नहीं बनता किन्तु अपनेमें सहज स्वरूपका अनुभव करनेसे महत्त्व बनेगा। मैं क्या हूं? सहज अपने आप सत्त्वके कारण, उसका उत्तर आना चाहिए। उसकी अनुभूति बने तो सम्यग्दृष्टि जीवको बनती है। वह प्रकट करता है। सर्व ओरसे पौरुष यही करने योग्य है कि मैं जगतके अन्य सब पदार्थोंसे, परभावोंसे निराला इस सहज ज्ञानमात्रको ही अनुभवूं कि यह मैं हूं। धर्मपालन करके यह ही तो परीक्षा करें कि मैं अपने चैतन्यस्वरूपको यह मैं हूं ऐसा मान पाया या नहीं, इसमें दृढ़ हो पाया अथवा नहीं। यदि नहीं हो पाये दृढ़, अपने स्वरूपको हम आप नहीं मान पाये तो अपनी त्रुटि समझना, आगे इसके लिए पौरुष करना, पर किसी थोड़ी सी धर्मक्रियामें संतुष्ट होकर जो अपनेको कृतकृत्य मान लेगा उसका तो आगे उद्धार ही नहीं है। तो भाई मिथ्यात्वभाव इस जीवके अनादिसे लगा हुआ है और वही ढंग अब भी चलाया तो इस भवके पानेका क्या फल मिला? तो अपने आप पर ही अब कुछ करुणा करके सोचना चाहिए। अपना संसारमें रुलना छुटाना ही चाहिए। भैया, अब संसारमें रुलना पंसद नहीं तो संसार है पर्यायमें आत्मबुद्धि। इसको तज दीजिए। मैं वह हूं जिसका पहचानने वाला यहां कोई नहीं है। ऐसे अपने अन्य लोगोंसे अपरिचित निज तत्त्वकी ओर आना हैं। यह जिसके बुद्धि आयी वही पुरुष धन्य है, महा भाग्यवान है, पूज्य है, पवित्र है और जगतके संकटोंसे छुटकारा हो सकता है तो इस ही स्वरूपकी आराधनासे हो सकता है।

प्रथम अध्यायमें सम्यक्त्वके स्वरूप और माहात्म्यका वर्णन—यह रत्नकरण्डका प्रथम अधिकार चल रहा है, जिसमें पूर्व संकल्पके अनुसार सम्यग्दर्शनका वर्णन किया जा रहा है। सम्यग्दर्शन, सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुका श्रद्धान करना, यदि यह बात आ गई तो उसको अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण भी आ गया, क्योंकि देव क्या है? जैसा सहज स्वरूप है वैसा ही प्रकट हो जाना, बस यह ही देव है। शास्त्र क्या है? जैसा आत्माका सहज स्वरूप है उसके समझनेके लिए वैसा करना यह हीं आगम है। गुरु क्या है कि जैसा आत्माका सहज स्वभाव है उसके विकासके लिए जो पौरुष करता है वह गुरु कहलाता है। तो जिन्होंने देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान किया उनको आत्मतत्त्वका सत्य श्रद्धान है ही। तब फलित बात यह है कि जो अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा विश्वास रखता है, प्रतीति करता है वह जीव सम्यग्दृश्टि है। तो सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वकी क्या महिमा है, उस महिमाका यहां अन्तमें सब वर्णन चल रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जितने भव संसारमें रहेगा उनमें अच्छे ढंसे रहेगा और अन्तमें समस्त भवोंको त्यागकर उनसे मुक्त होकर,अष्ट कर्मोंसे रहित होकर, विभाव और शरीरसे रहित होकर केवल ज्ञानपुञ्ज रहकर लोकके अग्रभागमें ठहरेगा और वहां अनन्तकाल तकके लिए सहज अनन्त आनन्द पायगा। यह सब सम्यक्त्वका प्रताप जानकर जीवनमें एक सम्यक्त्वका ही उद्यम हो, ऐसा अपना पौरुष होना चाहिए।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥ ४२॥

दुर्लभ मानवजीवनकी धर्मपालनसे ही सफलता—यह रत्नकरण्डका दूसरा अधिकार चल रहा

है। इसमें सम्यग्दर्शनके स्वरूपका वर्णन है। प्रथम अध्यायमें सम्यग्दर्शनका वर्णन है। जीवका भला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परिणाम हुए बिना हो ही नहीं सकता, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भाव बनाये जा रहे हैं विषयके कषायके, नामवरीके या अन्य अन्य, वे सब थोथे हैं, ऊल जलूल हैं व्यर्थके हैं, संसारके बढ़ाने वाले हैं। मनुष्यभव पाया जो कि एक बहुत दुर्लभ है संसारकी अन्य पर्यायोंको देखो, कितनी कितनी पर्यायें हैं। उन सबसे पार होकर मनुष्यभव मिल जाना उतना दुर्लभ है जैसे कि चिन्तामणिरत्न समुद्रमें डूब जाय उस एकको निकालना कठिन है। बड़ी जिम्मेदारीसे बात सोचना है, ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म को पाकर, जैन शासनको पाकर हमें अपनेको क्या करना चाहिए? देखिये जो गृहस्थावस्थायें हैं उनकी आजीविका चलाये बिना काम चल ही न सकेगा। गृहस्थी है, कुटुम्ब है और गृहस्थी बसायी, क्योंकि मुनि होनेका, बिल्कुल एकाकी रहनेका सामर्थ्य नहीं है, इस कारण गृहस्थी बसायी है। जब गृहस्थी है तो आजीविका मुख्य समस्या है। यह तो करना ही होगा किन्तु आजीविकाका फल कब मिलेगा? जब तक जीवन है तब तक आरामसे रह लिया, सुख सुविधा बना ली, किन्तु यह सुख सुविधा आपको इस जीवनके बाद आगे कुछ काम न देगी। यह आत्मा अकेला ही जायगा। तो आगे जो आत्मा रहेगा वह किस ढंगमें रहे, कैसे रहे, इसकी जिम्मेदारी अपने भावों पर है, अपने भाव यहां निर्मल रहें, सबकी भलाई के रहें, अपने आपके स्वरूपको पहिचान कर अपनेमें संतुष्ट होनेके रहें तो अगला भव अच्छा मिलेगा। मुक्ति तो आजकल है नहीं, आगे धर्मके प्रसंग रहेंगे, भला हो जायगा।

आजीविका और धर्मपालनमें गौणता व मुख्यताका निर्णय—भैया, यह सोचिये कि गृहस्थजनोंको केवल दो ही काम हैं—एक तो है टेम्प्रेरी और एक है परमानेन्ट याने एक गौण और एक मुख्य। गौण तो है आजीविका और मुख्य है धर्मपालन। भले ही अनेक लोगोंके चित्तमें यह बात है कि आजीविका है—मुख्य और धर्मपालन है गौण, मगर ऐसा नहीं है। आजीविकाका फल आप कब तक पायेंगे? अधिकसे अधिक इस जीवन तक इस जीवनके बाद यहांकी सम्पत्तिसे कोई सम्बंन्ध नहीं। आगे काम देगा यहांका धर्मपालन। एक बात और समझिये, आगे ही काम देगा ऐसा ही क्यों कहें? वास्तविक रीतिसे आप धर्मपालन तो करें, यहां भी सुखी रहेंगे। और इस समय जो अनेक प्रकारके अनुकूल प्रतिकूल वातावरण होनेसे दिलको बेचैनी रहती हो, अनेक आरम्भादिकके विषयेांके कारण जो व्याकुलता रहती है वह बेचैनीको दूर करनेमें समर्थ वैभव नहीं है। वैभवके सम्पर्कसे ही तो बेचैनी हुई और वैभवसे ही उस बेचैनीको मिटा दिया जाय यह सम्भव नहीं। तो धर्मपालन से ही बेचैनी मिटती आज भी, अब भी। तो धर्मपालन एक ऐसा अद्भुत वैभव है कि इस भवमें भी आपको शान्ति दे और आगे भी शान्ति दे। तब जीवनका मुख्य उद्देश्य धर्म होना चाहिए।

मनुष्यका धनार्जनपर अनधिकार और धर्मपालनपर अधिकार—और भी सोचिये धनकी कमायी आपके भावोंपर आज निर्भर नहीं है, यह पूर्वकृत पुण्यके उदयपर निर्भर है। भले ही पूर्वमें जो पुण्य बंधा थ वह अच्छे भाव होनेसे बंधा था, तो यों भी कह सकते कि पूर्वभवके अच्छे भावोंका फल है जो आज वैभव समागम मिल सके, पर आजके भावोंका फल नहीं है कि आप धनको जोड़ सकें। कितना ही विचार करें, कितनी ही भावनायें बनायें, आजके भावोंसे आज धन मिले ऐसा कोई सम्बंध

नहीं। तो यह पूर्वकृत पुण्यका फल है, उस पर आपका अधिकार नहीं, जोर नहीं, छांट नहीं, पर धर्मपालनमें आपका आजसे ही अधिकार है। यह भी अन्तर जानें। इसी समय दृष्टि कीजिए अपने आत्माके सहज स्वरूपकी और तत्काल शान्ति लीजिए। धर्मपालनपर आपका आज अधिकार है पर धनार्जनपर आपका अधिकार नहीं है। पुण्य योगसे किसीका पौरुष काम दे देता है तो उसे यह न समझना चाहिए कि मैंने ऐसा पुरुषार्थ किया उससे धन आया। धन आया है पूर्व पुण्यके उदयसे। तो जब इतनी बात है कि धन सम्पदा इस जीवनके बाद काम नहीं देती और धर्मपालन इस जीवनके बाद भी काम दे देता है।

वैभवसम्पर्कसे हुई अशान्तिको दूर करनेका उपाय सम्यग्ज्ञान—और भी समझिये धन वैभवके संयोगसे बेचैनी हुआ करती है अनेक तरहकी। एक तो आगेकी तृष्णासे, दूसरे पाये हुएकी रक्षाकी चिन्तासे, तीसरे जो कल्पनामें मान लिया कि मुझको इसमें इतना लाभ है और वह न हो सके तो मेरे विचारसे आपको यही बेचैनी है। तो वैभवके सम्पर्कसे हुई बेचैनीको वैभवके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, उसे धर्मपालन ही दूर कर सकेगा। फिर तीसरी बात यह है कि धनार्जनपर आपका अधिकार नहीं, धर्म पालनपर आपका अधिकार है। ऐसी सब बात समझकर जीवनमें यह मुख्यता लाना चाहिए कि मुझे सही ढंमें धर्मपालन करना है। यों तो धर्मकी बात बचपनसे ही सब करते आ रहे, मन्दिर आये, समारोह हुए उनमें भाग लिया, विधान हुए, पूजन हुए, सब बातें धर्मके नामपर करते चले आये, पर वास्तविक यत्न क्या है, यह भी सहयोगी है, मगर सही ढंगमें धर्मपालन कहां होता, कैसे होता, वह बात समझना है, और उस ढंगसे आप अपने अन्दर गुप्त ही गुप्त विधिसे धर्मपालन करें, वह काम देगा और मोक्षके मार्गमें लगायगा तो उस धर्मकी बात कही जायगी। यहां प्रकरणमें यह बात जानना कि धर्मपालनका सम्बंध ज्ञानसे है। शारीरिक क्रियायें तो उस ज्ञानका फल हैं कि इस तरहकी सावधानीकी और जिनेन्द्र भक्तिकी चेष्टायें होती हैं, पर वास्तवमें धर्मपालन अपने आपके आत्मामें आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन करनेसे होता है।

सम्यग्ज्ञानके साधन और उनकाधर्मपालनमें सहयोग—सम्यग्ज्ञानके ज्ञानके साधक ४ वेद हैं। (१) प्रथामानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इनका भली भांति थोड़ा अध्ययन होना चाहिए। ये चारों ही अनुयोग सम्यग्दर्शनके साधन हैं, कोई किसी विधिसे ज्ञान बनाता है कोई किसी विधिसे, मगर चारों ही अनुयोग सम्यग्ज्ञानके साधन हैं, तो सर्वप्रथम उन अनुयोगोंका वर्णन करनेके लिए सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कह रहे हैं, पदार्थ जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है, न तो कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेहसहित जाने, किन्तु सही निःसंदेह यथार्थ जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सुख दुःख होना सब ज्ञानकी कलापर निर्भर है। कैसा ज्ञान बने कि सुख हो, कैसा ज्ञान बने कि दुःख हो, आप अनुभवसे विचारलें, सब कुछ आपकी ज्ञान कलापर निर्भर है। बाह्य वस्तुका प्रसंग हमारे सुख दुःखका कारण नहीं किन्तु हमारे सुख दुःख भाव बननेका आश्रय है। कारणमें और आश्रयमें फर्क है। सुख दुःखका कारण तो उस प्रकारका ज्ञान, उस प्रकारका उदय और आश्रय है। जिस पदार्थको हम दिल बसाकर सुख या दुःख पाते हैं वे पदार्थ आश्रयमात्र हैं। वे सुख दुःखके कारण नहीं। तो जब सब कुछ बात हमारे ज्ञानपर ही निर्भर है तो उस ज्ञानकी उपेक्षा न करना, अपने जीवनको शान्त गम्भीर

पवित्र बनायें, भविष्यमें संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जायें, अगर ऐसा भाव है तो ज्ञानकी आराधना करें। दूसरा कोई उपाय नहीं है कि इस जीवको शान्ति मिल सके। अधिकसे अधिक लोकमें धनकी भावना चित्तमें विशेष रहती है उसका ही ख्याल, उसके ही अर्जनकी तरकीब, वही चित्तमें बसती रहती है। तो एक प्राकृतिक बात है कि ऐसा होता है, लेकिन यह तो सोचिये कि उन विकल्प विचारोंमें ही डूबे रहनेसे सिद्धि हुई क्या? और एक धर्मकी दिशामें बढ़े, धर्मपालनकी ओर रहे तो सारे कार्य स्वयमेव होते चले जायेंगे। बहुत पहलेके पुरुषोंकी बात छोड़ो, अपने ही कुटुम्बके दो चार लोगोंको ले लो जो कि अच्छे घरानेके लोग थे उनको धर्मसे कितनी प्रीति थी और धर्मपालनमें उनका कितना समय जाता था। उनके चित्तमें कितनी उदारता थी और सब कार्य आसानीसे चलता ही था।

धर्मपालनका महत्त्व समझकर धर्मपालनके लिये सर्व पौरुषकी आवश्यकता—भैया, अब कुछ चित्त बदलना होगा यह निर्णय रखना होगा कि धर्मपालन ही सारभूत कदम है दूसरा कोई भी कदम सारभूत नहीं है। बाकी तो गुजारा करनेके लिए काम है। उद्धारके लिए तो धर्म काम है, गुजारा भी चाहिए और उद्धार भी चाहिए। गुजारेमें तो कुछ घटा बढ़ी भी हो सकती है, कितनेसे ही गुजारेका काम कर लिया जाय, मगर उद्धारके काममें यह घटबढ़की बात न निभेगी कि ऐसा चलें इसमें भी उद्धार हो जायगा। इस तरह चलें तो इसमें भी उद्धारका काम हो जायगा। गुजारेके काममें तो सैकड़ों बातें निभ जायेंगी पर उद्धारके काममें ये दो बातें भी न निभेंगी। कोई चाहे लखपति हो, चाहे करोड़पति हो, चाहे हजारपति हो, चाहे रोज-रोज खोम्चा फेरकर रोज कमाकर उससे रोज-रोज खर्च कर लेता हो, गुजारा सबका चलेगा, पर उद्धार के ढ़ंग नहीं हो सकते। तब फिर गुजारे वाले साधनमें चित्त को अधिक क्या लगाना? वह तो सुगमतया होगा। पर उद्धार वाले काममें अनेक प्रकार नहीं हो सकते, वह तो एक ही विधिसे होगा, उसमें विशेष उपयोग देना चाहिए। उद्धारका प्रारम्भ है सम्यग्ज्ञानसे। वस्तुको यथार्थ जानियेगा कि मैं क्या हूं, शरीर क्या है। कुटुम्ब क्या हैं? ये बाहरमें दिखने वाले पदार्थ क्या हैं? इसके बारेमें यथार्थ परिचय तो होना चाहिए। यों तो स्वप्नमें भी सबकुछ देखता है। जैसे यहां दिख रहा ऐसे ही सारी बातें स्वप्नमें भी दिखा करती हैं, और स्वप्नमें भी ये दुःखी होना, सुखी होना आदिक सारी बातें निभ जाती हैं, तो उस ही ढंगसे जगतमें भी देखते रहें तो स्वप्नमें भी दुःख और सुख पानेकी अपेक्षा इस जगतमें हमने क्या विशेषता पायी और हम पर बीती हुई एक बातसे हमको तो यह निर्णय है कि कोई धर्मपालन स्वप्नमें भी कर सकता। जिसको धर्मपालन करनेकी धुन बनी है वह स्वप्नमें भी धर्मपालन किया करता है जिसे कहते हैं आत्माका दर्शन, आत्माकी दृष्टि। आत्माके गुणोंको निरखना, यह बात कोई स्वप्नमें भी कर सकता, एक धुन होनी चाहिए उसकी। तो पहली बात निर्णयमें यह रखें कि आजीविकासे भी अधिक महत्त्व है धर्मपालनका। सो आजीविकाके ही विकल्पोंमें निरन्तर बने रहना यह काम नहीं है।

धन वैभव यश कीर्तिकी आत्महितमें अप्रयोजकता—मान लो कदाचित् थोड़ा धन कम मिला तो लोग यह चिन्ता करते कि लोग मुझे क्या कहेंगे। अरे लोग तो क्या कहेंगे इस परसे आपने जीवन चलाया तो समझो कि आप धर्मसे बिल्कुल अलग हो गए। उनका क्या संकोच? धर्मपर अडिग

रहें तो चाहे निर्धनता आये तो उसमें भी प्रशंसा ही है लोगोंके और धर्मसे डिगकर यदि बड़े बड़े वैभवोंमें भी पले तो भी उसे शान्ति नहीं। और ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिसको सब लोग भला कह सकें। है क्या कोई ऐसा काम कि जिसमें सारे लोग उसको कहने लगें कि उसने बड़ा अच्छा किया। कोई कितना ही अच्छा चल रहा है अपने जीवनमें उसे सभी लोग भला कह सकें ऐसा हो नहीं सकता। आप कहें कि जो बड़े बड़े तीर्थंकर हुए हैं उनको तो सब भला कहते तो भाई उन्हें भी सब लोग भला नहीं कहते। हां अधिक लोग भला कहने लगे मगर उनकी बुराई करने वाले, उनका विरोध करने वाले उन तीर्थंकरोंके जमानेमें भी रह आये। किसको आप ऐसा कहेंगे कि इसको सब भला कहने वाले हैं? देशके नेताओंमें भी आप देखलो, बड़ेसे बड़े नेता हुए, आजकल जैसे गांधीजी प्रसिद्ध हुए तो बताओ उनको सभी भला कहने वाले थे क्या? नहीं थे, उनका भी विरोध करने वाले थे, तभी तो उनको विरोधियोंने उन्हें जानसे मारा। यहां है कौन ऐसा जिसके सब समर्थक हों? तो इसका विकल्प छोड़ें कि हम अधिक धनी बनेंगे तो सब भला कह देंगे। धन आने दो पुण्योदयसे जैसा आता है पर उसमें ही रातदिन विकल्प लगाकर रहे आये तो धर्मसे विमुख हो जायेंगे। मुख्यता धर्मको दीजिए।

धर्मका आधार ज्ञान—धर्म मिलेगा ज्ञानसे और ज्ञान वही सम्यक् है जिसमें न कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेह सहित जाने। जैसे एक आत्माके बारेमें अगर यह जान लिया कि जैसा मेरा ज्ञान बना है बस यह ही मैं आत्मा हूं, शास्त्रीय परिभाषामें मतिज्ञान कह लीजिए, बस यह ही मैं आत्मा हूं तो उसने भी कम जाना, वह भी एक अंश है आत्माका, मगर वह परिपूर्ण बात नहीं है। और किसीने यह जाना कि यह मैं आत्मा हूं देहको निरखकर, रूप रस वगैरहको देखकर तो उसने अधिक जान डाला। यह आत्मा नहीं है, यहां तक जान डाला। कोई आत्माको समझे कि यह तो एक उत्पन्न ही होता है कभी और कोई दिन आता है कि मिट ही जाता है तो उसने यह विपरीत जाना, और कोई यों ही संदेह किया करे कि आत्मा है या नहीं तो यह उसका संदेह हो गया। यह सही ज्ञान नहीं है। सम्यग्दर्शन वह है कि जिसमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप समाया हो। जब तक वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होगा तब तक आकुलता न मिटेगी। आकुलता है मोह और रागकी। खूब परख कर लो, रागमें प्रेम करनेमें शान्ति मिलेगी क्या किसीको? पर ज्ञानकी कमजोरी है ऐसी कि राग किए बिना नहीं रहा जाता, मोह किये बिना नहीं रहा जाता, पर ये उपाय शान्तिके नहीं हैं, अशान्तिके हैं।

प्रभुमार्ग पर चलनेकी भावनामें ही प्रभुदर्शनकी वास्तविकता—एक यह ही मोटी बात देखो आप मंदिरमें रोज प्रभु मूर्तिके सामने प्रभुके दर्शन करने, प्रभुका गुणगान करने क्यों आते हैं? किसी दिन न आयें ऐसा आपसे बनता नहीं, पहुंचना ही चाहिए, रोज ही आते, इसीलिए तो आते कि रागद्वेष मोहरहित आत्मामें हमारी दृष्टि जाय। प्रभु रागद्वेष मोहरहित हैं। जैसा उनका निजका स्वरूप है वैसा ही उनके प्रकट हुआ है इसी कारण आप यहां मंदिरमें आते हैं। तो मंदिरमें प्रभुके तो दर्शन करें और अपने आपके बारेमें यह निर्णय बनायें कि मेरेको कष्ट मोह और रागसे है, ये न होना चाहिये, यदि ऐसा निर्णय न बनाया तो भगवानके दर्शन क्या किये? फिर तो समझिये कि यदि यह उमंग नहीं जगती कि मेरेको मोह राग न चाहिए और फिर भी दर्शन करने आते हैं रोज तो उसका मतलब है कि आप

प्रभुके दर्शन करने नहीं आते। प्रभुका स्वरूप सही समझा हो तो प्रभुके दर्शन कहलायेंगे, वह तो यों समझ लीजिए जैसे अन्य लोग भी देवी देवता मानते हैं कि इनके प्रसादसे हमको सांसारिक सुख मिलेंगे, कुटुम्ब बढ़ेगा, अनेक अनेक सम्पन्नतायें होंगी जो जैसे अन्य जन देवताओंकी आराधना कर लते हैं ऐसे ही जिन मंदिरमें आकर वीतराग प्रभुकी आराधना कर ली। वहां यदि यह भाव नहीं आता कि हे प्रभु मेरा तो मोह रागका कलंक छूटे और मैं अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन करता रहूं। जो काम आपने किया सो ही मुझे चाहिए, अगर यह बात नहीं आती चित्तमें तो प्रभुदर्शनका क्या अर्थ? तो यह निर्णय करना है कि मेरेको जीवनमें केवल दोष मेरे मिटें और मेरे गुण ही मेरेमें विकसित हों, बस यह चाहिए। बाहरी कीचड़ पंक न चाहिए, क्योंकि बाहरी बातमें गुजारा करनेके सैकड़ों ढंग हैं, पर मेरा उद्धार हो। मुझे शान्ति मिले, इसका ढंग केवल एक ही है, दूसरा नहीं है, उस ही सम्यक्ज्ञानके विषयमें इस अध्यायमें वर्णन चलेगा।

आगमकी प्रामाणिकताका संकेत व आगमके अनुसार सम्यग्ज्ञानका लाभ पानेका अनुरोध—जो आगमके जानने वाले हैं गणधरदेव, श्रुतकेवली, उनको बताया है कि सच्चा ज्ञान वही है जो वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जाने। जैन शासनमें जो आज शास्त्र उपलब्ध हैं उनकी परम्परा यों रही कि पहले तो साक्षात् तीर्थंकर थे, इस तीर्थमें महावीर भगवान थे। महावीर भगवानके समय साक्षात् उपदेश मिलते थे, दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग अपनी-अपनी भाषामें समझते थे। भगवान महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद गणधर देवसे, और और आचार्योंसे श्रुत केवलीसे भगवानका उपदेश प्राप्त होता रहा, जब ये श्रुतकेवली भी न रहे तो जो थोड़े बहुत अंग पूर्वके ज्ञाता थे उन आचार्योंसे मिलता रहा, ये सब बातें मौखिक चल रही थीं। जब एक अंगके एक देशके ही जाननहार रहे और थोड़ा ज्ञान सभी उपदेशोंका था तो उन आचार्योंने सोचा कि अब इस ज्ञानको लिपिबद्ध करना चाहिए, नहीं तो आगे परम्परा कैसे चलेगी, सो वे लिपिबद्ध हुए बस उन शास्त्रोंसे अन्य शास्त्र, उनसे अन्य शास्त्र बनते गए। तो आज जो पूर्वाचार्योंके शास्त्र हैं उनमें वह बात पायी जाती जो कि भगवान महावीरके समय साक्षात् उपदेशमें मिलती थी। उपदेश क्यों सुनते। शास्त्र क्यों पढ़ते? सबका एक ही उत्तर है कि मेरेको भेदविज्ञान जगे और अपने आत्माके स्वरूपमें मैं रमूं, इसके लिए है स्वाध्याय। बस दूसरा कोई प्रयोजन नहीं। तो सर्वप्रथम चाहिए भेद विज्ञान, जिनके बीचमें रह रहे हों उन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं, यह ज्ञान बसाना है और इस ज्ञानके बसानेके लिए एक बार ज्ञान हो भी जाय तो भी जिन्दगी भर इस ही ज्ञानमें रमण करना है, अन्यथा वह विघट जायगा। मेरेमें यह ज्ञान जिसमें हो रहा है वह कोई वास्तविक चीज है, तो वह मैं हूं। केवल ज्ञानस्वरूप, प्रतिभास मात्र, वास्तविक सत् उसको इन बाहरी बातोंसे अलग करना है और उस ही में अपनी दृष्टि बनाये रहना इसके लिए है स्वाध्याय। स्वाध्यायसे तत्काल शान्ति भविष्यमें शान्ति, मोक्षमें पहुँचेंगे, मुक्तिमें पहुंचेंगे। तो स्वाध्याय और सत्संग इन दो बातोंसे विशेष प्रेम होना चाहिए। भीतरसे हृदयसे भलाईका साधन दूसरा नहीं है, ज्ञान है और ज्ञानके उपाय ये दो हैं मुख्य (१) स्वाध्याय करना और (२) सत्संग करना। सत्संग मिलनेसे तत्काल उपयोग हमारा स्वच्छ होता है, बदलता है, उमंग मिलती है, उत्साह मिलता है, प्रेरणा मिलती है और

ज्ञान भी मिलता है। स्वाध्याय करनेसे भी ज्ञान मिलता है पर उस स्वाध्यायके समय यह ध्यान आता है कि अमुक ऋषिके ये वचन हैं, तो उसमें भक्ति जगती है, हृदय स्वच्छ होता है, इस कारण स्वाध्याय सत्संग के प्रयोगसे ज्ञानवर्द्धन करना हैं, यह अपने जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

प्रथमानुयोग-मर्था-ख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः॥ ४३॥

सम्यग्ज्ञानके साधनाप्रकारोंमें प्रथम प्रथमानुयोगका निर्देश—इससे पहली गाथामें यह बताया था कि न कम, न ज्यादह न विपरीत, न संदेहयुक्त ऐसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानमें प्रयोजन आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान है, अन्यथा सम्यग्ज्ञान न कहलायगा। लौकिक दृष्टिसे तो कहलायगा, पर अलौकिक दृष्टिमें वह सम्यग्ज्ञान नहीं है जो अपने आत्माके स्वरूपका स्पर्श न करे, सबका प्रयोजन ११ अंग १४ पूर्व द्वादशाङ्ग जितने भी आगम है सबका प्रयोजन यह है कि आत्मा अपने सहज स्वरूपको जानले, मानले और उसमें रमले। तो ऐसी वृत्ति कैसे बन सकती है? उसका उपाय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार प्रकारके अनुयोगों से ज्ञान करना है। प्रयोजन सबका यही मिलेगा कि अपने आपके स्वरूपको जानूं, मानूं और उसमें रमलूं, 'आऊं, उतरुं, रमलूं निजमें, समस्त आगमका प्रयोजन इतना ही है, पर उस तक कैसे पहुंचें, उसके उपायमें यह ४ अनुयोगों द्वारा उपदेश किया गया है। (१) पहला है प्रथमानुयोग। प्रथम पुरुषोंके लिए जानकारीका उपाय। प्रथम मायने बहुत-बहुत जो लोग धर्ममें आये हैं या धर्मकी बातको जाननेका भाव रखते हैं ऐसे पुरुषोंका कैसा विश्वास जमें कि हमें उस ज्ञानमें बढ़ना चाहिए। तो यों कहो कि कथा कहानी सबको प्रिय होती हैं, ऐसी एक आदत है तो कल्पित कहानी न कह कर उन पुरुषोंकी कहानी बताते हैं जिन धीर वीर पुरुषोंने धर्मपालन करके आत्मकल्याण किया। उन धीर-वीर पुरुषोंकी कहानी कहना यह बहुत आवश्यक है।

प्रथमानुयोगके स्वाध्यायकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—आज जो कोई भी कुछ अधिक पढ़ लिखकर ऐसा कहा करते हैं कि प्रथमानुयोग क्यों पढ़ना, वह तो किस्सा कहानी है, उसमें तत्त्व क्या रखा है? तो वे ही सोचें कि उन्होंने भी सर्वप्रथम इन पुराण पुरुषोंके चरित्रका वाचन किया था कि नहीं। आज बड़े हो गए ऊंची समझ आ गई तो कहने लगे कि कथाओंमें, प्रथमानुयोगमें क्या धरा है? अरे उन्होंने स्वयं प्रथमानुयोग पढ़ा था, उससे प्रेरणा मिली थी। तो प्रथानुयोग चार अनुयोगोंमें प्रथम अनुयोग है। अनुयोग कहो, वेद कहो, एक ही बात है। वेदका अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान बने सो वेद। सो यह प्रथम वेद कहा प्रथमानुयोगको, प्रथमानुयोगमें यथाख्यान है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इन चारों पुरुषार्थोंका वर्णन प्रथमानुयोगमें मिलता है। कैसे धर्मप्रवृत्ति करना, कैसे धन कमाना, कैसे राज्य करना, कैसे प्रजाजनोंका पालन करना, कैसे घरका बर्ताव रखना और फिर कैसे अपना हित करना, मोक्षका पुरुषार्थ बनाना, ये सब बातें इस प्रथमानुयोगमें मिलती हैं। और, इसमें चारित्र है एक-एक व्यक्तिका। त्रेशठशलाका पुरुषोंका वर्णन है, इस कारण कहलाता है यह पुराण। पुराण

पुरुषोंका इसमें कथन है और केवल एक-एक व्यक्तिका अलग-अलग जितना बना उतना चारित्र बताया है। इस कारण प्रथमानुयोग चारित्र है और वह पुण्यवर्द्धक है।

महापुरुषोंके चरित्रके परिचयसे आत्मप्रगतिकी प्रेरणा—जब कोई कथानक सुनते हैं जैसे कि इस तीर्थके लम्बे कालमें सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान हुए, ऋषभनाथ, मरुदेवीके नन्दन, नाभिराजाके नन्दन, कैसा वह समय था कि तीसरेकालका अन्त हो रहा था, कल्पवृक्षका अन्त हो रहा था, लोग भूख प्यासकी बाधाको, ठंड गर्मीकी बाधाको दूर करनेमें किंकर्तव्यंविमूढ़ हो गए थे, क्या करना, जहां हाथी, शेर आदिक जानवर विरुद्ध होने लगे थे, तीसरे कालमें ऐसा न था, शेर रहें, पुरुष रहें, पास बने रहें, पर कोई बात न थी, मगर अब सिंह दहाड़ने लगे, कुत्ते गुर्राने लगे, ऐसी परिस्थिति थी, खाने पीनेका कोई उपाय समझमें न आ रहा था। उस समय ऋषभदेवने गृहस्थावस्थामें लोगोंको मार्ग बताया। अधिकार तो था नाभिराजाका बतानेका, क्योंकि वे १४वें कुलकर हुए। कुलकर ही सब व्यवस्था बनाते हैं, मगर जिस कुलकरके घरमें तीर्थंकर उत्पन्न हुए वे आगे-आगे बढ़े लोग आये नाभिराजाके पास और विनती करने लगे कि हम लोग भूखों मर रहे हैं, कोई उपाय हो तो बताओ। तो उन्होंने भेजा ऋषभदेवके पास, कहा कि जावों ऋषभदेवके पास, वे ही तुम्हारी समस्याका सब समाधान करेंगे? तो उन्होंने षट्कर्म रचनाका उपाय बताया, ६ आवश्यक कर्तव्य बताया और अवधिज्ञान तो था ही जन्मसे, सो सबकी योग्यता भी पहिचान ली, तो बताया कि देखो कुछ लोग कार्य करेंगे रक्षाका, शस्त्र चलाना सीखेंगे, दुष्टजन बाधा दें तो वहां रक्षा करेंगे, कुछको ये काम बताया, और कुछको बताया कि ये शिल्पकला करेंगे, और ये सेवा करेंगे, ऐसी तीन भागोंमें बांट कर दी, जिसके आधार पर बने—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शूद्र घृणाकेयोग्य नहीं हैं वह तो मिलजुलकर सेवाकी बात बनी थी, पर कालान्तरमें मांस भक्षण, शराब खोरी, जीववध आदि अनेक खोटी बातें होने लगी थीं। तबसे अच्छे लोग उनसे दूर होने लगे। पर स्वयं देखो मनुष्य हैं, मनुष्यके नाते और एक जैसे कार्य चल सके उस बंटवारेके कालमें सब अपना अपना कार्य कर रहे थे, उनमें घृणाके योग्य कैसे थे, पर आचरण बिगड़नेसे वह कुल और जाति घृणाके योग्य मान ली गई। उस समय तो सब एक ढंगकी प्रजा थी, सब काम ठीक-ठीक चलता था। तो क्षत्रियोंको असिका काम दिया, वैश्योंको मसि कृषि, वाणिज्यका काम दिया और शिल्पी और सेवाका काम रहा शूद्रोंका। शूद्र शब्द कोई बुरे अर्थ वाला नहीं है। पर क्या करें, कोई बड़ा भी पुरुष हो और वह नीच काम करने लगे तो उसका नाम भी बदनाम हो जाता है। शुद्ध वातावरणमें त्रिवर्ण व्यवस्था ऋषभदेवने बनायी थी।

श्री ऋषभदेवके चारित्रसे शिक्षा—वे ऋषभदेव बहुत गृहस्थीका राज्य वैभव भोगनेके बीच जब उनकी राज्य सभामें नीलांजना नृत्य कर रही थी तो उस नृत्य करते हुएके बीचमें ही नीलाञ्जनाका मरण हो गया, उस समय इन्द्रके हुक्मसे तुरन्त ही दूसरी देवी उस रूपको धारणकर नृत्य करने लगी। इस रहस्यको अन्य दर्शक लोग नहीं समझ पाये क्योंकि उनका तुरन्तका काम हुआ कोई जान ही न सका कि एक,देवी मरी और दूसरी आयी। अरे नृत्ये करते-करते भी तो लोग बैठ जाते हैं कोई लेटकर भी नृत्य करते हैं, वहां तो तुरन्त काम हुआ, और लोग न समझ सके, पर ऋषभदेव जान गए सारा

रहस्य। उनको जन्मसे अवधिज्ञान था, सो उस घटनाको देखकर उनके वैराग्य जगा। बारह भावनाओंका चिन्तन किया। संसारकी असारता जाना, आत्मतत्त्वकी ओर विशेष दृष्टि दृढ़ की, विरक्त हुए, मौनपूर्वक तपश्चरण किया केवलज्ञान हुआ, केवलज्ञान होनेपर विशाल समवशरणकी रचना हुई, उनका दिव्योपदेश हुआ। देखिये कितने बड़े बड़े उपकार किया ऋषभ देवने। वे तो गृहस्थीके समयके उपकार थे। अब भगवान होनेके समयके जो उपकार हुए सो सुनो। अन्य लोग तो किसी किसी गृहस्थके द्वारा जनताका उपकार हुआ हो तो उसे भी वे भगवानका रूप दे देते हैं। तो गृहस्थीके समय तक ऋषभदेव भी भगवान न कहलाते थे, भले ही उन्होंने बहुत उपकार किया पर भगवान वे तब हुए जब उनको केवलज्ञान हुआ। भले ही व्यवहारमें लोग इस तरह बोलते कि भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ, तो वह द्रव्यनिक्षेपसे बात है। वास्तवमें भगवान कहलाते हैं केवल ज्ञान होनेपर। केवलज्ञान हुए बाद उन्होंने दिव्योपदेश दिया और अन्तमें निर्वाण पाया।

प्रथमानुयोगके स्वाध्यायमें भावसत्संगका लाभ—पुराणपुरुषोंकी कथा जानकर, चरित्र जानकर सुनने या बांचनेवालोंके परिणाममें क्या विषयसेवनकी प्रेरणा मिलेगी या धर्ममें लगनेकी प्रेरणा मिलेंगी? धर्ममें ही लगनेकी प्रेरणा मिलेगी? यदि प्रथमानुयोगका पढ़ना व्यर्थ है तब तो फिर सत्संगका करना भी व्यर्थ कहलायगा। फिर क्यों कहा जाता है कि स्वाध्याय करो। सत्संग करो। यहां तो सत्संग साक्षात् होता है अमुक त्यागी मिला है, संत मिला है, पर ग्रन्थोंमें प्रथमानुयोगमें पढ़ते हुएमें स्मरण आता है ना उन ऋषियोंका, आचार्योंका तो उस ख्यालमें भी सत्संग चल रहा। जब किसी मुनिका, भगवानका या महापुरुषका चारित्र पढ़ रहे हैं तो वचनसे और हृदयसे वह सत्संग ही तो चल रहा। तो यह चारित्र वैराग्यवर्द्धक है। जो विषयकषायोंसे हटाये और अपने आत्माके स्वरूपकी ओर लगाये वह घटना भी पुण्यवर्द्धक है। यह जीव असहाय है, इसका दूसरा कोई मददगार नहीं है। पापका उदय आ जाय या कोई घटना घट जाय, दिमाग बिगड़ जाय, अधिक बीमार हो गए, मरणासन्न हो गए, निर्धन हो गए तो फिर उसका कौन मददगारहै? कौन उसकी सहायता करने आयगा? उसकी बड़ी-बड़ी चापलूसी, नम्रतायें, आदर विनय सब हो रहे। उसके असमर्थ हो जानेपर धर्मात्माजन तो भले ही उसकी मदद कर दें पर लौकिकजन, गृहस्थजन, अन्य-अन्य लोग उसके मददगार कोई न मिलेंगे। तो उस वक्त भी आपको जो लोग दिखते हैं कि यह मददगार हैं। यह हमारी ऐसी सेवा करता है। सुश्रुषा करता है। बड़े सुन्दर मीठे वचन बोलता है। हमारी आज्ञा भी मानता है वह सब आपके पुण्यका ठाठ है। आपसे उसका नाता नहीं है। ऐसे इस असार संसारमें इन बाहरी पुद्गल ढेरोंके ही चिन्तनमें, आश्रय लेनेमें जीवन खोया तो जैसे अनन्त कालका समय यों ही व्यर्थ गंवाया ऐसे ही यह जीवन भी व्यर्थ जा रहा है। धर्मपालनकी ओर विशेष दृष्टि दें। मानलो कदाचित कोई नाजुकस्थिति बनती है। लौकिक धन कम होता है तो वह जैसा होता हो होने दो, पर धर्मको न तजना। धर्मपालनके प्रतापसे ही पापरस दूर होगा। न धर्मपालन करे कोई और पापका उदय आता है तो दुर्दशा तो होगी, पर धर्मपालनसे तत्काल शान्ति मिलेगी। आगेके लिए आत्माका एक सही मार्ग मिलेगा। तो ये सब बड़े-बड़े पुरुषोंके चारित्र पुण्यबर्द्धक हैं। मानलो तत्त्वकी गहरी बातें कोई अधिक नहीं जानता और भगवान महावीर स्वामीकी जय, और

और बड़ी उमंगोंसे पुराण पुरुषोंका स्मरण कर रहा है और उनके जयवादमें उमंग ला रहा है तो पापबंधसे तो बचा, पुण्य कितना ही बंध रहा हो, मगर उसके अशुभभाव नहीं है। अशुभभाव कहलाते हैं विषयसेवन और कषायकी पकड़। ये अत्यन्त अशुद्धभाव हैं। तो धर्मके प्रसंगमें ऊपरी भी बात अगर मिली हो कोई और पुराण पुरुषोंके चरित्रकी बात सुन रहाहो कोई तो अशुभ भावोंसे तो बचा, पुण्यरसमें आ रहा। तो यह प्रथमानुयोग पुण्यवर्द्धक है। यह बोधिसमाधिका निधान है प्रथमानुयोग। बोधि मायने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति। और समाधि मायने जो रत्नत्रय पाया है उसको परिपूर्णतया निभाना इन दोनों उपायोंसे निभाना यह पुराण पुरुषोंका चारित्र है। तो इस चारित्रको यह सम्यग्ज्ञान सही बतलाता है। आत्माका बोध यह है।

श्रीरामके चरित्रके श्रवणसे आत्महितशिक्षण—श्रीराम भगवानका चरित्र आता है। उनकी सारी कहानीमें आप यह पायेंगे कि मुनि होनेसे पहले श्रीरामचन्द्रजीने कहीं सुख आराम नहीं पाया। और ऐसे ही महापुरुषोंका इतिहास बनता है जो धर्मपर अडिग रहे और सहर्ष दुःख सहते रहे, पर दुःखसे घबड़ाकर कभी दुःखमें पीड़ित नहीं हुए ऐसे महापुरुषोंका ही तो लोग नाम लेते है। अज्ञानीजन तो यों कहेंगे कि कुछ विवेक न था, क्यों खामोखाका जानबूझकर दुःख बनाया, अरे आरामसे रहते घरमें तो उन्हें कौन मनाकर सकता था? पर देखिये उन महापुरुषोंको संसारके संघर्षोंमें ही आनन्द रहा। जैसे किसीको खूब काम करनेकी आदत है वह अगर ठाली बैठा रहे तो उसे आराम नहीं मिलता और यदि काममें लगा रहे तो वह चैन मानता है। यह तो लोग खुद समझते हैं। महापुरुष डन्लपके गद्दोंमें, आराम कुर्सीमें पड़े रहनेसे आराम नहीं मानते। वे तो अपना कर्तव्य निभानेमें और धर्म युक्त चर्या करनेमें चैन मानते हैं तो यह ही महापुरुषोंकी निशानी है। साधारणजन तो शरीरको बड़े आरामसे रखनेमें चैन समझते हैं पर महापुरुष जो जानते हैं कि यह शरीर जड़ है, अशुचि पदार्थोंका समूह है इसको ऐसा ही पड़ा रहने दो। दूसरोंके उपकारमें यदि इसे न लगाया तो यह बड़ी गंदी बात है। इस अशुचि शरीरकी भक्ति भगवानकी तरह समझकर कर रहे ये अज्ञानीजन। महापुरुष धर्मपालनके प्रसंगमें सर्व संघर्षोंको समतासे सहते हैं। उनमें वे विचलित नहीं होते। अपना चित्त अपने मूल उद्देश्यमें ही रखते। श्रीरामजी बलभद्रभगवान हुए केवल ज्ञानके बाद, पर हुए भगवान इसलिए उन्हें भगवान पहिलेसे बोलते हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि श्रीरामका आत्मा भगवान था और उसने यहां आकर शरीर धारण किया हो। वह विशिष्ट पुण्यवान जीव थे किन्तु मुनि होनेसे पहले संकट ही सहे बचपनमें स्वयंबरके समय, राज्य देनके समय, जंगलमें सीताहरणके समय, युद्ध होते समय, भाईको मूर्छा आनेके समय, और जीत भी गए। और वापिस आ गए तो लोगोंने सीताको लानेकी प्रार्थनाकी सीता आयी उस समय और फिर अग्निकुण्डसे परीक्षा दो ऐसा बोलते समय और जिस समय आंखों देख रहे हैं श्रीराम कि निर्दोष सीता इस अग्निकुण्डमें कूद रही है तो उस समय क्या-क्या कष्टका वातावरण न था। सारी जिन्दगी उनकी लौकिक दृष्टिसे कष्टों कष्टोंमें ही गुजरी और श्रीरामको उसमें ही सन्तोष था, उसमें ही आनन्द था जब अग्निकुण्डमें सीताजी निर्दोष निकली। अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया और वहां अत्यन्त विरक्त होकर सीता बनको चलने लगी। आर्यिका होने लगी, केशलोंच करने लगी। ऐसे प्रसंगमें श्रीरामचन्द्रजीने

सीताको कितना मनाया, माफी मांगी, मुझे क्षमा करो, तुम देवी हो लेकिन जिसका संसारसे चित्त हट हो गया और केवल एक ब्रह्मस्वरूपमें ही चित्त रम गया वह सीता अपने धर्मपालनमें लग गई। तो ऐसे संघर्षमय चरित्रको सुननेसे और इतने संघर्षोंमें भी अपने धर्मसे विचलित न होनेके साहसको देखकर पढ़ने वालोंके चित्तमें उस प्रकारकी उत्सुकता नहीं आती क्या? सत्संग और कहते किसे हैं? यह परोक्ष सत्संग है, ज्ञानके द्वारा सत्संग है। और यहां कोई महापुरुष आ जाये तो उनके साथ रहना यह साक्षात् सत्संग है। द्रव्यसत्संग है। और पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनना यह भाव सत्संग है। द्रव्यसत्संगमें भी यदि भाव उज्ज्वल नहीं है तो वह सत्संग नहीं है और इन पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनते समय सत्संग बराबर बन रहा है।

बोधिसमाधिनिधान प्रथमानुयोगके परिचयसे आत्मलाभकी विधिका दिग्दर्शन—यह प्रथमानुयोग बोधि और समाधिका निधान है। बड़े बड़े चक्रवर्तियोंके जिनके चरित्र हैं उनके बड़ी विभूतियां बताया है। समस्त भरत क्षेत्रपर उनका आधिपत्य रहा, इतने करोड़ हाथी, इतने घोड़े, इतने हल, इतनी सेना, सारा भरतक्षेत्र उस चक्रवर्तीका था, इतने वैभववान चक्रीके चक्रवर्तीके सामर्थ्यके समय भी उनको इस वैभवमें मौज नहीं मिला, न उन्होनें मौज माना और सहज परमात्मस्वरूपकी उपासनामें ही अपना जीवन बिताया। बताओ यह है चक्रवर्तीकी चर्या। ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणोंकी सेवा करें और उनको किसी बातमें मौज न आये, प्रसन्नता न आये। उनको प्रसन्नता मिली तो अपने धर्मपालनमें आत्मस्वभावके दर्शनमें प्रसन्नता मिली। तो बड़े बड़े पुरुषोंके ऐसे चारित्र पढ़कर क्या खुदके प्रति ऐसा ख्याल नहीं जगता कि अरे मैं कहां यहांकी छोटी छोटी बातोंमें विचलित होता रहता हूं। तृष्णावश रात दिन जड़ पौद्गलिक चिन्तनमें ही रहा करता हूं। अरे मेरेमें बसा हुआ यह सहजपरमात्मा मेरेको दृष्टिगत न हो और व्यर्थ बाह्य असार इन विभूतियोंमें ही अपना चित्त रमाऊं, यह कहां तक योग्य है? इस प्रकारका ख्याल न आयगा क्या? तो बताओ प्रथमानुयोगका स्वाध्याय उल्टी गैल बताता है या सीधी गैलमें मददगार है? उल्टी गैल तो नहीं बताता, सन्मार्गमें ही लगायगा। तो जो लोग थोड़ा सा भी बोलने लगते हैं, तत्त्वकी गप्पें हांकने लगते हैं उन्हें यह स्वच्छंदता आती है कि प्रथमानुयोगका क्या पढ़ना? उसमें तो किस्सा कहानी है। पर जिसको आत्मकल्याणकी धुन है। वह सब उपाय बनायगा कि मेरे आत्माको सन्मार्ग ही मिले, कुमार्ग न मिले। तो जैसें किसीको मानलो अमेरिका जाना है तो पहले कुछ अमेरिकाका वृत्तान्त समझना, अमेरिकाका चारित्र जानना, वहां कैसे गुजारा हो, वहांका भूगोल क्या है, जो लोग अमेरिका गये हैं उनका ध्यान होगा कि ये ये लोग गए हैं, ये सब बातें उसके ध्यानमें होंगी तब वह अमेरिकाकी यात्रा करता है। अगर ऐसी बात चित्तमें न हो तो कैसे कोई यात्रा करे? ऐसे ही जिसे मोक्ष जाना है वह पहले जो मोक्ष गए हैं उनका चरित्र जानता है सामान्यरूपसे कि इस तरहसे निर्वाण हुआ है इन लोगोंका, तब ही वह खुदके निर्वाणके लिए स्पष्ट मार्ग समझ पायगा। इस कारण यह प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषोंके चरित्र हैं इनका ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके चार अनुयोग बताये थे, उनमें यह प्रथमानुयोगका वर्णन है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवेति करणानुयोगं च॥ ४४॥

प्रथमानुयोगके वर्णनके पश्चात् क्रम प्राप्त करणानुयोगके वर्णनका प्रारम्भ—यह दूसरा अध्याय सम्यग्ज्ञानके प्रकरणका चल रहा है। सम्यग्ज्ञानका लक्षण बताया था कि जो न कम जाने, न ज्यादह जाने न उल्टा जाने, न संदेहसहित जाने, ऐसे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। फिर यह सम्यग्ज्ञान चार अनुयोगोंसे मिलेगा। भगवान जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिसे प्रसारित ये चार अनुयोग हैं जिनका कि आचार्य परम्परासे अब तक बोध चला आया है और आज भी शास्त्रोंमें निबद्ध है उन अनुयोगोंका ज्ञान करें। वे अनुयोग चार प्रकारके बताये गए—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। पहिले प्रथमानुयोगका वर्णन किया गया था। उसका नाम प्रथमानुयोग क्यों पड़ा कि धर्ममार्गमें प्रवेश करने वालेको यह प्रथमानुयोग उत्साह पैदा करता है तब वह आगे बढ़ता है। इसी कारण इसका नाम प्रथमानुयोग है। जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका पुराण पुरुषोंके चरित्रमें वर्णन किया है। कौन महापुरुष कैसे उत्पन्न हुवे कैसे जीवन चला, कैसे विरक्त हुए, कैसे निर्वाण पाया? उनके चरित्रके सुननेसे अपनेको भी धर्म मार्गमें लगनेकी प्रेरणा मिलती है। वास्तवमें तो हम आपको मात्र धर्म ही शरण है, दूसरा शरण नहीं है। एक वैज्ञानिक बात है अपने आत्माके सम्बंधमें जैसे कि बाहरी अमुक चीजका अमुकसे संयोग हुआ तो क्या अवस्था बनती है? अगर उस चीजमें से उस सयोगवाली चीजको हटा दिया जाय तो क्या अवस्था बनती है? यह ही तो वैज्ञानिक प्रयोग है, ऐसे ही अपने आत्मामें देखें—पर पदार्थोंका संयोग होनेसे आत्माकी क्या अवस्था बनती है? जीव है एक ज्ञानस्वरूप पदार्थ। जैसे बाहरी पुद्गलोंमें देखते हैं कि रूप है, रस है, गंध है, अमुक है ऐसे ही आत्मामें तो बताओ क्या है? वहां रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं तो क्या है? ज्ञानप्रतिभास चेतना। जैसे आकाश अमूर्त है और वस्तु है। आकाशमें चेतना नहीं, आत्मामें चेतना है, तो यह है ज्ञानमात्र पदार्थ। इस आत्माके साथ अन्य वस्तुवोंका संयोग कर लेनेसे आत्मा संसारमें दुःखी होता है, चारों गतियोंमें भ्रमण करता है।

दुःखोंका कारण अन्यसंयोग—कर्मका संयोग सबके साथ है मगर कर्मके बारेमें अन्य लोग बहुत कम जानते हैं। हां जैन शास्त्रोंमें कर्मके बारेमें इतना वर्णन आया है जितना कि सम्पूर्ण जैनागमका आधा। वह वास्तविक चीज है। जैसे शरीर है यह मोटा पुद्गल है वैसे ही कर्म है वह एक सूक्ष्म पुद्गल है, पर है वह अचेतन रूप, रस, गंध, स्पर्शवाला अत्यन्त सूक्ष्म। सो जीवके जब विकार जगता है तो वे कर्मपरमाणु कर्मरूप बन जाते हैं। एक तो उनका संयोग लगा है जीवके साथ। एक शरीरका संयोग लगा है जीवके साथ सो तो प्रकट मालूम हो रहा है। इन दोके लिए क्या करें? लगा है अभी, मगर यह जीव इनके अलावा धन, मकान, परिजन कुटुम्ब आदिक अनेक लोग इनका भी लगाव बना डालते हैं। सो जीवोंके साथ कितना परपदार्थोंका लगाव चल रहा है, उसके फलमें जीवकी आज क्या दशायें हैं। दुःखी हैं। धन बढ़ गया तो भी दुःख है, धन कम हो गया तो भी दुःख है, जिनके बालबच्चे

हैं वे भी दुःखी हैं, जिनके बालबच्चे नहीं हैं वे भी दुःख मानते। संसारकी कौनसी स्थिति है कि जिसमें शान्ति मिलती हो जीवको? पुत्र कुपूत हुआ तो भी दुःख मानते। सपूत हो गया तो भी दुःख मानते। बल्कि कुपूत होनेमें तो एक बार उससे मन हटा लिया और अगर वह उद्‌ण्डता करता है तो जाहिर कर दिया कि मेरा इससे कुछ मतलब नहीं, निवृत्त हो गए और यदि सपूत लड़का है तो उसके रागमें आकर जिन्दगी भर उसके पीछे रूलेगा, मैं इसे खूब धन जोड़कर धर जाऊं, इसको खूब पढ़ा लिखाकर होशियार कर दूं, इसको कोई कष्ट न होने दूं ··· यों कितने ही विकल्प उसके पीछे मचते हैं। नहीं है पुत्र तो मनमें उसकी आशा करके दुःख मानते है। अच्छा धन बढ़ गया तो भी दुःख मानते हैं, यह तो धनी लोग खुद अनुभव करते होंगे। कभी-कभी तो लोग ऐसा भी विचार कर डालते कि इससे तो हमारी ५० वर्ष पूर्वकी स्थिति अच्छी थी जब हम थोड़ा ही काम करते थे या थोड़ा ही धन था। यहां तक ख्याल कर डालते और यदि कम धन है तो उन धनिकोंको देखकर भीतर ही भीतर भुनते रहते, ··· हाय कैसा पापका उदय है कि मुझे अधिक धन न मिला।

कर्मके संयोग वियोगके परिणाम—अच्छा कर्मके संयोगकी बात देखो—पुण्य कर्मका उदय आया तो कौनसी विजय प्राप्त कर ली? पुण्यकर्मके उदयसे धन वैभव राज्यपाट, चलाबा, प्रभुता, हुकूमत ये ही तो मिलते हैं। इनके मिलनेसे कौनसी आत्माकी विजय हो गई? तो यह सब जितने संयोग हैं ये संयोग होनेसे आत्माकी बुरी दशा हो रही है। और संयोग न रहे, मानों कर्म हट गए जीवके, शरीर हट गया तो वह सिद्ध दशा हो गई। केवल ज्ञानज्योति आत्मा जिसके विकल्प नहीं, जिसके आरम्भ नहीं, जिसके रागद्वेष मोह नहीं, केवल ज्ञानसे समस्त विश्वको युगपत् जानते रहते हैं, वह है सिद्ध दशा। तो यह एक निर्णय बना लें कि जितना भी परपदार्थका सम्बंध है वह मेरे आत्माके अहितके लिए है। मानो एक भवमें किसीने प्रशंसा कर दी हम बड़े कहलायें, लोगोंने अच्छा माना, पर इस माननेसे मेरा गुजारा तो न चलेगा। मरण होगा, आगे क्या दशा होगी, उसमें कोई रक्षा करने वाला तो नहीं। इसलिए पुण्यानुसार जो आये उसमें ही व्यवस्था बनाना हमारा काम है और इसको मैं अधिक पा लूं ऐसी कल्पना लाना हमारा काम नहीं। यदि ऐसी धीरता है तो धर्ममें मन लगेगा। धर्ममें उत्साह होगा। सो पहले यह निर्णय बनाना चाहिए कि उदयानुसार जो होगा उसमें हम व्यवस्था बना लेंगे, हम आशा तृष्णामें अपना चित्त न डुलायेंगे। इतनी धीरता होती है सम्यग्दृष्टि जीवमें। तो ऐसे ज्ञानबलसे कुछ चिन्तन करें और पुराण पुरुषोंके चरित्रको सुनें तो उससे आपको बड़ी स्फूर्ति मिलती है। सो प्रथमानुयोगका वर्णन पहले किया था, आज करणानुयोगका वर्णन किया जा रहा है।

करणानुयोगमें कथित लोकरचनाका दिग्दर्शन—करणानुयोगके शास्त्रोंमें कौनसा विषय आता है? तो एक तो लोक और अलोककी रचना। लोक कितना बड़ा है जब यह ज्ञानमें आता है तो राग और मोह शिथिल हो जाता है और जगतमें प्रेम करनेकी उमंग नहीं रहती। कितना बड़ा है लोक? तो पहले यहींसे चलो। जहां हम आप बैठे हैं जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रके आर्यखण्डके जरासे हिस्सेमें। यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? तो यह थालीकी तरह गोल है और एक किनारेसे दूसरे किनारे तक जिसे सलाका कहते वह एक योजन है। और एक लाख योजन होता है दो हजार कोशका और एक

कोश होता है करीब पौने तीन मीलका सही मायनेमें। यों तो कहीं सवा मीलका कोश मानते, कहीं दो मीलका, पर कोशका सही सही प्रमाण ३ मीलका होता है धनुषके प्रमाणसे। तो अब समझिये कि यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? उसको घेरकर लवण समुद्र है जो एक तरफ दो लाख योजनका है। दूसरी तरफ भी ५ लाख योजनका है। मगर लवण समुद्रके आखिरी किनारेसे सामनेके लवण समुद्रका आखिरी किनारा नापा जाय तो २ लाख योजन पड़ेगा बीचका हिस्सा। फिर लवण समुद्रको घेरकर दूसरा द्वीप है वह एक तरफ है चार लाख योजन और दूसरी तरफ भी चार लोख योजन, उसको घेरकर है एक समुद्र। वह दूने विस्तार वाला है। फिर तीसरा द्वीप, चौथा द्वीप समुद्र, इस तरह अनगिनते द्वीप समुद्र हैं याने नील, शंख महाशंखकी तो बात ही क्या है। कई अंक प्रमाण, संख्यात बहुत बड़ा होता है। संख्यातकी भी गिनती नहीं, पर उससे भी आगे कितने अनगिनते द्वीप समुद्र हैं और वे एक दूसरेसे दूने-दूने विस्तार वाले हैं तो देखिये कितना विस्तार हो गया। इतना सारा विस्तार अभी समतलके हिसाबसे भी एक राजू नहीं है, फिर एक राजू चारों तरफ होवे जिसे घनराजू कहते, मोटा भी एक राजू, विस्तार भी एक राजू। इतनेको कहते हैं एक राजू। ऐसे ऐसे ३४३ घनराजू लोक है जिसको हम आप दो अंगुलके नक्शासे बना डालते हैं।

लोकरचनाके परिचयसे लाभ—इतने बड़े लोकमें कोई भी प्रदेश नहीं बचा जहां हम आप अनन्त बार पैदा न हुए हों, मरे न हों और इतने बड़े लोकके सामने आपकी नगरी। आपका देश तो उतना सा भाग है जैसे बड़े समुद्रमें से एक बूंद। तो इतने बड़े लोकमें जब मेरा कुछ नहीं तो फिर जरासी जगहमें जितना परिचय होता है उसकी क्यों ममता करना? सारी दुनियापर ध्यान दें तो जरासे क्षेत्रकी ममता दूर हो जायगी। यह भी क्या चीज रही। इस लोकसे परे है अलोक, जिसकी सीमा ही नहीं है अलोकके मध्य अवस्थित लोककी क्या क्या रचनायें हैं उनको देखो। जिस जगह हम बैठे हैं यह कहलाता है मध्यलोक और यह मध्यलोक १ हजार योजन तक तो नीचे चला गया और ९९ हजार योजन ऊपर तक चला गया, इसको मध्यलोक कहते हैं जो सूर्यचन्द्र तारे दिख रहे ये ऊर्द्ध लोकमें नहीं हैं, ये मध्यलोकमें हैं। तो अधोलोकमें ७ पृथ्वी हैं। पहली पृथ्वी तो यह ही है जिसपर हम आप बैठे हैं। यह पृथ्वी इतनी मोटी है कि जिसमें विभाग बड़े बड़े आये हैं। तो पहले विभागमें कुछ भवनवासी व्यन्तर रहते हैं, दूसरे विभागमें भी भवनवासी व्यन्तर रहते हैं और दूसरे भागमें नारकी रहते हैं, उससे नीचे बहुत आकाश हैं फिर दूसरी पृथ्वी लगी, उसमें दूसरे नारकी हैं, फिर ऐसा ही आकाश है, फिर पृथ्वी है, इस तरह नीचे ७ नरक हैं और ९९ हजार योजनसे ऊपर स्वर्ग हैं, फिर ग्रैवेयक है, अनुदिश है, अनुत्तर है, सबसे ऊपर सिद्धलोक है। लोककी रचना जरा स्पष्ट ज्ञानमें हो तो मिली हुई जगहमें ममता नहीं रहती। इसका क्या मूल्य है, कितने समयका रहना है और इससे क्या सम्बंध है? तो करणानुयोगमें लोक और अलोकका विभाग और रचना बतायी गई है।

करणानुयोगमें वर्णित कालरचनाका दिग्दर्शन—करणानुयोगमें कालका परिवर्तन बताया गया है। काल परिवर्तन सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्रके आर्यखण्डमें होता है, थोड़ासा फर्क म्लेच्छ खण्डमें भी पड़ता है, पर मुख्य अन्तर आर्य खण्ड में है। जैसे हम आप इस भरत क्षेत्रके आर्यखण्डमें हैं तो क्या

काल परिवर्तन चलता है। आज पंचम काल है अवसर्पिणीका। अवसर्पिणी उसे कहते हैं जिसमें दिन प्रतिदिन बात घटती चली जाय। बल घटे, शरीर घटे, उम्र घटे, श्रद्धान घटे, धर्म घटे, यों ही सभी बातोंमें लगा लीजिए। जहां घटतीकी ओर सब बातें चलें उसे कहते हैं अवसर्पिणीकाल। और दूसरा होता है उत्सर्पिणीकाल। जिसमें शरीर बढ़े, बल बढ़े, आयु बढ़े, ज्ञान बढ़े ··· यों ही सब बातें बढ़तीकी ओर चलें उसे कहते हैं उत्सर्पिणीकाल। तो प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें ६-६ काल होते हैं जिनका संख्यासे आप ज्ञान करलें—पहला, दूसरा आदिक। तो आज यह पंचमकाल है। अवसर्पिणी काल है, इसके बाद छठा काल आयगा। उस छठे कालमें धर्म, अग्नि ये कुछ न मिलेगें। तब मनुष्य तो होंगे, तिर्यञ्च भी होंगे, पर सब मांसभक्षी होंगे। मनुष्य मनुष्यको मारकर खायेंगे। जैसे कि यहां एक तिर्यञ्च दूसरे तिर्यञ्चको मारकर खा लेता है, फिर तिर्यञ्चोंको मारकर खा जाना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं। ऐसा ही आयगा छठाकाल जिसमें मनुष्य केवल एक हाथके लम्बे होंगे। इस छठे कालके बाद प्रलय होगा। ७-७ दिन ७ तरहकी खोटी वर्षा होगी—अग्नि वर्षा, तेज हवा चलना, तेज विष जैसी बरषा। मालूम पड़ता है कि आज जो बम हाइड्रोजन और रासायनिक चीजें, विष भरी चीजें जो तैयार हो रही है वे शायद प्रलयके ही साधन अभीसे बन रहे हैं। आखिर वे एक न एक दिन फूटेंगे। चाहे स्वयं फूटें चाहे किसीके फोड़नेसे? प्रलय बताया है छठे कालके अन्तमें पर उसके आसार अभीसे दिखने लगे।

छठे कालके अन्तमें प्रलयके बाद कालरचनाका दिग्दर्शन—इस प्रलयके बाद अवसर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर उत्सर्पिणीकाल लगेगा। तो उत्सर्पिणीकालमें पहला होगा छठा काल जिसमें इस छठे कालकी तरह ही बात होगी, मगर बढ़नेकी ओर होगी। शरीर बढ़ेगा, ज्ञान बढ़ेगा, बल बढ़ेगा, आयु बढ़ेगी, फिर आयगा पंचमकाल। जो इस कालकी तरह होगा। मगर यहां तो घटतीकी ओर है और उस पंचमकालमें बढ़तीकी ओर होगा। फिर होगा चौथा काल। जिसमें २४ तीर्थंकर होंगे, फिर आयगा तीसरा भोगभूमि, दूसरा आयगा भोगभूमि और पहला आयगा भोगभूमि। यहां उत्सर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर अवसर्पिणीकाल लगेगा तो पहला काल आयगा भोगभूमि, दूसरा भोगभूमि, तीसरा भोगभूमि, चौथे कालमें २४ तीर्थंकर होंगे, फिर वही पंचमकाल जैसा कि आज है। प्रश्न—भोगभूमि किसे कहते? उत्तर—भोगभूमिमें कुछ आजीविका चलानेके लिए खेती व्यापार, सेवा आदिक कार्य नहीं करने पड़ते। वहां ऐसे कल्पवृक्ष होते १० प्रकारके जिनसे कि आवश्यक सभी चीजें प्राप्त होती रहती हैं। वैसे हम यह नहीं बता सकते कि किस तरहके होते थे कल्पवृक्ष क्योंकि उन्हें आंखों देखा नहीं पर शास्त्रोंमें आयी हुई बात असत्य नहीं है। यहा भी तो देखनेमें आता कि अनेक वृक्ष ऐसे होते जिनके पत्ते स्वयं आभूषण जैसे होते। कभी देखा होगा कि बच्चे लोग नीमके गल्ले पहन लेते हैं तो वे भी आभूषण जैसे लगते। कीकरकी फली भी गोल मटोल आभूषण जैसी होती। वहां कुछ विशेष प्रकारके होते होंगे। तो ऐसे ही कितने ही आभूषण उन कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होते हैं। वस्त्र वाले, बर्तन वाले, आभूषण वाले, बाजे वाले यों १० प्रकारके कल्पवृक्ष पाये जाते हैं जिनसे जो चाहे प्राप्त करलो। और वहां भूखकी वेदना भी बेर प्रमाण, आंवले प्रमाण हैं। किसीको तीन दिनमें,

दूसरे कालमें दो दिनमें, तीसरे कालमें एक दिनमें, इतनी भूख है। मतलब कि वहां ऐश आराम भोगके बड़े अच्छे साधन हैं। और कर्मभूमिमें ये सब बातें नहीं होती, वहां तो खेती, व्यापार, सेवा आदिक करके आजीविका चलाना होता हे। तो छह कालका स्वरूप जाननेसे यह बात ज्ञानमें आती है कि ऐसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनन्त बीत गए। इतने अनन्तकालमें यदि यह १००-५० वर्षका जीवन मिला है तो इसमें क्या ममत्व करना? तो कालका परिवर्तन जाननेसे भी मोह ममत्व दूर होता है।

करणानुयोगमें वर्णित चतुर्गतिभ्रमणका दिग्दर्शन—करणानुयोगमें तीसरी बात कही गई मुख्यतासे चार गतियोंमें परिभ्रमण। (१) नरक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव। इनमें कैसा स्थान है, उनका कैसा भाव है। गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा आदिक जो कुछ वर्णन आता है वह यह करणानुयोग सम्बंधी ही तो है। नरकगतिमें कैसे जन्म होता? जो मनुष्य बहुत आरम्भ और परिग्रहमें मूर्छा करता है वह नरकायुका बंध करता है और नरकायुमें गमन होता है। इस असार मायामयी संसारमें इन दिखने वाले लोगोंमें सबसे बड़ा कहलाऊं इस भावनाके बराबर मूढ़ता और कुछ नहीं है। आत्माका ज्ञान नहीं इस कारण इस ओर चित्त जाता है। कोई कल्पनासे बड़ा नहीं बनता। जिसकी योग्यता है, जिसका उदय है वह सहज बड़ा बनता है बड़ा बने तो क्या, न बने तो क्या, जिसको आत्माका बोध है वह अपने आत्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही संतुष्ट रहता है। मैं यह हूं, जो पुण्य पापके अनुसार बीतेगी, मेरेमें मेरी व्यवस्था है। तिर्यञ्चगतिमें जन्म होता है मायाचार अधिक करनेसे। छल किया, कपट किया, चुगली की, निन्दा की, जिसके मनका पता ही न पड़े कि मनमें क्या है और कर क्या डाले। ऐसा जिसका भाव रहता है वह मनुष्य मरकर तिर्यञ्च होता है। जिसके शान्त परिणाम हैं, जो कषाय अधिक नहीं रखता, थोड़ा आरम्भ है। थोड़ा परिग्रह है ऐसा जीव मरकर मनुष्य होता है और व्रत, तप, संयम, शील इन सबके पालनसे यह देवगतिमें जन्म लेता है। तो इन चारों गतियोंमें जिस ढंगसे परिभ्रमण दूर होता है, जिन कारणोंसे परिभ्रमण होता है उनका वर्णन करणानुयोगके ग्रन्थोंमें है। सो यह करणानुयोग इस लोक अलोकके विभागको, काल और चतुर्गतिभ्रमण, जीवकी प्रति समयकी घटनाका वर्णन दर्पणकी तरह इसमें स्पष्ट झलकता है। सो यह करणानुयोग एक दूसरा वेद है। करणानुयोगमें जीवके परिणामका मुख्यतासे वर्णन है। सो करणानुयोगके स्वाध्यायमें बढ़ें, ज्ञानमें बढ़ें तो अपना उपयोग निर्मल रहेगा, धर्ममें आस्था बढ़ेगी, अपना आत्मा स्वच्छ होगा। जिससे इस वक्त भी सुख पायेंगे और भविष्यमें भी सुखी रहेंगे। इस कारण सम्यग्ज्ञान बनानेके लिए अपना पौरुष करें और ज्ञानमें सन्तुष्ट रहनेका अभ्यास बनायें।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ ४५॥

चरणानुयोगके वर्णनका प्रारम्भ—सम्यग्ज्ञानके प्रसंगमें प्रथमानुयोग और करणानुयोग इन दोका स्वरूप बताया गया है कि इस अनुयोगके शास्त्रोंमें किस विषयका वर्णन हुआ करता है। अब इस छंदमें चरणानुयोगका स्वरूप कहा जा रहा है कि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें किन-किन विषयोंका वर्णन

किया जाता है। चरणानुयोगमें गृहस्थ और मुनियोंका चारित्र बताया गया है। कैसे उनके चारित्र उत्पन्न होता है? कैसे उनके चारित्रमें वृद्धि होती है, कैसे उस चारित्रकी सम्हालकी जानी चाहिए। तो सब चरणानुयोगके विषयको सम्यग्ज्ञान जानता है। जो चीज न हो और अब हो याने जो जिस ढंगकी बात नहीं है और अब हो रही तो यह जरूर है कि उसमें कोई निमित्त कारण होगा। अगर निमित्त कारण न हो तो वह पहलेसे ही क्यों न हुई, स्वभावतः क्यों न हुई? तो जो भी घटना नये ढंगमें होती है उस घटनाका कोई न कोई निमित्त कारण होता है। तो अब गृहस्थोंका चारित्र हो या मुनिका चारित्र हो तो उस घटनामें निमित्त क्या है? कषायका क्षयोपशम। जब तक कषायें रहती हैं तब तक चारित्र नहीं होता। कषायोंका और चारित्रका विरोध है। आत्मामें एक चारित्र नामका गुण है, उस गुणकी विकृत पर्याय है विकार, कषाय और स्वभाव पर्याय है चारित्र। तो सुना ही होगा, पढ़ा ही होगा कि अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम हो तो होता है गृहस्थका व्रत और प्रत्याख्यानावरण कषायका भी क्षयोपशम हो तो होता है मुनिका व्रत। तो चारित्रके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण तो कषायका क्षयोपशम है। उपादान कारण यह जीव खुद है। इसकी भावना बने, ज्ञान बने। उस प्रकारकी एक भावना हो कल्याणकी अभिलाषा हो तो इसका उपादान कारण खुद जीव है और आश्रयभूत कारण है परपदार्थोंका हटाव, सही लगाव, यह उसका आश्रयभूत कारण है। चारित्र नाम किसका है? आत्माका जो स्वभाव है चैतन्य सहजज्ञान, सहजदर्शन, बस उस ही में समाजाना, उसही के अनुरूप अवस्था बनाना इसे कहते हैं चारित्र। आत्मामें लीन होनेका नाम है चारित्र। लीन हो जाय यह तो है चारित्रमें परिपूर्णता मगर आंशिक चारित्र अणुव्रत और महाव्रत है।

सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्रसे धर्मप्रगति—धर्मपालन दो बातोंमें है—(१) सम्यग्दर्शन पाना और (२) सम्यक्चारित्रका पालन करना। सम्यग्दर्शनमें एक वह प्रकाश है कि जिससे रास्ता दिख जाता है कि हमको इस रास्तेसे चलना है। शान्तिके लिए जगह-जगह बहुत भटके। क्या क्या उपाय अब तक नहीं किए। कहां कहां नहीं डोले। किस किसके आगे मोहवश कातरता नहीं की। पर इस जीवको शान्ति प्राप्त नहीं हुई। आखिर इस तरह कैसे शान्ति प्राप्त हो। शान्तिका तो मार्ग ही और है। किया जाना और बात है। शान्तिका मार्ग है अपने आत्मस्वरूपका दर्शन, ज्ञान और चारित्र। देखिये—स्वयं अपनेको क्या कष्ट है जीवको? एक यह बात ठान ले कोई कि मुझको किसी भी परपदार्थका विकल्प ही नहीं करना है। तो इतनी मात्र अगर उसकी प्रक्रिया बन सके तो वह शान्तिके सम्मुख हो जायगा। जैसे अचरजका एक भजन है—पानीमें मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हांसी। पानीमें रहने वाली मछली भी प्यासी है यह बात सुनकर हंसी आनी ही चाहिए क्योंकि मछली पर नीचे ऊपर चारों तरफ पड़ा है पानी फिर भी वह प्यासी ऐसे ही जीवका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। स्वरूप ही ज्ञानानन्द है। उस ज्ञानानन्दस्वरूपमें इसका सत्त्व है और फिर भी यह जीव ज्ञानको तरसता है और आनन्दको तरसता है। इस बात पर हंसी आती है, किसको? ··· ज्ञानीको। अज्ञानीजन क्यों हंसेंगे? उन्हें तो इस राजका पता ही नहीं है तो ज्ञान और आनन्द इस आत्माका स्वयं स्वभाव है इसलिए ज्ञान व आनन्दके लिए क्या तड़फना? कर्तव्य यह करना है कि जो हम ज्ञानानन्द स्वभावसे विमुख होकर किसी बाह्य पदार्थमें

लगाव रखकर व्याकुल होते रहते हैं तो हमको वह लगाव तोड़ना है, आनन्द अपने आप मिलेगा। सुख और दुःख बनाये जाते हैं, आनन्द नहीं बनाया जाता। आनन्द कहलाता है—जैसे भगवानके आनन्द है अपने स्वभावसे ही वह आनन्द है। वह तो आनन्द है और सुख है इन्द्रिय विषयोंका भोग करना, मौज मानना और दुःख तो बनाये जाते हैं बनावटी हैं और अकृत्रिम स्वाभाविक आनन्द होता है। तो हमारी बनावट छूट जाय तो आनन्द ही आनन्द है। यह बनावट बनी है पर पदार्थोंका राग करनेसे। तो गृहस्थीके चारित्रमें आश्रवभूत कारणका त्याग ही त्याग बताया है।

धर्माभिलाषी गृहस्थोंका आवश्यक कर्तव्य परिग्रह परिमाण—परिग्रहका परिमाण करना भी एक त्याग है। क्योंकि परिग्रहका परिमाण न हो तो तृष्णाकी अवस्था नहीं होती। भले ही शक्ति न होनेसे आज इतना ही सोचें कि २० लाखका धन हो जायगा फिर क्या जरूरत है? पर उसका यह सोचना ही सोचना रहेगा। कदाचित हो जायें २० लाख तो संतोष हो लेगा क्या? अरे वह आगे की सोचेगा। और परिग्रहका परिमाण होगा तो उसे संतोष होगा। जैन शासनमें जो बात मुख्य है कर्तव्यकी उसका अब रिवाज न रहा। मुख्य कर्तव्य है परिग्रहका परिमाण करना। सुख शान्तिकी जड़ है यह। कहीं प्रमाणमें यह नहीं है कि आप उतना ही परिमाण रखे कि तकलीफ पायें, रखें आप जो आज आवश्यकता है उससे दुगुना रख लीजिए। आज अब लोग यह भी सोचने लगे कि कुछ ऐसा भी समागम बन गया कि जिसने ३०—४० वर्ष पहले यह सोचा था कि १० हजार रूपया काफी होते हैं और उसमें तो कितनोंका ही गुजारा चल जाता था, परिमाण कर लिया १० हजारका। आज १० हजारमें क्या होता, गुजारा नहीं चलता, तो चाहे ऐसी बात वे मनमें रखलें कि वर्तमानके इन भावोंके समय इतना परिमाण है, भावोंमें बढ़ने घटनेके अनुसार हमारा परिमाण भी घट बढ़ जायगा, पर इतना परिमाण है। ऐसा एक नियम तो हो जाय, उसको फिर तृष्णा न सतायगी। रही यह बात कि लोग यह सोचेंगे कि फिर तो लोक हमारी अधिक इज्जत न रहेगी। क्योंकि परिग्रह ज्यादह बढ़ावेंगे नहीं, सम्पन्नता बड़ी कहलायगी नहीं तो फिर लोकमें हमारी मान्यता कैसे रहेगी, क्योंकि मान्यता तो अर्थके बलपर है, फिर न रहेगी, सो उसके विषयमें दो बातें सुनो—अगर लोगोंके द्वारा मान्यता पानेकी ही बात है चित्तमें तब तो फिर धर्मको एक ताक पर रख दीजिए और जो करना हो सो करिये। पहली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि परिमाण करने पर उसका इतना सात्विकभाव रहेगा कि उसके अन्दर भी जो लाभ है तो परोपकारमें अधिक जायगा और सालके अन्तमें परिमाणसे ज्यादह लाभ हो गया तो वह साराका सारा धन परोपकारमें देगा, तो बतलावों उसका नाम बढ़ेगा कि तृष्णा करने वालेका? तृष्णा करने वालेके मनमें वह उदारता नहीं आ सकती जो परिमाण करने वालेमें उदारता आ सकती। लौकिक इज्जतमें भी अन्तर नहीं, पारलौकिक काम तो अच्छा ही हो रहा है परिग्रहका परिमाण करनेसे। तो जिस गृहस्थको धर्मपालन करनेकी अभिलाषा है उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह परिग्रहका परिमाण करे। परिमाण करने वालेको बड़े ऊंचे-ऊंचे धनिकोंको देखकर भीतरमें जलन तृष्णा नहीं होती। बल्कि उनपर दया आती है कि इन बेचारोंको शान्तिका मार्ग नहीं मालूम है। ये आत्माका स्वरूप नहीं जानते, सो

बाहर ही बाहर उपयोग फंसाकर व्याकुल हो रहे हैं। यह करुणाबुद्धि जगेगी। और जिसके परिमाण नहीं है उसके तृष्णा होनेके कारण बड़ोंको देखकर ईर्ष्या जगती है कि मैं क्यों न हो पाया ऐसा।

तृष्णा लोभसे उत्पन्न हुई व्यथाका देवगतिमें चित्रण और उससे शिक्षण—देवगतिमें मनुष्योंसे भी अधिक दुःख है। ऊंचे देवोंकी तो बात नहीं कहते, जैसे कि यहां ऊंचे मनुष्योंको दुःखी नहीं कहा जा सकता। मगर अधिकतर संख्यामें देवगतिके जीवोंमें दुःख अधिक है। आप लोग सोचते होंगे कि लोग तो देवगतिमें पैदा होनेके लिए तरसते हैं क्योंकि शरीर उनका अच्छा है, वैक्रियक है, भूख प्यासकी वहां बाधा नहीं है। कमायी करना नहीं पड़ता, सागरों पर्यन्तकी आयु है। उनके शरीरमें रोग नहीं होते, पसीना भी नहीं आता, हड्डी चाम भी नहीं है। जैसे यहां अनेक धातुवोंके खिलौने होते, मानलो कोई डन्लपका ही कोमल शरीर वाला खिलौना बना दे, ऐसा कोमल शरीर देवोंका होता। जहां सुख ही सुख है। एक से एक सुन्दर देवांगनायें और वे भी हजारोंकी संख्यामें, जहां चाहे घूमें, अवधि ज्ञान होनेसे कहीं की भी बात जानें और फिर भी यहां कहा जा रहा कि देवोमें सबसे अधिक दुःख है। हां दुःख है। काहेका दुःख है? मूर्खताका दुःख है। जब कोई देव अपनेसे अधिक ऐश्वर्य वाले देवको देखते हैं तो उसको उससे ईर्ष्या हो जाती, वह मन ही मन कुढ़ता है। वैसी स्थिति अगर मनुष्योंकी हो तो कहो हार्टफेल हो जानेकी नौबत आ जाय। देवोंके हार्टफेल नहीं होता, उन्हें ईर्ष्याका भारी दुःख है। देवगतिमें लोभकषायकी प्रबलता बतायी गई है, मनुष्यगतिमें मानकषायकी तीव्रता बतायी गयी है, जो लोग लोभ करते हैं, धनका बहुत बड़ा संग्रह करते हैं वे मुख्यतया लोभके कारण नहीं कर रहे किन्तु मानके कारण कर रहे हैं। मैं करोड़पति, अरबपति कहलाऊंगा, मेरी मानप्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस भावसे लोग धनका संगह करते है। तो परिग्रहका परिमाण करना यह मूल बात है। जिसको अपना जीवन शान्तिमें रखना है उसका यह कर्तव्य है कि वह धनका परिमाण कर ले। अब परिमाण अपनी इच्छासे करे, चाहे अधिक करे चाहे कम, पर एक हद तो हो गई और उसमें करीब-करीब यह हिसाब भी रख लीजिए कि जैसे आजका गुजारा है। भाव है, उस स्थितिमें मेरा परिमाण है। देखिये आजसे ५० वर्ष पहले कौन जानता था कि ऐसी भी महंगाई हुआ करती है। दूध तो मुफ्त मिलता था, छांछ तो बेचा ही न जाता था। आजकल तो छांछ तक भी कहो ५० पैसे किलो मिले। तो आज भी चाहे ऐसी बात चित्तमें रखलो कि वर्तमान व्यवस्थाके अनुसार हमारा इतना परिमाण है, उसमें भी एक हद तो हो गई। तृष्णा उसके आगे न बढ़ेगी। तो पहला कर्तव्य है गृहस्थोंका कि वे परिग्रहका परिमाण करें, फिर उसके आगे उनका सबकुछ बढ़ता चला जायगा।

धर्माचरणका आधार अहिंसा व अहिंसाके पालनके लिए अपरिग्रहताका आदर—भैया, जानलो कि जगतमें जितने जीव हैं उन सब जीवोंका मेरे ही समान स्वरूप है, मेरेसे कोई कम नहीं है। जिस बातसे मुझे दुःख होता है उस बातसे दूसरोंको भी दुःख होता है। मेरेको जगतमें ऐसा क्या काम अटका है कि जो मेरे द्वारा दूसरोंको दुःख हो। यह भाव रहता है तो वह हिंसाका त्याग करता है, मायने अहिंसाका पालन करता है। तो अब जितना भी चारित्र है उस सबका आधार है अहिंसा। परिग्रहका परिमाण भी बताया तो उसका भी आधार है अहिंसा। और तृष्णामें दूसरेकी भी हिंसा हो सकती।

और खुदकी हिंसा तो हो ही रही है। एक बार कोई दूसरा जीव आपके द्वारा मर जाय तो चाहे उसमें हिंसा न हो, आपको हिंसाका पाप न लगे। यह भी सम्भव है मगर परिग्रहके लगावमें मूर्छाके होने पर तो निरन्तर हिंसा हो रही है। किसकी? आपके भगवान आत्माकी। अच्छा यह कैसे सम्भव है कि किसी जीवका प्राण चला जाय और हिंसा न हो? तो देखो कोई मुनिराज ईर्यासमितिसे चल रहे हों और फिर भी अचानक कोई कुन्थु जीव उनके पैरके नीचे आकर मर जाय, उन्हें पता ही न पड़े, तो उन्हें हिंसाका दोष नहीं लगता। क्योंकि उनके आशयमें जीव हिंसाका परिणाम नहीं हैं। तो एक बार यह तो सम्भव हो सकता भावपूर्वक हिंसा भी सम्भव नहीं है, हिंसाका उनके भाव नहीं है, प्रमाद नहीं है, सावधानी है और कदाचित हो तो एक बार वहां हिंसा न लगे यह तो सम्भव है मगर मूर्छामें, परिग्रहमें, लालसामें, तृष्णामें निरन्तर हिंसा हो रही है। किसकी? उस आत्मा भगवानकी। जितने भी चारित्र हैं वे सब अहिंसाके आधार पर हैं।

सद्गृहस्थकी अन्तश्चर्याका एक साधारण परिचय—चारित्रमें जब पड़ता है गृहस्थ तो जो बहुत बहुत सोचता है कि हमको यह खाना है। इस तरहसे रसोई बनाना है, तो इसका आधार क्या है? अहिंसा। अब जो यह बढ़ा रखा है कि धोती अगर किवाड़में लग गई तो वह अछूत हो गई यह तो है एक तरहका ऊधम। अरे शुद्धि तो साधरणतया होनी चाहिए मगर उसही का एक विस्तार बना लिया जाय और एक सीमासे अधिक तो वह तो कोई पद्धति नहीं है, मगर किसी जीवका जरा भी घात हो, हिंसा हो तो वह पद्धति ठीक नहीं है जैन शासनमें। आहारशुद्धि हिंसारहित होनी चाहिए, तब इस आधारपर प्रतिमायें बनीं। इसकी पहली प्रतिमा है, इसके मायने है कि उसके भाव देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिके रहते हैं। सर्व जीवोंके प्रति मित्रता रहती है, किसी जीवको दुःख न हो, यह साहब पहली प्रतिमा वाले हैं, ऐसा कहनेसे क्या परिचय मिला कि इनके चित्तमें देव, शास्त्र गुरुके प्रति बहुत भक्ति है। ये किसी भी जीवको दुःख उत्पन्न होना नहीं चाहते, यह है उसका परिचय पहली प्रतिमा वालेका। ये गुणोंको, गुणियोंको, ज्ञानियोंको, तपस्वीजनोंको देखकर ऐसा खुश रहा करते हैं जैसे कोई गृहस्थ घरके बाल बच्चोंको देखकर खुश रहता है। यह हम आपको किसका परिचय दे रहे हैं? पहली प्रतिमा वालेका। और किसी दूसरे दुःखी जीवको देखकर इनका हृदय भर जाता है और ये ऊट पटांग, ऊल जलूल अटपट बातोंमें अपना उपयोग नहीं दिया करते हैं। यह है परिचय पहली प्रतिमा वालेका, पर यह परिचय कौन पाता है? परिचय यह जाना जाता कि इसकी पहली प्रतिमा है और यह ऐसा खाते हैं, ऐसा शुद्ध आहार बनाते हैं। यह परिचय तो चलेगा कहने सुननेमें पर आन्तरिक परिचयकी बात कोई नहीं कहता। तो जिसका भीतरी भाव विशुद्ध है उससे ही हिंसाका परिहार बनता है।

चैतन्यस्वरूपकी सुध होनेपर सही वृत्तिकी शक्यता—केवल कोई कहे कि मेरी अमुक प्रतिमा है। मुझे यों खाना, यों करना और इसमें किसीने बाधा दी तो झट उसका हाथ पकड़कर झकझोर देना, धक्का दे देना, ऐसी अगर उसकी वृत्ति है, क्या सूझता नहीं है, मैं शुद्ध होकर खाना बना रहा या मैं शुद्ध-शुद्ध धोती पहिनकर पूजाको जा रहा हूं, तूने क्यों छू लिया, क्या तू अंधा है, ऐसा व्यवहार अगर कोई करने लगे तो समझो कि उसको पर्यायबुद्धि है, उसका आत्मा गंदा है। मानलो छू लिया, अशुद्ध

हो गए तो प्रतिविम्बको नहीं छू सकते, हो सके तो दुबारा शुद्धि कर लो, न हो सके तो बैठे बैठे प्रभुका स्मरण कर लो पर भीतरमें कषाय जगना यह तो अपने आपको गंदा बना लेना है। किसका नाम धर्म है, किस धर्मका पालन किया जाना है। यह बात जब तक आत्माके चैतन्यस्वभावकी सुध न होगी तब तक चित्तमें नहीं रह सकती। प्रतिमावोंका वर्णन इस ग्रन्थमें खुद आयगा, पर सामान्यतया यह जानना कि जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती है वैसे ही वैसे अहिंसा बढ़ रही। हिंसा घट रही है, किसकी? अपनी भी और परकी भी। अन्दरमें कषाय जगे तो समझो कि नियमसे हिंसा हुई। दूसरे जीवोंको पीटनेसे मारनेसे सामान्य पाप लगा, क्योंकि भीतरमें कषाय जगी। यों ही पीठ पर हाथ मारनेके कारण हिंसाका पाप नहीं लगा किन्तु भीतरमें कोई कषायभाव जगा जिसके कारण यह प्रवृत्ति हुई, उस कषायसे हिंसा लगी। तब ही जैन शासनमें अहिंसाका स्वरूप बताया है रागादिक भावोंका उत्पन्न न होना अहिंसा है और रागादिक भावोंका होना हिंसा है। अब चारित्रमें बढ़ रहा वह गृहस्थ, भोगोपभोगके साधन और भी कम कर दिया। तब ही यह अष्टमी चतुर्दशीको बिल्कुल ही त्याग कर देता, मंदिरमें ही बैठकर धर्मध्यान करता, उस दिन व्यापारका भी काम बंद रखता, यह सब उसके चारित्रमें है। और भी बढ़ा तो वह कमायी न करेगा, जो है उसीमें अपना गुजारा करेगा। और मानलो सब धन खतम हो गया तो परिग्रहका त्याग कर देगा। ऐसी उमंग होती है ज्ञानी पुरुषकी।

अज्ञानहठरहित दृढ़ सदाचारकी ज्ञानप्रकाशमें संभवता—अज्ञानीके चित्तमें यह रहता है कि यदि ऐसा कर लिया तो मेरा क्या हाल होगा? अगर ५० हजार हैं तो उसे बैंकमें जमा करा दूंगा, उसके ब्याजमात्रसे अपना गुजारा करूंगा, चाहे अकेला है। वृद्ध है पर वह जीते जी दान पुण्यके कार्यमें खर्च नहीं कर सकता। वह सोचता कि यदि इस पूंजीमें से कुछ खर्च कर दिया। तो इस तरहसे धीरे-धीरे सब धन खतम हो जायगा धन न रहने पर फिर मेरा क्या हाल होगा? ऐसा सोचता है अज्ञानी। पर ज्ञानी पुरुष करता है वह भी यह कार्य, पर उसके इस प्रकारका हठ नहीं रहता। वह तो जानता है कि ऐसा हो तो वह भी ठीक, जैसा हो वह भी ठीक। वह चारित्र पालते हुए भी चारित्रको हठके कारण नहीं करता किन्तु उसका चारित्र सहज पलता है। देखिये यह बड़े रहस्यकी बात कही जा रही है। यह बात झट समझमें न आयगी। जैसे मैं मुनि हूं। मुझे देख भालकर चलना चाहिए, मुझे जीव रक्षा करना ही चाहिए, यह तो मेरा काम है। ऐसा भीतरमें हठ पूर्वक अगर वह समितियोंका पालन करता है तो समझो कि वह साधु अभी चारित्रका रहस्य नहीं जानता। देखो सुननेमें ऐसा लगता होगा कि इसमें अपराध क्या? तो अपराध यह है कि उसके पर्यायमें आत्मबुद्धि है तब हठ बनी है। अगर आत्माके स्वरूपमें आत्मबुद्धि हो तो कार्य वही करेगा मगर सारा उपयोग इस ओर न रहेगा। उसका उपयोग रहेगा आत्मामें? और चारित्र यह बनेगा। तो एक तो वह कि जिसका उपयोग आत्मापर नहीं है, बाहरी क्रियाकाण्डों पर ही है उसका तो कहलायगा हठ पूर्वक चारित्र और जिसका आत्मस्वरूप पर ध्यान है और हो रहा वहीका वही उसका कहलायगा सहज भावसे चारित्र। तो इस तरह चारित्रका वर्णन चरणानुयोगमें चलता है।

ज्ञानीको ज्ञानीकी चर्या जाननेकी उमंग—सम्यग्ज्ञान चार प्रकारके शास्त्रोंको बताता है और

उनसे विदित होता है। प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषोंके चरित्रका वर्णन है। जिसको धर्मसे प्रेम है उसको धर्मात्मासे सर्वाधिक प्रेम होता है और उसकी तुलना करें कुटुम्बी और मित्रजनोंसे। कुटुम्बीजन मित्रजनोंमें उतना प्रेम नहीं है धर्म प्रेमीका जितना कि धर्मात्मासे प्रेम होता है। इसका कारण है कि वह कुटुम्बीजनोंको और मित्रोंको तो एक गुजारा कमेटी जानता है इससे अधिक उसका प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे कुछ मददगार हैं क्या? हमारे दुःखमें, मरणमें, जन्ममें विकल्पमें सर्व जीव स्वतंत्र हैं, अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं। उनके उदयानुसार उनको सुख दुःख होता है। कुछ सम्बंध नहीं है फिर भी घरमें रहना पड़ रहा है, क्योंकि इतनी सामर्थ्य नहीं कि सर्व परित्याग करके रह सकें। तो गुजारेके लिए साधन है खाली मगर धर्म और धर्मात्माजन ये अपने परमार्थके साधक हैं, सच्चे सहायक हैं। तो जीवका एक धर्म ही शरण है। धर्म क्या? अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसी दृष्टि होना अनुभव होना, यह है धर्म। कोई धर्म करके देखे तो सही, तत्काल शान्ति है। यह भी नहीं है कि उसका फल एक दिन बाद मिले। हां पुण्यका फल तो मिलेगा सैंकड़ों वर्ष बाद मगर धर्म जिस क्षण करे उसी क्षण उसका फल मिलता है। भ्रम हट गया, कल्पनामें विकल्प हट गए सत्य बात मिल गई। आनन्द हो गया, तो यह धर्मसाधन जिसने किया ऐसे महापुरुषोंका जो बड़े अनुरागसे चरित्र सुनता है उसका पापरस खतम होता है पुण्यरस बढ़ता है। धर्मका रास्ता मिलता है।

करणानुयोग और चरणानुयोगके अनुसार चर्यामें ज्ञानीकी उमंग—दूसरा अनुयोग बताया करणानुयोगमें लोककी रचनाका चित्रण बताया गया है। जिसने सारे लोककी रचनाका ज्ञान किया उसको पाये हुए थोड़ेसे क्षेत्रमें ममत्व नहीं रहता। कालका परिचय कितना अनादि अनन्तकाल है कोई समयकी आदि है क्या? कोई बता सकता है क्या कि इस दिनसे समय शुरू हुआ? अनादि अनन्त और उस कालमें होने वाली बात। इसका जिन्हें परिचय है उनको इस १०-२०-५० वर्षके समागममें मोह नहीं रहता। जिसने गतियोंके परिभ्रमणका परिचय पाया है, कैसे कैसे जीव किन-किन गतियोंमें घूमते रहते हैं। वह अपने भाव निर्मल रखेगा और खोटे भावोंमें उसका चित्त नहीं रमता। तीसरा अनुयोग है चरणानुयोग। इसमें गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रका वर्णन है। कैसे इनका निर्दोष आचरण बने, कैसे उत्पन्न हों और वे दिन प्रतिदिन कैसे बढ़ते चले जायें, कैसी भावना रखें, कैसी दृष्टि रखें। कैसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करें जिससे अङ्गीकार किया हुआ चारित्र शुद्ध हो। बढ़ता चला जाय, जिसका वर्णन चरणानुयोगमें मिलेगा। और जो चारित्र धारण किया है उसकी रक्षा कैसे हो, कैसे निभायें, यह सब वर्णन चरणानुयोगमें है। मूल बात एक है, जिसको अपने आपके सत्त्वका, सहज स्वरूपका अनुभव बना—मैं यह हूं ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय, जिसको यह परिचयमें आया कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इस पुरुषार्थके करनेसे अर्थात् जैसे ज्ञानमें दुनिया भरकी चीजें आ रही हैं ये न आयें, यह ही ज्ञानस्वरूप आये तो ज्ञान ज्ञानको जान रहा है। हमें और कुछ नहीं जानना, इस ही ज्ञानको जानना है। सो ज्ञानमें जब ज्ञानका स्वरूप आता है और उस वक्त जो सहज आनन्द प्राप्त होता है यह कला जिसने पायी उसके लिए सब सुगम है। कैसे बोलना, कैसे उठना, कैसा व्यवहार करना उसके लिए सब सुगम और सही बनता है। तो चारित्रकी उत्पत्ति, चारित्रकी वृद्धि, चारित्रकी रक्षाके साधनोंका उपायोंका

चरणानुयोगमें वर्णन है। यह रत्नकरण्ड मुख्यतया श्रावकोंके लिए रचा है समन्तभद्राचार्यने करुणा करके। फिर भी जब चारित्रका कोई वर्णन करे तो सबसे पहले मुनिका चारित्र एक दो मिनटमें कह देना ही चाहिए। अधिक अगर न कह सके, प्रसंग अगर श्रावकोंका है तो थोड़ा कह दें ताकि यह दृष्टि रहे कि श्रावकका जो चारित्र है वह पूर्ण नहीं है। संतोषके लायक नहीं है, किन्तु सर्व परित्याग करके केवल आत्मामें ही रमण हो वह चारित्र है वास्तवमें। तो इस ग्रन्थमें मुनिके चारित्रके सम्बंधमें संकेत दे देकर श्रावकोंके चारित्रका वर्णन किया जायगा। अब द्रव्यानुयोगका स्वरूप कहते हैं।

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते॥ ४६॥

द्रव्यानुयोग में द्रव्योंके स्वतंत्र अस्तित्त्वका मुख्यपरिचयन—द्रव्यानुयोग नामका दीपक जीव अजीव तत्त्वका सही रूप दिखाता है, बंध मोक्ष इसका सही वर्णन करता है और भाव श्रुतज्ञानरूप प्रकाशको प्रकट करता है। द्रव्यानुयोगमें वस्तुका सही स्वरूप बताया गया है। जब आप एक-एक वस्तुको जान पायेंगे कि एक वस्तु इतनी होती है तब आपका सबका सही स्वरूप समझ पायेंगे। क्योंकि काम समूह करता है या एक करता है? एक-एक करता है तो उसका भी नाम धर दिया कि समूह काम करता है तो फिर अर्थक्रिया कहांसे निकली? समुदायमें से निकली। एक-एकमें से क्रिया नहीं निकली। तो सारे जगतका अगर स्वरूप जानना है तो केवल एक पदार्थका ही जानना होगा। एक पदार्थ कितना होता है? उतना जिसका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके। एकका दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता। आधा, पौना, पाव कोई वस्तु नहीं है। फिर आप कहेंगे कि कहते तो सब हैं यह आधा है, यह पौना है, यह पाव है। तो भाई उन कहने वालोंके दिमागमें समूह है और उस समूहमेंसे आधा कहते हैं। एकका आधा नहीं कह सकते। जैसे १०० पैसेका रुपया है तो कहते हैं कि आधा रुपया याने वे कहते हैं कि १०० पैसेके आधे। तो वहां एकका आधा नहीं किया, जो १०० पैसेका समूह है उसका आधा किया। एकका आधा न किया जा सकता है न किया जा सकेगा। चित्तमें जो समूह बसाया है उसका आधा बताया करते हैं। एक परमाणु है उसका आधा परमाणु भी हो सकता है क्या? उसका आधा जीव हो सकता है क्या? जो एक है उसका आधा नहीं हुआ करता। और एककी पहिचान यह है कि जो परिमणन हो वह जितने पूरेमें होना ही पड़े उसे एक कहते हैं। क्रोध हो तो पूरे आत्मामें, दुःख हो तो पूरे आत्मामें। कहीं यह नहीं है कि आधे आत्मामें सुख हो रहा है और आधेमें दुःख हो रहा है। अव्वल तो आधा है नहीं आत्माका, मगर प्रदेश विस्तारसे आधा कह रहे हैं। ऐसे एक-एक द्रव्य एक-एक जीव स्वतंत्र सत् है।

विकारी जीवके साथ कर्मबन्धनकी सिद्धि व कर्मकी पौद्लिकता—देखिये जितने नये-नये काम होते हैं। जितने विषम काम होते हैं—विषमका अर्थ है कभी कुछ कभी कुछ। ये विषमकाम उस एक द्रव्यमें क्या अपने आप होते हैं? हो सकता है क्या? किसी भी एक पदार्थमें अपने आप अपने ही कारणसे भिन्न-भिन्न कार्य नहीं हो सकते, यह पक्का नियम है। तो मुझ जीवमें कभी क्रोध, कभी

मान, कभी माया, कभी सुख, कभी दुःख, आप परखलो विषम काम हो रहे हैं कि नहीं। भगवानके विषम काम नहीं है। केवल ज्ञान, केवल ज्ञान, केवल ज्ञान वही अनन्तकाल तक चलेगा। यहां हम आपमें कितना विषम काम होते हैं रागद्वेष विकार। तो जो विकारभाव होते हैं वे तब हो पाते हैं जब उस पदार्थके साथ कोई दूसरा पदार्थ भी लगा हुआ हो। कोई पदार्थ अगर विकार कर रहा है, उल्टा चल रहा है तो नियमसे उसके साथ उपाधि लगी है तब यह उल्टा चल रहा। कोई उपाधि न लगी हो और जीवके भाव नाना प्रकारके चलते जायें यह कभी नहीं हो सकता। वैज्ञानिकोंसे पूछो, युक्तिसे पूछो, अनुमानसे पूछो, अगर किसी पदार्थमें नाना तरहके विकार जग रहे हैं समझना उसके साथ कोई दूसरी वस्तु उपाधि लगी है अन्यथा विकार नहीं हो सकता। पानी गरम हुआ है तो नियमसे उसको कोई दूसरा विरुद्ध संग मिला है तब गरम हुआ। तो अपनी बात सोचिये कि मुझमें विकार होते या नहीं होते। रागद्वेष चल रहे ना, विकार, विचार, विकल्प, चिन्ता ये सब चल रहे ना? तो यह निश्चित है कि मेरे साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है। उस उपाधिका नाम जैन शासनमें कर्म रखा गया है। अब नाम कुछ भी रख लो भाग्य, तकदीर आदि। कर्मके बारेमें अनेक लोग बात तो करते हैं पर वह कोई वस्तु है क्या? ऐसा नहीं दिखा पाते, केवल एक अंदाजा सा, कल्पना सी करते कि कोई एक रेखा होती है। कर्म क्या चीज है? तो मुखसे प्रायः सब लोग बोल जाते कर्म-कर्म, पर वह कर्म क्या वस्तु है, यह बात जैन शासनमें कही गई है। अत्यन्त सूक्ष्म मैटर, धूल पुद्गल जीवके साथ लगे हैं और वे लग कैसे जाते हैं? तो जो वे बारीक पुद्गल हैं धूल कर्मरज, इन दिखने वाले पुद्गलोंकी तरह पुद्गल हैं, जिसे हम कर्म कहते हैं, वे हैं सूक्ष्म और उनका कर्मत्वपरिणतिसे पहलेका सही नाम है कार्माणवर्गणा। वर्गणा कहते हैं परमाणुवोंके संगको। तो कार्माणजातिकी जो वर्गणायें लगी हैं जीवके साथ वे सब जगह ठसाठस भरी हैं। तो जीवके जब राग हो, विकार हो तो वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं और जीवके साथ बंध जाती हैं। कर्म वास्तविक वस्तु है, पौद्गलिक है, सूक्ष्म है। अगर कर्म साथ न होता तो जीवमें नाना विकार कैसे जगते?

जीवके विकारका निमित्त अन्वयव्यतिरेकी कर्मविपाक—आप कहेंगे कि विकार यों जगते हैं कि दुनियामें ये पदार्थ बहुत दिखते हैं तो जिस पदार्थका ख्याल होता है, जैसा निमित्त योग होता है, जैसा आश्रय मिलता है वैसे भाव बन जाते हैं। इसलिए तो प्रश्न है कि आपका उपयोग क्यों वहां गया? क्यों आपका वह आश्रय बना? तो आपका उपयोग बाहरी पदार्थोंमें जाता है यह तो फल है कार्य है मगर एक प्रेरणा मिली, एक क्षोभ हुआ, गड़बड़ाना हुआ उसका मूल निमित्त है कर्मका उदय। ये आसानीसे ज्ञानमें नहीं आ पाते, किन्तु उसकी घटना इस तरह है कि जैसा सिनेमामें पर्दे के सामने फिल्म चलाने वाला बैठता है फिल्म चलती है। जैसा फिल्म चलाता है वैसा ही चित्रण पर्दे पर आ जाता है, ऐसे ही जिस-जिस ढंका कर्म फिल्म चलता है। कर्मका उदय होता है वह चित्रण इस उपयोगमें ज्ञानमें आ जाता है और उस चित्रणके आते ही आत्मा धधकता है। बहकता है, अपनेको भूल जाता है और उस चित्रणको ही आत्मा मानने लगता है इसीको कहते हैं मिथ्यात्व और भ्रम। जहां अन्दरमें उस कर्मके चित्रणको माना कि यह मैं हूं तो उसकी सारी प्रक्रिया फिर बदल जाती है। विषयोंमें आसक्ति,

इष्ट अनिष्ट बुद्धि ये सब बातें आ जाती है। तो एक अनुमान प्रमाणसे निश्चित कर लीजिए कि मुझमें जब क्रोध, मान, माया, लोभादिक भिन्न-भिन्न तरहके विकार होते हैं तो विकारमें तो किसीको शक नहीं। सब जानते हैं कि मुझमें कषायोंके विकार चल रहे हैं। तो जब ये विकार मुझमें चल रहे हैं तो यह निर्णय करें कि इस जीवके साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है तब यह विकार जग रहा। जैसे अग्निका संयोग पाकर पानी गरम हुआ, रोटी सिकी, तो कोई उपाधि साथ है। ऐसे ही मेरेमें जब विकार चल रहे हैं तो कोई उपाधि साथ है और उसी उपाधिका नाम है कर्म। यह नहीं कि हमारा ज्ञान पुत्र मित्र आदिकमें गया इसलिए राग हुआ। पुत्र मित्र आदिकमें राग क्यों गया इसका भी तो कारण बतलावो। बस इसका कारण है कि चूंकि जीव है अमूर्त, तो उसके साथ कोई सूक्ष्म उपाधि लगी है जिसका उदय होनेपर यह नाटक हो रहा है।

कर्ममें प्रकृति स्थिति प्रदेश व अनुभागके विभागका एक दृष्टान्त—वे कर्म क्या हैं, कितने हैं, कितनी स्थिति है, उनमें क्या शक्ति है? उनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन जैन शासनमें पाया जाता है। जैसे भोजन किया, भोजन पेटमें गया। अब आप क्या करेंगे? जब तक थालीमें था तो आपने उसे तोड़ा, कौर बनाया, मुखमें डाला, चबाया, गुटक गए। अब आपका क्या वश उस भोजनमें जो पेटमें चला गया? उसे निकाल सकते क्या या उसे पेटके अन्दर अगल बगल कर सकते क्या? अब आपका काम खतम। अब अपने आप ही जठराग्निका निमित्त पाकर उस किए हुए भोजनमें (१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) पिण्ड और (४) शक्ति ये चार चीजें आ जाती हैं। प्रकृति कैसे आती कि अब भोजनका यह हिस्सा पसीना बनेगा, यह खून बनेगा, यह वीर्य बनेगा, यह हड्डी बन जायगा, यह मल बन जायगा, यह मूत्र बन जायगा, इस प्रकृतिको भीतरमें कौन करेगा? यह सब आटोमेटिक ढंगसे होगा। इसीको कहते निमित्त नैमित्तिक। अब जो इस ढंगकी जठराग्नि है, पाचन शक्ति है। जिस ढंगका देह है उसका फर्क होता है तो उस भोजनमें प्रकृति पड़ी है कि अमुक हिस्सा रस बनेगा। अमुक हिस्सा पसीना बनेगा, अमुक खून बनेगा··· यह उसमें प्रकृति पड़ गई। स्थिति जो खून रूप बन जायगी वह १०-२० वर्ष रहेगी। जो हड्डी रूप बनेगी वह ४०-५० वर्ष रहेगी। जो पसीना रूप बनेगी वह दो चार घंटे रहेगी। जो मूत्र बनेगी वह ४-६ घंटे रहेगी। जो मल बनेगा वह १०-१२ घंटे रहेगा··· यों उस भोजनके पिण्डमें जुदे-जुदे ढ़ंगकी जो स्थिति बनी उसमें आपने क्या किया? अब आपका क्या वश? बन रहा अपने आप, मगर उसमें जुदे-जुदे ढंगके विभाग पढ़ गए। और देखो यह ही बात कर्ममें पायी जाती। जो यहां हो रहा, जितना बड़ा पिण्ड होगा उसमें शक्ति न होगी, जितना छोटा पिण्ड होगा उसमें शक्ति अधिक होगी, यह भोजनकी बात कह रहे हैं। जैसे भोजनका हिस्सा वीर्य बना बहुत छोटा पिण्ड, मगर शक्ति सब धातुवोंसे अधिक है। खूनका हिस्सा अधिक बना मगर मलसे बहुत कम है। तो खूनमें वीर्यसे कर्म शक्ति है। मलसे अधिक शक्ति है और जो मल करते हैं उसमें पिण्ड तो होता बड़ा मगर ताकत कुछ नहीं। यह व्यवस्था किसने बनाया? सब ऑटोमेटिक ढंगसे यह व्यवस्था चल रही।

बंधते समय कर्माणवर्गणावोंमें प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभागका विभाजन—उक्त दृष्टान्तकी विधिकी तरह यह जीव कोई विकार परिणाम करता है तो इसने बस परिणामभर किया, इसके आगे

कुछ वश नहीं है। जैसे भोजन पेटमें गया अब आपका कुछ वश नहीं, ऐसे ही जीवने कषाय किया, बस अब आगे कुछ बात न करेगा यह। अपने आप ही इसके साथ लगी हुई कर्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जायेंगी। और उनमें प्रकृति पड़ जायगी कि इतना हिस्सा इसके ज्ञानको रोकनेका निमित्त होगा, इतना हिस्सा इनका सम्यक्त्व रोकनेका कारण बनेगा। इतने कर्म इसके क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायोंके निमित्त बनेंगे। उन कर्मोंमें स्थिति बन गई कि ये कर्मपुञ्ज जीवके साथ हजार सागर रहेंगे, करोड़सागर रहेंगे। सागर होता है अनगिनते वर्षोंका। पिण्ड भी बन गया कि इतने सागर प्रमाण रहेगा और शक्ति भी बन गई कि इसमें इतनी डिग्री फल देनेकी शक्ति रहेगी। यह प्रकृति, स्थिति, पिण्ड और शक्ति ये सब ऑटोमेटिक ढंसे स्वयं निर्णीत हो जाते हैं। फिर जब इसकी स्थिति पड़ी हुई है तो ये कर्म निकलते हैं परिणामसे तो कर्मके निकलनेके समयका दृश्य बड़ा भयानक होता है। जैसे कोई दुष्ट मानो घरमें आ गया, आपने उसको ठहरनेको जगह दे दी। जब तक वह ठहरा है तब तक तो वह नरमाईसे ठहरेगा और नरमाईसे तो ठहरा मगर भीतरमें वह गुब्बारा भरता रहेगा। और जब वह भीतरसे निकलेगा तो ऐसी घटना बनाकर निकलेगा कि आप पछतायेंगे। ऐसे ही दुष्ट कर्म आत्माके साथ बंध गए तो जब तक आत्मामें रह रहे हैं तब तक उनसे तकलीफ नहीं है मगर जब वे आत्मासे बाहर निकलते हैं मायने उदय होता, सूर्यका उदय मायने सूर्यका निकलना कर्मका उदय होना मायने कर्मका निकलना। जिस समयये कर्म निकलते हैं तो इनमें अनुभाग फूटता है, विकृत रूप बनता है और उसका अक्स पड़ता है उस समय यह जीव घबरा जाता है। ऐसे इस जीवके साथ कर्म हैं और उनके उदयके अनुसार संसारमें समागम मिलते।

भावोंको सतत विशुद्ध रखनेकी आवश्यकताका कारण—अनेत्योग मिलनेका मूल निमित्त कारण है अपने कमाये हुए पुण्य पाप कर्मका उदय। इस कारण मनुष्योंको सदा सावधान रहना चाहिए। अपने भाव कभी खोटे न हों। किसी दूसरेके दान, लाभ भोग उपभोग वीर्यमें विघ्न न डालें, दूसरेकी ज्ञान साधनामें उमंग बनाये, सर्व जीवोंके प्रति सुखकी कामना करें, जितना बन सके दूसरोंके सुख शान्तिमें काम आये। किसीके दुःखी होनेकी हमारी भावना न हो, हमारे भाव निर्मल रहें तो अपनी रक्षा है। और हमारे भाव खोटे होंगे तो हमारी बरबादी है। कोई यह न सोचे कि मैं इस जगह एकान्तमें हूं तो जो चाहे मनमाने पाप करूं, कौन देखता है। जब कोई देख ही नही रहा तो निन्दा कहांसे होगी। ··· अरे ये कार्माण वर्गणामें तो आपके साथ लगी हैं, कैसे ही एकान्तमें आप गए, जैसा विकार हुआ। जैसा भाव हुआ उस प्रकारके कर्मरूप बन जायगा। कठिन प्रसंग तो यह ही है जीवके साथ। तो इन सब विडम्बनाओंको दूर करनेका एकमात्र उपाय यह है कि आप आरामसे, समतासे, धीरतासे अपने आपके स्वरूपमें ज्ञानले जायें और जानें स्वरूपको कि यह मैं अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित ज्ञानस्वरूप परमात्म पदार्थ हूं। मैं स्वयं सहज यह हूं, इसमें कष्टका नाम नहीं। हमारे स्वरूपमें परका प्रवेश नहीं, हमारा स्वरूप अधूरा नहीं, यह मैं आत्मतत्त्व हूं। आप सब लोग मंगलतंत्रमें तीन बातें पढ़ते हैं—मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं। अतः निर्भार हूं आदि तो उनमें बड़ा रहस्य भरा है। और अपने अन्तः स्वरूपका दर्शन इसके मननके द्वारा होता है। अपने सहज स्वरूपको मान जायें कि मैं यह हूं फिर कष्टका कोई काम नहीं रहता।

॥ प्रथम भाग समाप्त ॥

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी श्रीमद् 'सहजानन्द' महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक ॥

१

मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहं रागवितान ॥

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान। अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आशवश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान ॥

३

सुख-दुख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुखकी खान ॥
निजको निज परको पर जान। फिर दुखका नहिं लेख निदान ॥

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम। विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुंचूँ निजधाम। आकुलताका फिर क्या काम ॥

५

होता स्वयं जगत परिणाम। मैं जगका करता क्या काम ॥ दूर हटो परकृत परिणाम। "सहजानन्द" रहूं अभिराम ॥